भारतीय

सा

हि

त्य

शा

स्त्र

गुरुवर

महामहोपाध्याय

साहित्याचार्य

पण्डित रामावतार शर्म्मा एम० ए०

की

पुण्य स्मृति में

सादर

समर्पित

वक्तव्य

[प्रथम संस्करण

आज हिन्दी के मर्मज्ञों के करकमल में 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का एक नवीन खण्ड अर्पित करते मुझे विशेष हर्ष हो रहा है। पूर्वखण्ड के प्रकाशन के लगभग तीन वर्ष बाद इस नूतन खण्ड के प्रकाशन का अवसर आया है। इस बीच में 'भारतीय साहित्यशास्त्र' का पूर्वप्रकाशित खण्ड विद्वानों के समादर का भाजन बना, अनेक विश्वविद्यालयों के एम० ए० परीक्षा का पाठ्यग्रन्थ बना तथा स्थानीय 'उत्तर प्रदेश' की सरकार की ओर से मान्य हिन्दी ग्रन्थ होने के नाते पुरस्कार पाने में भी समर्थ हुआ। मैं इस विषय में अनेक विद्वानों का आभार मानता हूँ।

प्रस्तुत खण्ड ग्रन्थ का आदिम खण्ड है। इसमें चार परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद में साहित्यशास्त्र के ऐतिहासिक विकास का पूर्ण निदर्शन किया गया है तथा मान्य आचार्यों के समय के निरूपण तथा उनके कार्यों का विवरण प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। इस परिच्छेद के परिशिष्ट-रूप में 'भामह का एक विशिष्ट अनुशीलन' जोड़ दिया गया है। यह अनुशीलन हमारे उस अँग्रेजी लेख का हिन्दी अनुवाद है जो भामह के काव्यालंकार के मूल संस्करण के साथ काशी (चौखम्भा संस्कृत सीरीज में) से प्रकाशित हो चुका है। इस लेख में निर्दिष्ट सिद्धान्त इतिहासज्ञों को सर्वथा मान्य हैं। भारत में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बाहर भी यूरोपीय विद्वानों ने इन्हें युक्तियुक्त माना है। जर्मन विद्वान् डा० नोबेल ने तथा इटालियन विद्वान् डा० तुशी ने अपने विभिन्न लेखों में इनकी प्रामाणिकता अंगीकृत की है। इसका हिन्दी अनुवाद हिन्दी के मान्य मासिक 'समालोचक' में धारावाहिक रूप में प्रकाशित हुआ था। उसी का संशोधित रूप इस परिशिष्ट का विषय है।

द्वितीय परिच्छेद में साहित्यशास्त्र के सैद्धान्तिक विकास का निदर्शन है। आलोचनाशास्त्र के अभ्युदय के साथ-साथ नवीन सम्प्रदायों का भी जन्म यहाँ हुआ। जो लोग भारतीय आलोचना शास्त्र को एकाकार प्रवाहित धारा मानते हैं वे तथ्य से नितान्त दूर हैं। साहित्यशास्त्र में जीवनी शक्ति थी। इसीलिए इसमें नये-नये सम्प्रदायों का उदय हुआ तथा साहित्य का अनुशीलन

एक नूतन दृष्टिकोण से होने लगा। आलोचना के इतिहास मे भारतीय साहित्य-शास्त्र एक भव्य विभूति है जिसकी प्रभा समय के आवरण से ढकती नही, प्रत्युत नये-नये रूप मे उन्मेष पा रही है।

तृतीय परिच्छेद—**कवि रहस्य**—मे कविविषयक सिद्धान्तो का निर्धारण है। अलंकारशास्त्र विज्ञान के साथ ही साथ कला भी है, सिद्धान्त और व्यवहार का अनुपम सम्मिलन है। काव्यकला के व्यवहारपक्ष का निरूपण इस अध्याय की विशेषता है।

चतुर्थ परिच्छेद—**काव्यरहस्य**—मे काव्यविषयक नाना समस्याऐं सुलझाई गई है। काव्य के रूप, प्रयोजन तथा लक्ष्य आदि महनीय प्रश्नों का उत्तर भारतीय पद्धति से देने का यहाँ प्रयास किया गया है। पाश्चात्य आलोचना मे जो विषय विशेष महत्त्वशाली समझे जाते हैं, उनका यहाँ उभय पद्धतियो को ध्यान मे रखकर मार्मिक विवेचन किया गया है। कला मे प्रेरणा कहाँ से आती है? काव्य मे प्रतिभा का उपयोग कितना है? काव्य का क्षेत्र कितना विशाल है? काव्य मे बाह्य प्रकृति का किंरूप चित्रण अपेक्षित होता है? काव्य मे प्रेम की भावना किस प्रकार अभिव्यक्त की गई है? आदि महत्त्वपूर्ण समस्याओ का मैने समाधान उदार दृष्टि से प्राचीन आचार्यों के मतो का अनुगमन करते हुए किया है। मैने काव्य के मौलिक तथ्यों को विशाल दृष्टि रखकर समझाया है और यह दिखलाया है कि हमारे प्राचीन आलोचक आलोचना के मर्म से भलीभाँति परिचित थे। उनके तथ्यों का समर्थन पाश्चात्य मनीषी भी अपनी दृष्टि से आज करने लगे हैं।

मैने अपनी विवेचन पद्धति को तुलनात्मक बनाने का यथेष्ट उद्योग किया है। पाश्चात्य आलोचकों के मतो का निर्देश पूर्वखण्ड की अपेक्षा इसमे कही अधिक है। अपने कथन की पुष्टि मे मैने उन लेखकों के ग्रन्थों के भी पर्याप्त उद्धरण स्थान स्थान पर दिये हैं। इन अँग्रेजी उद्धरणों का भावानुवाद अवश्यमेव दे दिया गया है। इस प्रकार मेरी दृष्टि मे यह ग्रन्थ भारतीय आलोचना को व्यवस्था की सुदृढ नींव पर रखने का श्लाघनीय प्रयास यथाशक्ति कर रहा है।

अन्त मे मै उन ग्रन्थकारो का बड़ा आभार मानता हूँ जिनके ग्रन्थों से स्थान स्थान पर सहायता ली गई है। मै अपने अनुज डाक्टर कृष्णदेव उपाध्याय एम० ए०, पी एच० डी०, प्राध्यापक काशी-नरेश डिगरी कालेज ज्ञानपुर को आशीर्वाद देता हूँ जिनकी 'निर्झर लेखनी' ने इस ग्रन्थ के एक विशाल भाग को अल्पकाल में ही लिपिबद्ध किया था।

इस खण्ड के प्रकाशन के साथ हमारी योजना का आधा भाग आज सफल हो रहा है। अभी इसके दो खण्ड अवशिष्ट हैं। अगला खण्ड रस—ध्वनिवाला खण्ड होगा जो हमारी दृष्टि में इस वाङ्मय-मन्दिर का कलशस्थानीय होगा। विश्वास है कि भगवान् विश्वनाथ के अनुग्रह से यह खण्ड भी निकट भविष्य में कभी प्रकाशित हो सकेगा; तथास्तु।

व्योम्नीव नीरदभरः सरसीव वीचिव्यूहः सहस्रमहसीव सुधांशुधाम।
यस्मिन्निदं जगदुदेति च लीयते च तच्छाम्भवं भवतु वैभवमृद्धये नः॥

हरिप्रबोधिनी एकादशी
सं० २००७
२०–११–५०
काशी।

बलदेव उपाध्याय

वक्तव्य

[द्वितीय संस्करण]

आज भारतीय साहित्यशास्त्र (प्रथम खण्ड) के द्वितीय संस्करण को पाठकों के सामने प्रस्तुत करते समय मुझे विशेष आह्लाद हो रहा है। यह पुस्तक कई वर्षों से दुर्लभ हो गई थी जिससे छात्रो को विशेष असुविधा हो रही थी। कई कारणों से इससे पूर्व इसका प्रकाशन न हो सका, इसका मुझे हार्दिक दुःख है।

इस नये संस्करण मे मूल पुस्तक का स्थान-स्थान पर परिबृंहण किया गया है तथा संभावित त्रुटियों की भी मार्जना की गई है। हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि मे आलोचकों ने इस ग्रन्थ को उपादेय बतलाया है। हिन्दी आलोचना की गतिविधि के जानने वाले अनेक आलोचको का तो यहाँ तक कहना है कि गत दशक में संस्कृत आलोचना के प्रति हिन्दी साहित्यज्ञों की गाढ़ श्रद्धा जागरित करने मे तथा तदनुकूल संस्कृत के आलोचना ग्रन्थों के हिन्दी मे व्याख्यात्मक विवरण तथा अनुवाद प्रस्तुत करने मे भारतीय साहित्यशास्त्र के इन दोनो भागो का विशेष हाथ है। यह भी मेरे लिए हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ से स्फूर्ति ग्रहण कर इसमे प्रदर्शित तथा व्याख्यात तथ्यो का विवरण तथा अनुशीलन हिन्दी के विद्वानो ने अपने भिन्न-भिन्न ग्रन्थो मे बड़ी जागरूकता से प्रस्तुत किया है। मुझे इस बात का दुःख है कि इस अनुशीलन के प्रतिश्रुत दो खण्ड अभी तक तैयार न हो सके। रस और ध्वनि के विषय मे जो पाठक मेरा अभिमत जानना चाहते है, वे मेरे **'संस्कृत-आलोचना'** (परिबृंहित संस्करण, हिन्दी समिति, शिक्षा विभाग, सचिवालय लखनऊ से १९६३ मे प्रकाशित) को देखने का कष्ट करे।

'नन्दकिशोर एण्ड सन्स' के उत्साही संचालक श्री कैलासनाथ भार्गव (बी. काम) को इस संस्करण को प्रकाश मे लाने का श्रेय है जिन्होने अनेक झंझटो के रहने पर भी इस ग्रन्थ को बडे प्रेम, उत्साह तथा अध्यवसाय से प्रकाशित किया है। वे इस कारण हमारे आशीर्वाद के भाजन हैं।

वाराणसी
बसन्त पंचमी
सं० २०२०
१९।१।६४

बलदेव उपाध्याय

विषय सूची

प्रथम परिच्छेद १-१३६

साहित्यशास्त्र का ऐतिहासिक विकास

परिशिष्ट

भामह—एक अध्ययन

(१३७–१८०)

द्वितीय परिच्छेद

(१८१–२२८)

साहित्यशास्त्र का सैद्धान्तिक विकास

तृतीय परिच्छेद

कवि-रहस्य

साहित्य शास्त्र
का
ऐतिहासिक विकास

भारतवर्ष का यह सुन्दर देश सदा से प्रकृति नटी का रमणीय रंगस्थल बना हुआ है। प्रकृति-देवी ने अपने कर-कमलों से सजाकर इसे शोभा का आगार तथा सुषमा का निकेतन बनाया है। इसका बाह्य रूप जितना अभिराम है, आन्तर रूप उतना ही आभामय है। इसका बाहरी रूप कितना सुन्दर है—उत्तर में हिम से आच्छादित हिमकिरीटी हिमालय है, जिसकी शुभ्र शिखर-श्रेणी सौन्दर्य का मूर्तिमान् अवतार है। दक्षिण में नीलआभामय नीलाम्बुधि जिसकी चपल लहरियाँ इसके चरण-युगल को धोकर निरन्तर शोभा का विस्तार करती हैं। पश्चिम में अरब का प्रभामण्डित अर्णव और पूरब में श्यामल बंगाल की खाडी। मध्य देश में बहती हैं गंगा-यमुना की विमल धाराएँ। इस बाह्य रूप के समान ही इसका अभ्यन्तर भी सुन्दर तथा अभिराम है। इसे ललित कला तथा कमनीय कविता की जन्मभूमि मानना सर्वथा उचित है। अत्यन्त प्राचीन काल में कोमल कविता का उद्गम इसी भारत-भूतल पर सम्पन्न हुआ।

नामकरण

आलोचनाशास्त्र की उत्पत्ति इस देश में अपेक्षाकृत प्राचीन समय में हुई तथा उसका विकास अनेक शताब्दियों के साहित्यिक प्रयास का परिणाम है। आलोचनाशास्त्र का प्राचीन तथा लोकप्रिय अभिधान है—**अलंकारशास्त्र**। साहित्यशास्त्र भी इसी का अभिधान है, परन्तु कालक्रम से इसकी उत्पत्ति मध्य-युगीन तथा अवान्तरकालीन है। 'अलंकारशास्त्र' नामकरण उस युग की स्मृति बनाये हुए है जब अलंकार का तत्त्व काव्यमयी अभिव्यंजना के लिए सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता था। अलंकार-युग हमारे शास्त्र के आद्य आचार्य भामह से भी प्राचीनतर है तथा वह उद्भट, वामन तथा रुद्रट के समय तक विद्यमान था। इन आचार्यों के ग्रन्थों के नाम से इसका पूरा परिचय मिलता है। भामह के ग्रन्थ का नाम है—काव्यालंकार। इसके टीकाकार उद्भट के ग्रन्थ का अभिधान है—काव्यालंकार-सार-संग्रह। वामन तथा रुद्रट के ग्रन्थों का नाम भी इसी शैली पर 'काव्यालंकार' है। दण्डी के ग्रन्थ का नाम 'काव्या-दर्श' अलंकार के तत्त्व पर आश्रित नहीं है; फिर भी, दण्डी 'अलंकार' को काव्य में आवश्यक उपकरण मानने में इन सब आचार्यों में अप्रतिम हैं। साहित्यशास्त्र के आरम्भयुग में 'अलंकार' ही कविता का सबसे अधिक महत्त्व-शाली उपकरण माना जाता था। अलंकारयुग इस शास्त्र के इतिहास में अनेक

दृष्टियो से महत्त्व रखता है। कारण यह है कि अलंकार की गहरी मीमासा करने से एक ओर 'वक्रोक्ति' का सिद्धान्त उद्भूत हुआ, और दूसरी ओर दीपक, पर्यायोक्त, तुल्ययोगिता आदि अलंकारों के द्वारा काव्य मे प्रतीयमान अर्थ से सम्पन्न 'ध्वनि' के सिद्धान्त का भी उद्गम हुआ। 'वक्रोक्ति' तो अलंकार-युग की ही देन है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसी लिए इसके अप्रतिम आचार्य कुन्तक ने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवित' को 'काव्यालंकार' के नाम से अभिहित किया है[1]। कुमारस्वामी का यह कथन बिल्कुल ठीक है कि रस, ध्वनि, गुण आदि विषयों के प्रतिपादक होने पर भी प्राधान्य-दृष्टि से ही इस शास्त्र का 'अलंकार-शास्त्र' अभिधान युक्तियुक्त है[2]। इस आलोचनाशास्त्र मे विवेच्य विषय तो अनेक हैं—रस, ध्वनि, गुण, दोष आदि, परन्तु प्राधान्य है अलकार का ही। और 'प्राधान्यतो व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय से प्रधानता के ही हेतु यह 'अलंकारशास्त्र' के नाम से प्रख्यात है।

वामन ने 'अलकार' शब्द के अभिप्राय को और भी महत्त्वपूर्ण तथा उपादेय बना डाला। उनकी दृष्टि मे अलंकार केवल शब्द तथा अर्थ की बाह्य शोभा का वर्धक भूषणमात्र न होकर काव्य का मूलभूत तत्त्व है। वामन के लिए अलंकार सौन्दर्य का ही प्रतीक है—**सौन्दर्यमलंकारः** (वामन—काव्यालकार १।१।२)। काव्य मे जितने शोभाधायक तत्त्व हैं—दोषों का अभाव तथा गुणों का सद्भाव—जिनके द्वारा काव्य की विशिष्टता अन्य प्रकार के शब्दार्थो से सिद्ध होती है उन सबका सामान्य अभिधान है—अलंकार। वामन के हाथ मे आकर इस शब्द ने अत्यन्त महत्त्व तथा गौरव प्राप्त कर लिया और यह सौन्दर्यशास्त्र का प्रतिनिधि माना जाने लगा।

सौन्दर्यशास्त्र

हमारे आलोचकों की सूक्ष्म गवेषणा काव्य के तत्त्वों मे 'सौन्दर्य' पर जाकर टिकी थी। वे भली भाँति जानते थे कि काव्य मे सौन्दर्य ही मौलिक तत्त्व है जिसके अभाव मे न तो अलकार मे अलंकारत्व रहता है और न ध्वनि मे

१—काव्यस्यायमलंकारः कोऽप्यपूर्वो विधीयते।

—व० जी० १।२

२—यद्यपि रसालंकाराद्यनेकविषयमिदं शास्त्रं तथापि च्छत्रिन्यायेन अलंकारशास्त्रमुच्यते।

—प्रतापरुद्रीय की टीका—रत्नापण, पृ० ३

ध्वनित्व । दण्डी के शब्दों मे काव्य मे शोभा करनेवाले धर्मों का ही नाम अलंकार है ।

काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते ।

—काव्यादर्श २।१

यदि अलंकार मे शोभाधायक गुण का अभाव हो, तो यह 'भूषण' न होकर निःसन्देह 'दूषण' बन जायगा । अभिनवगुप्त ने अलंकार के लिए चारुत्व के अतिशय को नितान्त आवश्यक माना है[१] । चारुत्व के अतिशय से विरहित अलंकार की काव्य में कोई भी उपादेयता नहीं होती । जो सोने की अँगूठी अँगुलियों की शोभा बढ़ाने में समर्थ नहीं होती, वह सर्वथा त्याज्य होती है, स्पृहणीय नहीं । अतः अलंकार का सर्वमान्य गुण है चारुत्व, सौन्दर्य ।

भोजराज का भी यही मत है । उन्होंने दण्डी के मत का अनुसरण कर 'काव्यशोभाकरत्व' को अलंकार का सामान्य लक्षण माना है । और 'धूमोऽयमग्नेः' (अग्नि के कारण यह धूम है)—वाक्य किसी प्रकार के सौन्दर्य के अभाव में किसी भी अलंकार का उदाहरण नहीं बन सकता; ऐसा वे मानते हैं । अप्पय दीक्षित ने अपनी 'चित्रमीमासा' में इसी बात पर विशेष जोर देते हुए लिखा है-

सर्वोऽपि ह्यलंकारः कविसमयप्रसिद्ध्यनुरोधेन हृद्यतया काव्यशोभाकर एव अलंकारतां भजते । अतः 'गोसदृशः गवयः' इति नोपमा ।

—चित्रमीमांसा पृ० ६

'गाय के सदृश गवय होता है' इस वाक्य में सादृश्य होने पर भी उपमा अलंकार का इसी लिए अभाव है कि यहाँ किसी प्रकार का सौन्दर्य नहीं है । अलंकार के लिए यह सामान्य नियम है कि वह हृदयावर्जक होता हुआ काव्य की शोभा का विधायक ही होता है ।

अलङ्कार के लिए ही इस आवश्यक उपकरण की अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत ध्वनि के लिए भी । किसी काव्य में प्रतीयमान अर्थ का सद्भाव ही 'ध्वनि' के लिए पर्याप्त नहीं होता, प्रत्युत उसे सुन्दर भी होना ही चाहिए । असुन्दर प्रतीयमान अर्थ से 'ध्वनि' का उदय कभी नहीं होता । अभिनवगुप्त का इस विषय में स्पष्ट कथन है कि ध्वनन व्यापार होने पर भी गुण अलंकार

१—तथा जातीयानामिति । चारुत्वातिशयवतामित्यर्थः । सुलक्षिता इति यत् किलैषां तद्विनिर्मुक्तं रूपं न तत् काव्येऽभ्यर्थनीयम् । उपमा हि 'यथा गौस्तथा गवय' इति......एवमन्यत् । न चैवमादि काव्योपयोगीति ।

—लोचन, पृ० २१०

के औचित्य से सम्पन्न, सुन्दर शब्दार्थ शरीरवाले वाक्य को काव्य की पदवी दी जाती है[1]। इसलिए ध्वनन व्यापार होने पर 'ध्वनि' सत्ता सर्वत्र मानी नहीं जा सकती, क्योंकि ध्वनि के लिए केवल ध्वनन व्यापार की ही अपेक्षा नहीं रहती, प्रत्युत उसके सौन्दर्य-मण्डित होने की भी नितान्त आवश्यकता रहती है। अभिनवगुप्त की उक्ति नितान्त स्पष्ट है —

तेन सर्वत्रापि न ध्वननसद्भावेऽपि तथा व्यवहारः। (लोचन, पृ० २८)

इसलिए अभिनवगुप्त का यह परिनिष्ठित मत है—सौन्दर्य ही काव्य की, कला की, आत्मा है—

यच्चोक्तम्—'चारुत्वप्रतीतिः तर्हि काव्यस्य आत्मा' इति तद् अंगीकुर्म एव। नास्ति खल्वयं विवाद इति। (लोचन, पृ० ३३)

इस अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भारतीय आलोचकों की दृष्टि काव्य के बाह्य उपकरणों को हटाकर अन्तस्तल तक पहुँची हुई थी। वे केवल बाह्य अलंकार को काव्य का भूषण मानने के लिए तब तक उद्यत नहीं होते थे जब तक उसमे 'सौन्दर्य' की सत्ता नहीं होती थी। यही सौन्दर्य भिन्न-भिन्न अभिधानों से प्रसिद्ध था। चमत्कार, विच्छित्ति, वैचित्र्य तथा वक्रता इसी सौन्दर्य-तत्त्व की भिन्न-भिन्न संज्ञाएँ हैं। भारतीय आलोचनाशास्त्र के अन्तरंग से अपरिचित ही विद्वान् यह दोषारोपण किया करते हैं कि यह केवल बहिरंग की समीक्षा को ही अपना सर्वस्व मानता है तथा अलंकार जैसे बाहरी अस्थायी शोभातत्त्व को ही काव्य का मुख्य आधायक मानता है। परन्तु तथ्य इससे नितान्त भिन्न है। यह आरोप एकदम मिथ्या तथा निराधार है। यह शास्त्र काव्य की आत्मा के समीक्षण में ही अपनी चरितार्थता मानता है। फलतः यहाँ बहिरंग के साथ अन्तरंग की, शरीर के साथ आत्मा की, पूरी समीक्षा भारतीय आलोचनाशास्त्र का मुख्य तात्पर्य है।

सौन्दर्य को अत्यन्त महत्त्वशाली मानने पर भी हमारा शास्त्र 'सौन्दर्यशास्त्र' के नाम से अभिहित होते-होते बच गया। ऐसा होने पर यह पाश्चात्यों के 'एस्थेटिक्स' का पर्यायवाची शास्त्र बन गया होता। परन्तु सौन्दर्यशास्त्र का क्षेत्र साहित्यशास्त्र के क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक तथा विशाल है। साहित्यशास्त्र तो केवल शब्द के माध्यम द्वारा निर्मित कला की ही द्योतना करता है, परन्तु सौन्दर्यशास्त्र ललित कलाओं (जैसे भास्कर्य, चित्र तथा संगीत आदि) में

१—गुणालंकारौचित्यसुन्दरशब्दार्थशरीरस्य सति ध्वननात्मनि आत्मनि काव्यरूपताव्यवहारः। —लोचन, पृ० १७

निर्दिष्ट चारुत्व को भी अपने क्षेत्र के अंतर्गत करता है। अतः दोनों का पार्थक्य मानना न्यायसंगत है।

साहित्यशास्त्र

मध्ययुग में हमारे शास्त्र के लिए 'साहित्यशास्त्र' का अभिधान पडा। सबसे प्रथम राजशेखर ने (१० शतक) इस शब्द का प्रयोग हमारे शास्त्र के लिए किया है—**पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीयः** (काव्यमीमांसा, पृ० ४)। साहित्य शब्द की उत्पत्ति के मूल में शब्द तथा अर्थ के परस्पर वैयाकरण सम्बन्ध की घटना जागरूक है। इस शब्द की उत्पत्ति भामहकृत काव्यलक्षण से हुई। भामह का लक्षण है—**शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्** (काव्यालंकार १।१६) और साहित्य की व्युत्पत्ति है—**सहितयोः शब्दार्थयो भावः साहित्यम्**। आनन्दवर्धन के समय मे इस शब्द की महत्ता अंगीकृत हो चली थी, परन्तु भोज और कुन्तक ने इस शब्द के वास्तव महत्त्वपूर्ण तात्पर्य का प्रकाशन कर इसकी महिमा का स्फुटीकरण किया। कुन्तक 'साहित्य' के अभिप्राय-प्रकाशक हमारे मान्य आलोचक हैं। उनके पश्चात् इस शब्द का गौरव बढ़ने लगा और रुय्यक ने 'साहित्यमीमांसा' तथा कविराज विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' लिखकर इस अभिधान को और भी लोकप्रिय बनाया। विश्वनाथ कविराज के ग्रन्थ के समधिक लोकप्रिय होने से यह नाम अधिकतर व्यापक हुआ। इस प्रकार 'अलंकारशास्त्र' के समान प्राचीन न होने पर भी यह नाम उतना ही लोकप्रिय तथा व्यापक है।

क्रियाकल्प

इन अभिधानों की अपेक्षा इस शास्त्र का एक प्राचीनतम नाम है—**क्रियाकल्प**, जिसका उल्लेख चौसठ कलाओं की गणना में कामशास्त्र मे किया गया है। **'काव्यक्रिया'** के अनन्तर दो सहायक विद्याओं के नाम आते हैं--(१) अभिधानकोश, (२) छन्दोज्ञान। तदनन्तर **क्रियाकल्प** का नाम कलाओं की गणना मे आता है। यह विद्या भी काव्य-विद्या से ही सम्बद्ध होनी चाहिये। और है भी यह वैसी ही। **क्रियाकल्प** का पूरा नाम है **काव्यक्रियाकल्प** अर्थात् काव्यक्रिया की विधि या आलोचनाशास्त्र। इस अर्थ मे इस शब्द का प्रयोग साहित्य-ग्रंथों मे मिलता भी है। ललितविस्तर में कलाओं की गणना में 'क्रियाकल्प' का उल्लेख है। कामशास्त्र की टीका जयमंगला के अनुसार इसका अर्थ है—**क्रियाकल्प इति काव्यकरणविधिः काव्यालंकार इत्यर्थः** (अलंकारशास्त्र)। दण्डी इस नाम से परिचित प्रतीत होते हैं। उनका कथन है—

वाचां विचित्रमार्गाणां निबबन्धुः क्रियाविधिम् (काव्यादर्श १।९)

यहाँ 'क्रियाविधि' क्रियाकल्प का ही नामान्तर है और दण्डी के टीकाकारो ने इस शब्द की व्याख्या इसी अर्थ में की है। रामायण के उत्तरकाण्ड में अनेक कलाओं और विद्याओं के साथ इस शब्द का भी प्रयोग उपलब्ध होता है। ९४वें अध्याय मे (श्लोक ४–१०) वाल्मीकि ने लवकुश के गायन को सुननेवाले विद्वानों की चर्चा की है जो राम की सभा मे उपस्थित थे। उनमें पण्डित, नैगम, पौराणिक, शब्दविद् (वैयाकरण), स्वरलक्षणज्ञ, गान्धर्व, कलामात्रविभागज्ञ, पदाक्षरसमासज्ञ, छन्दसि परिनिष्ठित लोग उपस्थित थे। इनके साथ उपस्थित थे—

क्रियाकल्पविदश्चैव तथा काव्यविदो जनान् (श्लोक ७)।

व्याकरण तथा छन्दःशास्त्र के साथ अलंकारशास्त्र का ही निर्देश युक्ततर प्रतीत होता है। इस श्लोक में दो प्रकार के व्यक्तियों का निर्देश किया गया है। एक तो वे हैं जो काव्य को जानते हैं सामान्य रूप से (काव्यविदः) और दूसरे वे हैं जो काव्य की समीक्षा के वेत्ता हैं। दोनों मे यह सूक्ष्म अन्तर अभीष्ट है। एक तो सामान्य रूप से काव्य को समझते-बूझते हैं और दूसरे काव्य के अन्तरंग को पहचाननेवाले हैं (क्रिया-कल्पविदः)। इस व्याख्या से इस शास्त्र के नाम तथा गुण की गरिमा का पता भली भाँति चलता है।

अतः दण्डी, वात्स्यायन तथा रामायण के साक्ष्य पर यह निस्सन्देह प्रतीत होता है कि हमारे आलोचना-शास्त्र का प्राचीनतम नाम 'क्रियाकल्प' था और यह सुप्रसिद्ध चतुःषष्टि कलाओं मे अन्यतम कला मानी जाती थी।

शास्त्र का प्रारम्भ

भारतीय साहित्य मे अलंकारशास्त्र एक महनीय तथा सुप्रतिष्ठित शास्त्र है जिसके सिद्धान्त का प्रतिपादन विक्रम के आरम्भकाल से लेकर आज तक—लगभग २००० वर्ष के सुदीर्घ काल मे—होता चला आ रहा है। परन्तु इस शास्त्र का आरम्भ किस काल मे हुआ? यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। राजशेखर ने काव्यमीमासा के आरम्भ मे इस शास्त्र के उदय की चर्चा की है। यह वर्णन किसी भी अलकार-ग्रन्थ मे अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु अब तक अज्ञात होने के कारण इस वर्णन की हम अवहेलना भी नहीं कर सकते। बहुत संभव है कि राजशेखर किसी प्राचीन परम्परा का अनुसरण कर रहे हों जो या तो सर्वथा उच्छिन्न हो गयी है या बहुत ही कम प्रसिद्ध है। राजशेखर के अनुसार काव्यमीमासा का प्रथम उपदेश भगवान् श्रीकृष्ण ने ब्रह्मा,

विष्णु आदि अपने ६४ शिष्यों को दिया। स्वयंभू ब्रह्मा ने भी अपने मानसजन्मा विद्यार्थियों को इस शास्त्र का उपदेश दिया। इन्हीं में सबसे वन्दनीय सर्वशास्त्रवेत्ता थे सरस्वती के पुत्र सारस्वतेय काव्यपुरुष। प्रजापति ने प्रजाओं की हितकामना से प्रेरित होकर इन्हीं काव्यपुरुष को काव्य-विद्या की प्रवर्तना के लिए नियुक्त किया। उन्होंने इस विद्या को अठारह अधिकरणों मे लिखकर अठारह शिष्यों को अलग-अलग पढ़ाया। इन शिष्यों ने गुरु के द्वारा प्रदत्त विद्या के बहुल प्रचार के लिए काव्य के अठारहों अङ्गों पर अठारह ग्रन्थों का निर्माण किया[1]। सहस्राक्ष ने कविरहस्य का, उक्तिगर्भ ने औक्तिक का, सुवर्णनाभ ने रीतिनिर्णय का, प्रचेतायन ने अनुप्रास का, चित्राङ्गद ने यमक और चित्र का, शेष ने शब्दश्लेष का, पुलस्त्य ने वास्तव का, औपकायन ने औपम्य का, पाराशर ने अतिशय का, उतथ्य ने अर्थश्लेष का, कुबेर ने उभयालंकारिक का, कामदेव ने विनोद का, भरत ने रूपक-निरूपण का, नन्दिकेश्वर ने रसाधिकारिक का, धिषण ने दोषाधिकरण का, उपमन्यु ने गुणोपादानिक का तथा कुचमार ने औपनिषदिक का स्वतन्त्र शास्त्रों में वर्णन किया।

इन आचार्यों में कतिपय आचार्य वात्स्यायन के 'कामसूत्र' मे भी वर्णित हैं। सुवर्णनाभ और कुचमार (अथवा कुचुमार) कामशास्त्र मे उपजीव्य आचार्यों के रूप में उल्लिखित किये गये हैं (कामसूत्र १।१।१३, १७)। नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत को रूपक का शास्त्रकर्ता मानना उचित ही है। नन्दिकेश्वर का रसविषयक ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ है। परन्तु कामशास्त्र, संगीत तथा अभिनय के विशेषज्ञ के रूप मे उनका उल्लेख मिलता है। उदाहरणार्थ पंचसायक तथा रतिरहस्य मे नन्दीश्वर कामशास्त्र के एक आचार्य माने गये हैं। अभिनय-विषयक इनका ग्रन्थ अभिनय-दर्पण के नाम से प्रसिद्ध है[2]। संगीतरत्नाकर मे शार्ङ्गदेव नन्दिकेश्वर को सगीत का आचार्य मानते हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त राजशेखर के द्वारा उल्लिखित ग्रन्थकारों का परिचय नहीं मिलता।

१—राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ० १

२—'अभिनय-दर्पण' संस्कृत मूल तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ कलकत्ता संस्कृत सीरीज में (नं० ५, १९३४ ई०) प्रकाशित हुआ है। इसके पहले डा० कुमारस्वामी ने इसका केवल अंग्रेजी अनुवाद 'मिरर आफ जेश्चर' के नाम से प्रकाशित किया है।

वेदों में अलंकार

वैदिक साहित्य मे अलकार शास्त्र का कहीं भी निर्देश नहीं मिलता और न वेद के षडङ्गों मे ही अलकार शास्त्र की गणना है। परन्तु इस शास्त्र के मूलभूत अलंकार—उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति आदि—के अत्यन्त सुन्दर उदाहरण हमे वैदिक संहिताओं और उपनिषदों म उपलब्ध होते हैं। अलंकारों मे उपमा तो अत्यन्त प्राचीन है। इसका सम्बन्ध कविता के प्रथम आविर्भाव से ही है। आर्यो की प्राचीनतम कविता ऋग्वेद म उपनिबद्ध है। बहुत से अलकारो के उदाहरण ऋग्वेद की ऋचाओं मे मिलते हैं। उषा-विषयक इस ऋचा में चार उपमाएँ एक साथ दी गई हैं—

> अभ्रातेव पुंस एति प्रतीची, गर्तारुगिव सनये धनानाम्।
> जायेव पत्य उशती सुवासा, उषा हस्रेव नि रिणीते अप्स ॥
>
> —ऋ० वे० १।१२४।७

अतिशयोक्ति अलंकार का यह उदाहरण देखिये -

> द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परि षस्वजाते ।
> तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति ॥
>
> —ऋ० वे० १।१६४।२०

रूपकालंकार का सुन्दर प्रयोग कठोपनिषद् के इस सुप्रसिद्ध मन्त्र मे है—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।
> बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
>
> —कठोपनिषद् १।३।३

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि वैदिक मन्त्रो मे अलंकारों की सत्ता स्पष्टतः विद्यमान है। यही क्यों ? उपमा शब्द भी ऋग्वेद में (५।३४।९,१।३१।१५) उपलब्ध होता है जिसका सायण ने अर्थ किया है—उपमान या दृष्टान्त। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इतने प्राचीन काल मे उपमा का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया था। यह केवल सामान्य निर्देश है।

निरुक्त में 'उपमा'

उपमा के वर्णन तथा विभाजन का निश्चित रूप से विवेचन निघण्टु तथा निरुक्त में मिलता है। भाषा के सामान्य विवेचन के अनन्तर उसे शोभित करने-वाले अलंकारों की ओर लेखकों की दृष्टि जाना स्वाभाविक है। निरुक्त में अलंकार शब्द पारिभाषिक अर्थ मे उपलब्ध नहीं होता, परन्तु यास्क ने

'अलङ्करिष्णु' शब्द का प्रयोग अलंकृत करने के शीलवाले व्यक्ति के अर्थ में अवश्य किया है। यह शब्द इसी अर्थ मे शतपथ ब्राह्मण (३।५।१।३६) तथा छान्दोग्य उपनिषद् (८।८।५) मे भी उपलब्ध होता है। परन्तु निघण्टु में वैदिक उपमा के द्योतक बारह निपातों—अव्ययों का उल्लेख किया गया है। इसी प्रसंग मे यास्क ने उपमा के अनेक भेद तथा गार्ग्य नामक वैयाकरण द्वारा उपमा के लक्षण का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया है। गार्ग्य निरुक्तकार यास्क से भी प्राचीन आचार्य थे। उनका उपमा का लक्षण इस प्रकार है[1]—उपमा यत् अतत् तत् सदृशमिति—अर्थात् उपमा वहाँ होती है जहाँ एक वस्तु दूसरी वस्तु से भिन्न होते हुए भी उसी के सदृश हो। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या करते हुए स्पष्ट लिखा है कि उपमा वहाँ होती है जहाँ स्वरूपतः भिन्न होते हुए भी कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के साथ गुण की समानता के कारण सदृश मानी जाय[2]। गार्ग्य का यह भी उल्लेख है कि उपमान को उपमेय की अपेक्षा गुणों मे श्रेष्ठ तथा अधिक होना चाहिए। इसके विपरीत भी उदाहरण दिये गये हैं जहाँ हीन गुणवाले उपमान से अधिक गुणवाले उपमेय की तुलना की गई है और इस प्रसंग मे ऋग्वेद से उदाहरण भी दिये गये हैं। गार्ग्य के इस उपमा-लक्षण को देखकर किसी भी आलोचक को मम्मट के सुप्रसिद्ध उपमा-लक्षण का स्मरण आये बिना नहीं रहेगा[3]। इससे स्पष्ट है कि निरुक्तकार से (६०० ईसा-पूर्व) पूर्व ही उपमा की शास्त्रीय कल्पना हो चुकी थी।

यास्क ने पाँच प्रकार का उपमा का वर्णन अपने ग्रन्थ मे किया है[4]। उपमा के द्योतक निपात इव, यथा, न, चित्, नु और आ हैं। इन वाचक पदों के प्रयोग होने पर यास्क के अनुसार 'कर्मोपमा' होती है। 'भ्राजन्तो अग्नयो यथा' (ऋ० वे० १।५०।३) ='अग्नि के समान चमकते हुए' यह कर्मोपमा का उदाहरण है।

भूतोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित स्वयं उपमान बन जाता है। रूपोपमा वहाँ होती है जहाँ उपमित उपमान के साथ स्वरूप के विषय में समता

१—अथात् उपमा यत् अतत् तद् सदृशमिति गार्ग्यः। तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वा प्रख्यातं वोपमिमीते, अथापि कनीयसा ज्यायांसम्—निरुक्त ३।१३

२—एवं एतत् तत्स्वरूपेण गुणेन गुणसामान्यात् उपमीयते इत्येव गार्ग्याचार्यो मन्यते। दुर्गाचार्य—निरुक्त की टीका। ३।१३

३—साधर्म्यं उपमा भेदे—काव्यप्रकाश १०।१

४—यास्क—निरुक्त ३।१३।१८

रखता है। सिद्धोपमा में उपमान स्वतः सिद्ध रहता है और एक विशेष गुण या कर्म के द्वारा अन्य वस्तुओं से बढकर रहता है। वत् प्रत्यद के जोडने पर यह उपमा निष्पन्न होती है—'ब्राह्मणवत्', 'वृषलवत्'। अन्तिम भेद **अर्थोपमा** है जिसका दूसरा नाम **लुप्तोपमा** है। यह पिछले आलंकारिको का रूपकालंकार है। इस उपमा के उदाहरण हैं—'सिंहः पुरुषः' तथा 'काकः पुरुषः'। यास्क के अनुसार सिंह तथा व्याघ्र शब्द पूजा के अर्थ मे और श्वा तथा काक निन्दा के अर्थ मे प्रयुक्त होते हैं। इस विभाजन से यह प्रतीत होता है कि यास्क के समय मे अलकार का शास्त्रीय विवेचन आरम्भ हो चुका था।

पाणिनि और उपमा

पाणिनि के (५०० ईसा-पूर्व) समय मे उपमा की यह शास्त्रीय कल्पना सर्वत्र स्वीकृत की गयी थी। इसी लिए पाणिनि की अष्टाध्यायी मे उपमा, उपमान, उपमित तथा सामान्य जैसे अलंकार शास्त्र के पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किये गये हैं[१]। पूर्ण उपमा के चार अंग होते हैं—उपमान, उपमेय, सादृश्यवाचक तथा साधारण धर्म। और इन चारों का स्पष्ट निर्देश पाणिनि ने अपने व्याकरण शास्त्र मे किया है। इतना ही नही, कृत्, तद्धित, समासान्त प्रत्ययों, समास के विधान तथा स्वर के ऊपर सादृश्य के कारण जो व्यापक प्रभाव पड़ता है उसका पाणिनि के सूत्रों मे स्पष्ट उल्लेख है। कात्यायन इस विषय मे पाणिनि के स्पष्ट अनुयायी हैं। शान्तनव नामक आचार्य ने अपने फिट् सूत्रों मे (२।१६, ४।१८) स्वरविधान पर सादृश्य का जो प्रभाव पडता है उसका स्पष्ट वर्णन किया है। पतञ्जलि ने पाणिनि के द्वारा प्रयुक्त 'उपमान' शब्द की व्याख्या महाभाष्य मे (२।१।५५) की है। उनका कहना है कि **मान** वह वस्तु है जो किसी अज्ञात वस्तु के निर्धारण के लिए प्रयुक्त की जाती है। 'उपमान' मान के समान होता है और वह किसी वस्तु का अत्यन्त रूप से नहीं, प्रत्युत सामान्य रूप से निर्देश करता है; जैसे—'गौरिव गवयः' गाय के समान नीलगाय होती है[२]। काव्यपद्धति से 'गौरिव गवयः' चमत्कारविहीन

१—तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम् २।३।७२
उपमानानि सामान्यवचनैः २।१।५५
उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे। २।१।५६

२—मानं हि नाम अनिर्ज्ञातार्थमुपादीयते अनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यत् नात्यन्ताय मिमीते तद् उपमानं गौरिव गवय इति। पाणिनि २।१।५५ पर महाभाष्य।

होने के कारण उपमालकार का उदाहरण नहीं हो सकता, तथापि शास्त्रीय तथा-ऐतिहासिक दृष्टि से पतञ्जलि का यह उपमा-निरूपण महत्त्व रखता है।

व्याकरण का अलंकारशास्त्र पर प्रभाव

अलंकारशास्त्र के उदय का इतिहास जानने के लिए उसपर व्याकरण-शास्त्र के व्यापक प्रभाव को समझ लेना भी आवश्यक है। उपमा का श्रौती तथा आर्थी रूप मे विभाजन पाणिनि के सूत्रों पर ही अवलम्बित है। जहाँ यथा, इव, वा आदि पदों के द्वारा साधर्म्य की प्रतीति होती है वहाँ आर्थी उपमा होती है। पाणिनि के 'तत्र तस्येव' सूत्र के अनुसार 'इव' के अर्थ को द्योतित करने के लिए जब वत् प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है तब श्रौती उपमा होती है, यथा—'मथुरावत् पाटलिपुत्रे प्रासादाः' अर्थात् मथुरा के समान पाटलिपुत्र में महल हैं। यहाँ 'मथुरावत्' पद में 'वत्' प्रत्यय सप्तमी विभक्ति से युक्त होने पर जोड़ा गया है। यहाँ 'मथुरावत्' का अर्थ है 'मथुरायामिव'। इसी प्रकार 'चैत्रवत् गोविन्दस्य गावः' इस वाक्य मे 'वत्' प्रत्यय षष्ठी विभक्ति से युक्त पद में जोडा गया है, चैत्रवत्—चैत्रस्य इव। परन्तु जहाँ क्रिया के साथ सादृश्य का बोध कराना अभीष्ट होता है वहाँ भी 'वति' प्रत्यय जोडा जाता है और वहाँ आर्थी उपमा होती है। 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियोऽधीते' इस वाक्य में आर्थी उपमा है और यह 'तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' सूत्र के अनुसार है। इसी प्रकार समासगा श्रौती उपमा 'इव' पद के प्रयोग करने पर 'इवेन सह नित्यसमासो विभक्त्यलोपश्च' वार्तिक के अनुसार होती है। इसी तरह कर्म तथा आधार मे 'क्यप्' प्रत्यय के प्रयोग होने पर तथा 'क्यङ्' प्रत्यय के विधान करने पर कई प्रकार की लुप्तोपमाएँ उत्पन्न होती हैं। उपमा का यह समग्र विभाजन पाणिनि के सूत्रों के आधार पर ही किया गया है। इस विभाजन को सर्वप्रथम आचार्य उद्भट ने किया था। अतः यह अर्वाचीन आलंकारिकों के प्रयत्न का फल नहीं है, वरन् अलंकारशास्त्र के आदिम युग से सम्बन्ध रखता है।

उपमा के विषय मे ही व्याकरण का प्रभाव नहीं लक्षित होता, प्रत्युत 'संकेत' के विषय मे भी। संकेत-ग्रह के विषय मे भी आलंकारिक वैयाकरणों का ही अनुयायी है[1]। नैयायिक लोग जातिविशिष्ट व्यक्ति मे संकेत मानते हैं। मीमांसक केवल जाति में ही शब्दों का संकेत मानता है और जाति के द्वारा वह व्यक्ति का आक्षेप स्वीकार करता है। परन्तु आलंकारिक वैयाकरणों के

१— संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा।

—काव्यप्रकाश २।४

'चतुष्टयी हि शब्दाना प्रवृत्तिः' सिद्धान्त का अनुगमन करता है। पतञ्जलि के अनुसार शब्द का संकेत जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्द में हुआ करता है और आलंकारिकों का भी यही मत है। इतना ही नहीं, ध्वनि तथा व्यञ्जना के मौलिक सिद्धान्त भी वैयाकरणों के तथ्यों पर ही आश्रित हैं। ध्वनि की कल्पना स्फोट के ऊपर पूर्णतः अवलम्बित है, यह मम्मट ने स्पष्टतः स्वीकार किया है। वैयाकरण स्फोट को अभिव्यञ्जित करनेवाले केवल शब्द के लिए ध्वनि शब्द का प्रयोग करता है। परन्तु आलंकारिक ध्वनि के अर्थ को विस्तृत कर व्यंजना में समर्थ शब्द तथा अर्थ, दोनों के लिए 'ध्वनि' का प्रयोग करता है—

"बुधैः वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः। तन्मतानुसारिभिः अन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यवाचकस्य शब्दार्थयुगलस्य।"

—काव्यप्रकाश, उद्योग १

भारतीय दार्शनिकों के मतों का खडन कर आलकारिको ने 'व्यञ्जना' नामक जिस नवीन शब्दशक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा के लिए अश्रान्त परिश्रम किया है उस व्यापार की उद्भावना वैयाकरणों ने पहिले ही की थी[1]। स्फोट की सिद्धि के लिए व्यञ्जना की कल्पना व्याकरणशास्त्र मे की गई है। इसी कल्पना के आधार पर आलकारिको ने भी व्यञ्जना का अपना भव्य प्रासाद खडा किया है। अतः आनन्दवर्धन ने व्याकरण को अलंकार का उपजीव्य स्पष्टतः स्वीकार किया है—

"प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः। व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्।"

— ध्वन्यालोक, उद्योत १

इस उपर्युक्त वर्णन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन सिद्धान्तों को आधार मानकर अलंकारशास्त्र विकसित होनेवाला था वे विक्रम से बहुत पूर्व व्याकरण के आचार्यों द्वारा उद्भावित किये गये थे। अलंकारशास्त्र के प्रारम्भिक इतिहास की खोज करते समय उपर्युक्त बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। इससे यह ज्ञात होता है कि अलकारशास्त्र का प्रारम्भ भी उतना ही प्राचीन है, जितना वैयाकरणों के द्वारा इस शास्त्र के कतिपय सिद्धान्तों का निर्देश है।

वाल्मीकि—प्रथम आलोचक

इस प्रसङ्ग मे संस्कृत भाषा मे निबद्ध प्राचीन काव्यों का अनुशीलन भी अनेक अंश मे उपयोगी सिद्ध हो सकता है। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि

१—पतञ्जलि—महाभाष्य।

संस्कृत साहित्य के आदिकवि ही नहीं थे प्रत्युत आदिम आलोचक भी थे। कारयित्री प्रतिभा के विलास से कविता होती है और भावयित्री प्रतिभा का परिणाम भावकता होती है। वाल्मीकि में यह दोनों प्रकार की प्रतिभा पूर्ण रूप से विद्यमान थी। व्याध के बाण से बिंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करनेवाली क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर जिस ऋषि के मुँह से—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

यह श्लोक बरबस निकल पड़ता है वह निःसन्देह सच्चा कवि है। जो व्यक्ति इसकी व्याख्या करते समय --

समाक्षरैश्चतुर्भिर्यः पादैर्गीतो महर्षिणा।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

—बालकाण्ड २।४०

लिखकर 'शोक' का 'श्लोक' के साथ समीकरण करता है वह निःसन्देह एक महनीय भावक है, आलोचक है। कविता का मूल स्रोत भावाभिव्यक्ति है। कवि के हृदय में उद्वेलित होनेवाले भावों को शब्दों के द्वारा प्रकट करनेवाली ललित वस्तु का ही नाम 'कविता' है। जब तक कवि का हृदय भावों के द्वारा पूर्ण होकर उन भावों को अपने श्रोताओं तक पहुँचाने के लिए छलक नहीं उठता; अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्द का कमनीय कलेवर जब तक भाव धारण नहीं करता तब तक 'कविता' का जन्म नहीं होता। इसका व्याख्याता एक महनीय आलोचक है। महाकवि कालिदास[1] तथा आनन्दवर्धन[2] ने शोक तथा श्लोक का समीकरण करनेवाले वाल्मीकि को महान् कवि होने के अतिरिक्त महान् आलोचक भी माना है। तथ्य यह है कि संस्कृत कविता के जन्म के साथ ही साथ संस्कृत आलोचना-शास्त्र का भी जन्म हुआ। जिस प्रकार वाल्मीकि-रामायण को उपजीव्य मानकर पिछले महाकवियों ने महाकाव्य लिखने की स्फूर्ति प्राप्त की, उसी प्रकार आलंकारिकों ने भी काव्य-स्वरूप का संकेत इसी आदिम महाकाव्य से ग्रहण किया।

१—तामभ्यगच्छद् रुदितानुसारी, कविः कुशेध्माहरणाय यातः।
निषादविद्धाण्डजदर्शनोत्थः, श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः॥
रघुवंश १४।७०

२—काव्यस्यात्मा स एवार्थः, तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः, शोकः श्लोकत्वमागतः॥
ध्वन्यालोक १।८

वाल्मीकि-रामायण के आधार पर प्रवर्तित प्रथम महाकाव्य के रचयिता महर्षि पाणिनि ही हैं। इनका 'जाम्बवतीविजय' नामक महाकाव्य यद्यपि आजकल उपलब्ध नहीं होता तथापि सूक्ति-संग्रहों तथा अलंकार-ग्रन्थों के उल्लेख से उसका सरस तथा चमत्कारपूर्ण होना निःसन्देह सिद्ध होता है। यह महाकाव्य कम से कम १८ सर्गों मे लिखा गया था[१]। पतञ्जलि ने वररुचि के द्वारा निर्मित 'वाररुचं काव्यम्' का उल्लेख अपने भाष्य मे किया है। कात्यायन ने अपने वार्तिक मे आख्यायिका नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है, जिसकी व्याख्या करते समय पतंजलि ने 'वासवदत्ता', 'सुमनोत्तरा' और 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का उदाहरणरूप मे निर्देश किया है। आजकल उपलब्ध न होने पर भी प्राचीन काल मे इनकी सत्ता अवश्य विद्यमान थी। पतंजलि ने अन्य बहुत से श्लोकों को अपने ग्रन्थ मे उद्धृत किया है। बौद्ध कवि अश्वघोष ने दो महाकाव्यों—सौन्दरनन्द और बुद्धचरित की रचना की। कविता का आश्रय लेकर अपने धर्म का संदेश जनता के हृदय तक पहुँचाना ही उनका महनीय उद्देश्य था। इस युग के कवियों मे हरिषेण तथा वत्सभट्टि का नामोल्लेख गौरव की वस्तु है। हरिषेण ने ३५० ई० के आस-पास समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन गद्य-पद्य-मिश्रित फड़कती भाषा मे किया है। यह शिलालेख चम्पूकाव्य शैली का उत्कृष्ट नमूना है। परन्तु इससे दो सौ वर्ष पहले ७२ शक संवत् (१५० ई०) मे निबद्ध रुद्रदामन का गिरनार पर्वत पर उट्टंकित शिलालेख भाषा के सौन्दर्य तथा प्रवाह के कारण गद्य-काव्य का आनन्द देता है। इस शिलालेख मे रुद्रदामन को यौधेयों का उत्सादक, महती विद्याओं का पारगामी, स्फुट, लघु, मधुर, चित्र, कान्त तथा उदार एवं अलंकारमंडित गद्य-पद्य की रचना मे प्रवीण बतलाया है—

"सर्वक्षत्राविष्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाभिधेयानां यौधेयानां प्रसह्योत्सादकेन······शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्तविपुलकीर्तिना ·····स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दसमयोदारालंकृतगद्यपद्य···स्वयमधिगतमहाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्या-स्वयम्वरानेकमाल्यप्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना।"

—रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख।

इस शिलालेख से स्पष्ट है कि द्वितीय शतक मे काव्य के गद्य और पद्य—दो भेद स्वीकृत किये गये थे। अलंकार-ग्रन्थों मे उल्लिखित बहुत से गुणो की कल्पना की जा चुकी थी। इस लेख में उल्लिखित स्फुट, मधुर, कान्त तथा उदार काव्य

१—बलदेव उपाध्याय : संस्कृत-साहित्य का इतिहास (षष्ठ सं०) पृष्ठ १३६।

'काव्यादर्श' में निर्दिष्ट प्रसाद, माधुर्य, कान्ति तथा उदारता नामक गुणों का क्रमशः प्रतिनिधि प्रतीत होता है। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट है कि इस काल के पहले—विक्रम के आविर्भाव के कम से कम तीन सौ वर्ष पहले—आलोचना की शास्त्रीय व्यवस्था हो चुकी थी तथा अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ भी बन चुके थे जो आजकल उपलब्ध नहीं होते। यदि ऐसा शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत नहीं होता तो काव्य का गद्य-पद्य में विभाजन, महाकाव्य की कल्पना, आख्यायिका का निर्माण और काव्य के विभिन्न गुणों का निर्देश भला कैसे सम्भव था?

नाट्य की प्राचीनता

ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्य का शास्त्रीय निरूपण अलंकार के निरूपण से कहीं प्राचीन है। पाणिनि के समय मे ही नटों की शिक्षा, दीक्षा तथा अभिनय से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, क्योंकि इन्होंने अपने सूत्रों मे **शिलालि** तथा **कृशाश्व** के द्वारा रचित नटसूत्रो का उल्लेख किया है[1]। पतञ्जलि ने महाभाष्य में **'कंसवध'** तथा **'बलिबंधन'** नामक नाटकों के अभिनय का विस्तृत उल्लेख किया है[2]। भरत का नाट्यशास्त्र तो सुप्रसिद्ध ही है, जिसमे अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध चार अलकार, दश गुण एवं दश दोषों का वर्णन सोलहवे अध्याय में किया गया है। इस प्रकार अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के सहायक शास्त्र के रूप मे पहले नाट्य-ग्रन्थों में वर्णित किया जाता था। सर्वप्रथम भामह को इसे स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में वर्णित करने का श्रेय प्राप्त है। इन्होंने कुछ ऐसे अलंकारशास्त्र के सिद्धान्तों का उल्लेख किया है जो पहले से ही स्वीकृत थे। **मेधावीरुद्र** नामक आचार्य के नाम का तो इन्होंने स्पष्टतः ही उल्लेख किया है। काव्यादर्श की हृदयंगमा टीका के अनुसार काव्यादर्श की रचना के पूर्व **'काश्यप'** तथा **'वररुचि'** एवं अन्य आचार्यों ने लक्षण ग्रन्थों की रचना की थी। काव्यादर्श की ही एक दूसरी 'श्रुतानुपालिनी' टीका काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी को दण्डी से पूर्ववर्ती अलंकार का आचार्य मानती है। सिंहली भाषा मे निबद्ध 'सिय-बस-लकर' नामक अलंकार-ग्रन्थ में भी आचार्य काश्यप का उल्लेख

१—पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः।
कर्मन्द-कृशाश्वादिनिः।

२—ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्षं कंसं घातयन्ति, प्रत्यक्षञ्च बलिं बन्धयन्तीति।

—महाभाष्य भाग २ पृ० ३४, ३६ (कीलहार्न का संस्करण)

मिलता है। काश्यप, ब्रह्मदत्त तथा नन्दिस्वामी दण्डी तथा भामह के पूर्ववर्ती निःसन्देह प्राचीन आलंकारिक थे परन्तु इनके ग्रन्थों तथा मतों से हम आज नितान्त अपरिचित हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र (विक्रमपूर्व ३००) मे राज्यशासनवाले प्रकरण मे अर्थक्रम परिपूर्णता, माधुर्य, औदार्य तथा स्पष्टत्व नामक गुणों का उल्लेख किया गया है[१]। कौटिल्य ने राजकीय शासनों (राजाज्ञा) को इन उपर्युक्त गुणों से युक्त होना लिखा है। ये अलकार-ग्रन्थों में वर्णित काव्यगुणों के निश्चित प्रकार हैं। इन सब उल्लेखो से यही तात्पर्य निकलता है कि अलकारशास्त्र का उदय भरत से बहुत पहले हो चुका था। भामह तथा दण्डी मे जो अलकारशास्त्र की सामग्री उपलब्ध होती है वह कालक्रम से भरत से अर्वाचीन भले ही हो, परन्तु सिद्धान्त-दृष्टि से भरत से अत्यन्त प्राचीन है। इस प्रकार अलकारशास्त्र का प्रारम्भ विक्रम संवत् से अनेक शताब्दी पूर्व हुआ, इस सिद्धान्त के मानने मे विप्रतिपत्ति लक्षित नहीं होती।

सर्वांग सम्पूर्ण काव्य का विचार प्रथम नाटक के रूप मे था और इसलिए प्रथमतः अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत आता था। पर साहित्य की उन्नति होने पर, काव्य नाटक के अन्तर्हित नहीं रह सका। उसके लिए स्वतन्त्र स्थान दिया गया और समय पाकर उसमे नाटक का अन्तर्भाव होने लगा। इसलिए सस्कृत अलकारशास्त्र का इतिहास सुविधा के लिए तीन अवस्थाओं मे अध्ययन किया जा सकता है। पहिली तो वह अवस्था है जब अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र के अन्तर्गत था। दूसरी वह जब दोनों पर स्वतन्त्र विचार होता था और तीसरी वह अवस्था जब नाट्यशास्त्र अलकारशास्त्र के अन्तर्गत समझा जाने लगा। पहिली अवस्था मे वैसे ही साधारण विचार थे जैसा प्रारम्भ में एक नयी विद्या के लिए हो सकते हैं। तीसरी अवस्था मे विचार-गाम्भीर्य आ गया और प्रायः साहित्यशास्त्र अपनी पूर्णता को प्राप्त हो गया।

अब कालक्रम के अनुसार इस शास्त्र के प्रधान आचार्यों का ऐतिहासिक विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

१—कौटिल्य—अर्थशास्त्राधिकरण।

१—भरत

भरत का नाट्यशास्त्र दो-तीन स्थानों मे प्रकाशित हुआ है। प्रथम संस्करण काव्यमाला, बम्बई से सन् १८९४ ई० में प्रथमतः प्रकाशित हुआ था। इसका दूसरा संस्करण काशी संस्कृत सीरीज काशी से सन् १९३५ ई० मे निकला है। यह संस्करण काव्यमाला वाले संस्करण की अपेक्षा कहीं अधिक विशुद्ध तथा विश्वसनीय है। अभिनवभारती के साथ यह ग्रन्थ गायकवाड ओरियण्टल सीरीज (न० ३६, नं० ६८) बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है। यह सटीक संस्करण तीन खण्डों में प्रकाशित होने पर अभी तक अधूरा ही है। संगीत वाले अध्यायों की व्याख्या प्रकाशित होने पर ही यह समग्र तथा पूर्ण हो सकेगा। अभिनवभारती की केवल एक ही प्रति उपलब्ध हुई है और वह इतनी अशुद्ध और अधूरी है कि उसे ठीक-ठीक समझना दुरूह व्यापार है।

यह समस्त ग्रन्थ ३६ अध्यायों मे विभक्त है और लगभग ५ पाँच हजार श्लोक हैं जो अधिकतर अनुष्टुप् छन्दों मे ही निबद्ध हैं। कहीं-कहीं विशेषतः अध्याय ६, ७ तथा २७ मे कुछ गद्य अंश भी हैं। कहीं-कहीं आर्या छन्द भी मिलता है। छठे अध्याय मे रस-निरूपण के अवसर पर कतिपय सूत्र तथा उनके गद्यात्मक व्याख्यान (भाष्य) भी उपलब्ध होते हैं। भरत ने अपनी कारिकाओं की पुष्टि में **अनुवंश्य** श्लोकों को उद्धृत किया है[1]। अभिनवगुप्त के अनुसार शिष्य-परम्परा से आनेवाले श्लोक 'अनुवश्य' कहे जाते हैं[2]। इनकी रचना भरत से भी किसी प्राचीन काल मे की गई थी। प्रमाणभूत होने के कारण ही भरत ने अपने सिद्धान्त की पुष्टि में इनका उद्धरण किया है। वर्तमान नाट्यशास्त्र किसी एक समय की अथवा किसी एक लेखक की रचना नहीं है। इस ग्रन्थ के गाढ़ अनुशीलन से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसका निर्माण अनेक लेखकों द्वारा अनेक शताब्दियों के दीर्घ व्यापार का परिणत फल है। आजकल नाट्यशास्त्र का जो रूप दिखाई पड़ता है वह अनेक शताब्दियों में क्रमशः विकसित हुआ है। नाट्यशास्त्र मे तीन स्तर दीख पड़ते हैं—(१) सूत्र,

---

१. भरत का नाट्यशास्त्र पृ० ७४-७६।

२. ता एता ह्यार्या एकप्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः। मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः।

—अभिनवभारती अध्याय ६

(२) भाष्य, (३) श्लोक या कारिका। इन तीनों के उदाहरण हमे इसमें देखने को मिलते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि मूलग्रन्थ सूत्रात्मक था जिसका रूप ६ठे और ७वे अध्याय में आज भी देखने को मिलता है। तदनन्तर भाष्य की रचना हुई जिसमें भरत के सूत्रों का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट समझाया गया है। तीसरा तथा अन्तिम स्तर कारिकाओं का है जिनमे नाटकीय विषयों का बड़ा ही विपुल तथा विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है।

विषय-विवेचन

नाट्यशास्त्र के अध्यायों की सख्या मे भी अन्तर मिलता है। उत्तरी भारत के पाठ्यानुसार उसमे ३७ अध्याय हैं, परन्तु दक्षिण भारतीय तथा प्राचीनतर पाठ्यानुसार उसमें ३६ अध्याय ही हैं और यही मत ही उचित प्रतीत होता है। अभिनव ने भरतसूत्र को संख्या मे ३६ बतलाया है[1]—यहाँ सूत्र से अभिप्राय भरत के अध्यायों से ही प्रतीत होता है। नाट्यशास्त्र मे उतने ही अध्याय हैं जितने शैवमतानुसार विश्व में तत्त्व होते हैं। काव्यमाला संस्करण मे ३७ अध्याय हैं, काशी सस्करण मे ३६ और अभिनवगुप्त की मान्यता पर ३६ अध्यायों मे ग्रन्थ का विभाजन प्राचीनतर तथा युक्ततर है।

नाट्यशास्त्र का विषय-विवेचन बड़ा ही विपुल तथा व्यापक है। नाम के अनुसार इसका मुख्य विषय है नाट्य का विस्तृत विवेचन, परन्तु साथ ही साथ छन्दःशास्त्र, अलंकारशास्त्र, संगीतशास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रों का भी प्रथम विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। इसी लिए प्राचीन ललितकलाओ का इसे विश्वकोश मानना ही न्याय्य है। इसके अध्यायों का विषय-क्रम इस प्रकार है—(१) अध्याय मे नाट्य की उत्पत्ति, (२) अध्याय मे नाट्यशाला (प्रेक्षागृह), (३) अ० मे रंगदेवता का पूजन, (४) अ० मे ताण्डव सम्बन्धी १०८ करणों का तथा ३२ अंगहारो का वर्णन, (५) अ० मे पूर्वरंग का विस्तृत विधान, (६) अ० मे रस तथा (७) अ० मे भावों का व्यापक विवरण। अष्टम अध्याय से अभिनय का विस्तृत वर्णन आरम्भ होता है—(८) अध्याय मे उपागों द्वारा अभिनय का वर्णन, (९) अ० मे हस्ताभिनय, (१०) अ० मे शरीराभिनय, (११) अ० मे चारी (भौम तथा आकाश) का विधान, (१२) अ० मे

१—षट्त्रिंशकात्मक जगत् गगनावभास-
संविन्मरीचिचयचुम्बितविश्वशोभम्।
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्
वन्दे शिवं तदर्थविवेकि धाम।
—अभिनवभारती पृ० १, श्लोक २

मण्डल (आकाशगामी तथा भौम) का विधान, (१३) अ० में रसानुकूल गति-प्रचार, (१४) अ० में प्रवृत्तधर्म की व्यञ्जना, (१५) अ० मे छन्दोविभाग, (१६) अ० में वृत्तों का सोदाहरण लक्षण, (१७) अ० में वागभिनय जिसमे लक्षण, अलंकार, काव्यदोष तथा काव्यगुण का वर्णन है (अलंकारशास्त्र), (१८) अ० मे भाषाओं का भेद तथा अभिनय मे प्रयोग, (१९) अ० मे काकुस्वर व्यञ्जना, (२०) अ० मे दशरूपकों का लक्षण, (२१) अ० में नाटकीय पंचसन्धियों तथा सन्ध्यंगो का विधान, (२२) अ० में चतुर्विध वृत्तियों का विधान, (२३) अ० में आहार्य अभिनय, (२४) अ० मे सामान्य अभिनय, (२५) अ० मे बाह्य उपचार, (२६) अ० में चित्राभिनय, (२७) अ० मे सिद्धि व्यञ्जन का निर्देश। अठाईसवे अध्याय से **संगीतशास्त्र का** वर्णन (२८ अ० से ३३ अ० तक) हुआ है—(२८) अ० मे आतोद्य, (२९) अ० मे ततातोद्य, (३०) अ० मे सुषिरातोद्य का विधान वर्णित है। (३१) अ० मे ताल, (३२) अ० में ध्रुवाविधान, (३३) अ० मे वाद्य का विस्तृत विवेचन है। अन्तिम तीन अध्यायों मे विविध विषयों का वर्णन है—(३४) अ० में प्रकृति (पात्र) का विचार, (३५) अ० मे भूमिका की रचना तथा (३६) अ० में नाट्य के भूतल पर अवतरण का विवरण है। यही है संक्षिप्त विषय-क्रम।

नाट्यशास्त्र का विकास

भरत का मूल सूत्रग्रन्थ किस प्रकार वर्तमान कारिका के रूप मे विकसित हुआ ? इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर देना अभी तक सम्भव नहीं है। नाट्य-शास्त्र के अन्तिम अध्याय से प्रतीत होता है कि कोहल नामक किसी आचार्य का हाथ इस ग्रन्थ के विकास के मूल मे अवश्य है। भरत ने स्वयं भविष्यवाणी की है कि—'शेषं प्रस्तारतन्त्रेण कोहलः कथयिष्यति'। इससे कोहल को इस ग्रन्थ को विस्तृत तथा परिवर्धित करने का श्रेय प्राप्त है। 'कोहल' नाम के आचार्य का, नाट्याचार्य के रूप में, परिचय हमे अनेक अलंकारग्रन्थों से उपलब्ध होता है। दामोदर गुप्त ने कुट्टिनीमत (श्लोक ८१) में भरत के साथ कोहल का भी नाम नाट्य के प्राचीन आचार्य के रूप मे निर्दिष्ट किया है। शार्ङ्गदेव कोहल को अपना उपजीव्य मानते हैं (संगीत रत्नाकर ११५)। हेमचन्द्र ने नाटक के विभिन्न प्रकारों के विभाजन के अवसर पर भरत के साथ कोहल का भी उल्लेख किया है[1]। शिंगभूपाल ने भी रसार्णवसुधाकर मे

१–प्रपञ्चस्तु भरत कोहलादि शास्त्रेभ्योऽवगन्तव्यः।
हेमचन्द्र–काव्यानुशासन पृ० ३२५, ३२९

भरत, शाण्डिल्य, दत्तिल और मतंग के साथ कोहल को भी मान्य नाट्यकर्ता के रूप में निर्दिष्ट किया है—(विलास १, श्लोक ५०–९२)। कोहल के नाम से एक 'तालशास्त्र' नामक संगीत ग्रन्थ का भी वर्णन मिलता है। कोहल के साथ दत्तिल नामक आचार्य का नाम भी संगीत के ग्रन्थों मे उपलब्ध होता है। 'दत्तिलकोहलीय' नामक संगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है जिसमें कोहल तथा दत्तिल के संगीत-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया प्रतीत होता है। अभिनवगुप्त ने भरत के एक पद्य (६।१०) की टीका लिखते समय लिखा है कि यद्यपि नाट्य के पाँच ही अंग होते हैं तथापि कोहल और अन्य आचार्यों के मत के अनुसार एकादश अंगों का वर्णन मूल ग्रन्थ मे यहाँ किया गया है[1]। इससे स्पष्ट है कि नाट्यशास्त्र के विस्तृतीकरण मे आचार्य कोहल का विशेष हाथ है। कोहल के अतिरिक्त नाट्यशास्त्र मे शाण्डिल्य, वत्स तथा धूर्तिल नामक नाट्य के आचार्यो के नाम भी उल्लिखित हैं[2]। इनके मत का भी समावेश वर्तमान नाट्यशास्त्र मे किया प्रतीत होता है। 'आदिभरत' तथा 'वृद्धभरत' के नाम भी इस प्रसंग में यत्र-तत्र लिये जाते हैं। परन्तु वर्तमान जानकारी की दशा मे भरत के मूल ग्रन्थ का विकास वर्तमान रूप मे किस प्रकार सम्पन्न हुआ, इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर नहीं दिया जा सकता।

'भावप्रकाशन' के अनुशीलन से पता चलता है कि शारदातनय की सम्मति में नाट्यशास्त्र के दो रूप थे। प्राचीन नाट्यशास्त्र बारह हजार श्लोकों मे निबद्ध था, परन्तु वर्तमान नाट्यशास्त्र विषय की सुगमता के लिए उसका आधा ही भाग है अर्थात् वह छः हजार श्लोकों मे ही निबद्ध है[3]। इनमे से पूर्व नाट्यशास्त्र के रचयिता को शारदातनय 'वृद्धभरत' के नाम से तथा वर्तमान नाट्यशास्त्र के कर्ता को केवल 'भरत' के नाम से पुकारते हैं[4]। धनञ्जय[5]

१—अभिनयत्रयं गीतातोद्ये चेति पंचांगं नाट्यम्........अनेन तु श्लोकेन कोहलादिमतेन एकादशांगत्वमुच्यते।

अभिनवभारती ६।१०

२—नाट्यशास्त्र—३७।२४

३—एवं द्वादशसाहस्रैः श्लोकैरेकं तदर्धतः।
षड्भिः श्लोकसहस्रैर्यो नाट्यवेदस्य संग्रहः।
भरतैर्नामतस्तेषां प्रख्यातो भरताह्वयः॥
—भावप्रकाशन पृ० २८७

४—भावप्रकाशन पृ० ३६।

५—दशरूपकालोक ४।२।

तथा अभिनवगुप्त[1] दोनों ग्रन्थकार भरत को 'षट्साहस्रीकार' के नाम से उल्लिखित करते हैं। अभिनवगुप्त ने भी नाट्यशास्त्र के विषय मे बड़ी जानकारी की बात लिखी है। उनका कहना है कि जो आलोचक इस ग्रन्थ को सदाशिव, ब्रह्म तथा भरत, इन तीनों आचार्यों के मतों का संक्षेप मानते हैं वे नास्तिक हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ केवल भरत के ही मत और सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है[2]। परन्तु उनकी सम्मति में भी इस नाट्यशास्त्र मे प्राचीन काल की भी उपादेय सामग्री संगृहीत की गई है। भरत ने अपने मत की पुष्टि में जिन अनुवंश्य श्लोकों या आर्याओं का उद्धरण अपने ग्रन्थ में, विशेषतः षष्ठ तथा सप्तम अध्याय में, दिया है वे भरत से प्राचीनतर हैं और पुष्टि तथा प्रामाण्य के लिए ही यहाँ निर्दिष्ट की गई हैं।

काल

भरत के आविर्भाव-काल का निर्णय भी एक विषम समस्या है। महाकवि भवभूति ने भरत को 'तौर्यत्रिक सूत्रधार' कहा है[3] जिससे भरत के ग्रन्थ का सूत्रात्मक रूप सिद्ध होता है। यह तो सुप्रसिद्ध ही है कि दशरूपक (दशम शतक) वर्तमान नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त रूप है। अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर अपनी टीका **अभिनवभारती** की रचना ११वीं शताब्दी के अन्तिम काल में की। भरत का सबसे प्राचीन निर्देश कालिदास महाकवि की विक्रमोर्वशीय में उपलब्ध होता है। कालिदास का कथन है कि भरत देवताओं के नाट्याचार्य थे तथा नाटक का मुख्य उद्देश्य आठ रसों का विकास करना था तथा नाटक के प्रयोग में अप्सराओं ने भरत को पर्याप्त सहायता दी थी—

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः॥

विक्रमोर्वशीय अंक २, श्लोक १८

कालिदास के द्वारा उल्लिखित नाट्य की यह विशेषता वर्तमान नाट्यशास्त्र में निःसन्देह उपलब्ध होती है। रघुवंश[4] मे भी कालिदास ने नाट्य को 'अंगसत्त्ववचनाश्रयम्' कहा है जो मल्लिनाथ की टीका के अनुसार भरत की इस कारिका से समानता रखता है—

१—अभिनवभारती पृ० ८, २४ (प्रथम भाग)।

२—अभिनवभारती पृ० ८।

३—उत्तर रामचरित ४।२२।

४—रघुवंश १९।३६।

सामान्याभिनयो नाम ज्ञेयो वागङ्गसत्त्वजः ।

नाट्यशास्त्र ।

इससे स्पष्ट है कि कालिदास भरत के वर्तमान 'नाट्यशास्त्र' से पूर्ण परिचित थे। अतः नाट्यशास्त्र का समय कालिदास से अर्वाचीन कथमपि नहीं हो सकता। नाट्यशास्त्र के निर्माण की यह पश्चिम अवधि है। इसकी पूर्व अवधि का पता अब तक नहीं लगता। वर्तमान नाट्यशास्त्र मे शक, यवन, पल्लव तथा अन्य वैदेशिक जातियों का वर्णन है जिन्होने भारतवर्ष के ऊपर ई० सन् की प्रथम शताब्दी के आसपास आक्रमण किया था। वर्तमान नाट्यशास्त्र का यही समय है। मूल सूत्रग्रन्थों की रचना सम्भवतः ईसापूर्व चतुर्थ शताब्दी मे हुई, क्योंकि संस्कृत के इतिहास मे 'सूत्रकाल' यही है जब सूत्ररूप मे शास्त्रीय ग्रन्थों के रचने की परिपाटी सर्वत्र प्रचलित थी। इतना तो निश्चित है कि कारिकाग्रन्थ मूल सूत्रग्रन्थ के बहुत ही पीछे लिखा गया था, क्योंकि इसमे भरत नाट्यवेद के व्याख्याता एक प्राचीन ऋषि रूप मे उल्लिखित किये गये हैं[1]। इस प्रकार भरतनाट्यशास्त्र का रचना-काल विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर द्वितीय शतक विक्रमी तक माना जाता है।

भरत के टीकाकार

भरत का ग्रन्थ विपुल व्याख्यासम्पत्ति से मण्डित है। अभिनवगुप्त तथा शार्ङ्गदेव के द्वारा उल्लिखित काल्पनिक तथा वास्तविक टीकाकारों के नाम नीचे दिये जाते हैं—(१) उद्भट, (२) लोल्लट, (३) शङ्कुक, (४) भट्ट-नायक, (५) राहुल, (६) भट्टयन्त्र, (७) अभिनवगुप्त, (८) कीर्तिधर, (९) मातृगुप्ताचार्य।

(१) उद्भट—इनका नाम अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती (६।१०) मे दिया है। शार्ङ्गदेव ने भी इनको भरत का टीकाकार बतलाया है[2]। परन्तु इनकी टीका अभी तक उपलब्ध नही हुई है।

(२) लोल्लट—ये भरत के निश्चित रूप से टीकाकार थे। इनका परिचय

१—भरत के काल-निर्णय के लिये विशेष विवरण के लिये देखिये—
डा० डे, हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, भाग १ पृ० ३२-३६।
डा० काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ८-१३।

२—व्याख्यातारो भारतीये लोल्लटोद्भटशंकुकाः।
भट्टाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः॥
—संगीतरत्नाकर

केवल अभिनवगुप्त कि उल्लेखो से ही नहीं मिलता, प्रत्युत मम्मट (काव्यप्रकाश ४।५), हेमचन्द्र (काव्यानुशासन पृ० ६७, टीका पृष्ठ ३१५), मल्लिनाथ (तरला पृ० ८५, ८८) और गोविन्दठक्कुर (काव्यप्रदीप ४।५) के निर्देशों से भी प्राप्त होता है। लोल्लट के कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र तथा राजशेखर ने 'आपराजिति' के नाम से उल्लिखित किया है। इससे इनके पिता का नाम 'अपराजित' होना सिद्ध होता है[1]। अभिनवगुप्त ने काश्मीरी उद्भट के मत का खण्डन करने के लिए लोल्लट का उल्लेख किया है, जिससे इनका उद्भट के बाद होना सिद्ध होता है। नाम की विशिष्टता से स्पष्ट है कि लोल्लट काश्मीर के ही निवासी थे।

(३) **शंकुक**—अभिनवगुप्त ने शंकुक को भट्टलोल्लट के मत के खण्डन-कर्ता के रूप में चित्रित किया है। कल्हण पण्डित ने राजतरंगिणी मे किसी शंकुक कवि तथा उनके काव्य 'भुवनाभ्युदय' का नामोल्लेख किया है[2]। यह निर्देश काश्मीर-नरेश अजितपीड के समय का है जिनका काल ८१३ ई० के आसपास है। यदि हमारे आलंकारिक शकुक कवि शंकुक के साथ अभिन्न व्यक्ति माने जायँ, तो उनका समय नवम शताब्दी का आरम्भकाल (८२० ई०) माना जा सकता है।

(४) **भट्टनायक**—इन्होंने शंकुक के अनन्तर नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी थी, क्योंकि ये अभिनवभारती मे शंकुक के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए दिखलाये गये हैं। इनके कतिपय श्लोकों को हेमचन्द्र, महिमभट्ट, माणिक्यचन्द्र आदि ग्रन्थकारों ने अपने अलंकार ग्रन्थो में उद्धृत किया है। ये श्लोक इनके 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ से उद्धृत किये गये हैं। यह भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या से नितान्त पृथक् ग्रन्थ प्रतीत होता है जो अनुष्टुप् छन्दों मे लिखा गया था और ध्वनि का मार्मिक खण्डन होने के कारण 'ध्वनि-ध्वंस के नाम से विख्यात था। भट्टनायक आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' से पूर्णतः परिचित थे। अभिनवगुप्त ने ही सर्वप्रथम इनका उल्लेख किया है। अतः इनका आविर्भावकाल आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्ययुग में हुआ था। अतः इनका नवम के अन्त तथा दशम शतक के आरम्भकाल मे आविर्भूत होना सिद्ध है। कल्हण ने काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के पुत्र तथा

१—द्रष्टव्य इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड, पृष्ठ ५३।

२—कविर्बुधमनाः सिन्धुशशांकः शंकुकाभिध.।
यमुद्दिश्याकरोत् काव्यं भुवनाभ्युदयाभिधम् ॥
—राजतरंगिणी ४।७०५

उत्तराधिकारी शंकरवर्मा के समय के किसी भट्टनायक नामक विद्वान् का राजतरंगिणी में उल्लेख किया है[1]। बहुत सम्भव है कि ये दोनों एक ही व्यक्ति हों[2]।

(५) **राहुल**—अभिनवगुप्त ने इनके मत का उल्लेख अनेक स्थलों पर अपनी अभिनवभारती मे किया है। अभिनवभारती के प्रथम खण्ड मे दो स्थानों पर इनका प्रामाण्य उद्धृत हुआ है। पृ० ११९ (अ० ४।९८) पर राहुलकृत 'रेचित' शब्द की व्याख्या उद्धृत की गई है तथा पृ० १७२ (अ० ४।२६७) पर राहुल के नाम से यह पद्य निर्दिष्ट किया गया है—

> **परोक्षेऽपि हि वक्तव्यो नार्या प्रत्यक्षवत् प्रियः ।**
> **सखी च नाट्यधर्मोऽयं भरतेनोदितं द्वयम् ॥**

(६) **भट्टयन्त्र** तथा (७) **कीर्तिधराचार्य** के नाट्यविषयक मत का उल्लेख अभिनवभारती मे पृ० २०८ पर एक बार किया गया है। प्रतीत होता है कि ये प्राचीन नाट्याचार्य थे। भरत के टीकाकार होने की बात सन्देह-हीन नहीं है।

(८) **वार्तिक**—अभिनवभारती के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त से पहिले नाट्यशास्त्र पर 'वार्तिक ग्रन्थ' की रचना हो चुकी थी जिसका उल्लेख उन्होंने नाट्य तथा नृत्य के पार्थक्य दिखलाने के अवसर पर किया है (पृ० १७२, १७४)। इस वार्तिक के रचयिता कोई हर्ष थे। अतः उनके नाम पर यह ग्रन्थ 'हर्षवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध था। यह ग्रन्थ अधिकतर आर्या छन्द मे निबद्ध था; परन्तु कहीं-कहीं गद्यात्मक अंश भी इसमे विद्यमान थे[3]।

(८) **अभिनवगुप्त**—इनकी सुप्रसिद्ध टीका का नाम 'अभिनवभारती' है। भरत की यही एकमात्र टीका है जो सम्पूर्णतया उपलब्ध होती है। पूर्व टीकाकारों का नाम तथा सिद्धान्तो का परिचय केवल इसी टीका से हमे मिलता है। इस टीका के प्रत्येक पृष्ठ के ऊपर टीकाकार की विद्वत्ता की छाप पड़ी हुई है। भरत के रहस्यों का उद्घाटन इस टीका की सहायता के बिना कथमपि नहीं हो सकता। भरत का नाट्यशास्त्र अत्यन्त प्राचीन होने के कारण दुरूह बन गया था, परन्तु अभिनवगुप्त ने ही अपनी गम्भीर टीका लिखकर इसे सुबोध

१—राजतरंगिणी ५।१५९।

२—इनका विशेष वर्णन आगे दिया जायगा।

३—द्रष्टव्य अभिनवभारती (प्रथम खण्ड) पृ० २०७।

तथा सरल बनाया। इनके देश तथा काल का विस्तृत वर्णन आगे किया जायगा।

(९) मातृगुप्ताचार्य—अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका मे राघवभट्ट ने मातृगुप्त के नाम से अनेक पद्यों को उद्धृत किया है। ये श्लोक नाटक के पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या में उद्धृत किये हैं। विशेषतः सूत्रधार (पृ० ५), नान्दी (पृ० ४), नाटक-लक्षण (पृ० ९) और यवनी (पृ० २७) के लक्षण के अवसर पर इनके पद्य दिये गये हैं। राघवभट्ट ने अपनी टीका में एक स्थान (पृ० १५) पर भरत के आरम्भ तथा बीच के विषय वाले पद्यों को उद्धृत किया है और यह लिखा है कि मातृगुप्ताचार्य ने इसका विशेष वर्णन किया है—

अत्र विशेषो मातृगुप्ताचार्य्यैरुक्तः—
क्वचित् कारणमात्रन्तु क्वचिच्च फलदर्शनम्।
....॥

सुन्दर मिश्र ने अपने नाट्यप्रदीप (रचनाकाल १६१३ ई०) मे भरत के ग्रन्थ से (नाट्यशास्त्र ५।२५, ५।२८) नान्दी का लक्षण उद्धृत किया है और मातृगुप्ताचार्य के उस पथ की व्याख्या की ओर संकेत किया है—

"अस्य व्याख्याने मातृगुप्ताचार्य्यैः षोडशांघ्रिपदापीयम् उदाहृता।"

सुन्दर मिश्र के इस उल्लेख से मातृगुप्त भरत के व्याख्याता प्रतीत होते हैं परन्तु राघवभट्ट के निर्देश से यह जान पड़ता है कि इन्होंने नाट्यशास्त्र के विषय मे कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा था। राजतरंगिणी मे हर्ष विक्रमादित्य के द्वारा काश्मीर के सिंहासन पर प्रतिष्ठित किये जानेवाले कवि मातृगुप्त का वर्णन मिलता है। परन्तु यह कहना कठिन है कि मातृगुप्ताचार्य कवि मातृगुप्त से अभिन्न व्यक्ति थे या भिन्न[1]।

२—मेधाविरुद्र

मेधाविरुद्र नामक ग्रन्थकार का उल्लेख भामह, नमिसाधु तथा राजशेखर ने अपने ग्रन्थों में किया है। राजशेखर के अनुसार मेधाविरुद्र कवि थे और जन्म से ही अन्धे थे। इनके नाम का उल्लेख राजशेखर ने प्रतिभा के प्रभाव-निरूपण के प्रसंग मे किया है। प्रतिभावाले कवि को कोई भी विषय न दिखाई

१—विशेष वर्णन के लिये देखिये—

बलदेव उपाध्याय—१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० १००-०१।

२. संस्कृत-कवि-चर्चा, पृ० १३८-१४३।

देने पर भी प्रत्यक्ष के समान ही प्रतीत होता है, जैसे मेधाविरुद्र, कुमारदास आदि जन्मान्ध सुने जाते हैं[1]। नमिसाधु ने मेधाविरुद्र को अलंकार ग्रन्थ का रचयिता माना है[2]। विचारणीय प्रश्न है कि मेधाविरुद्र एक नाम है अथवा मेधावी और रुद्र दो नाम हैं। भामह ने अपने अलंकार ग्रन्थ में मेधावी नामक आचार्य के नाम का उल्लेख दो बार किया है[3]। अतः मेधावी भामह से प्राचीनतर आचार्य निःसन्देह हैं। परन्तु मेधावी और मेधाविरुद्र एक ही व्यक्ति हैं; इसका यथार्थतः निर्णय नहीं किया जा सकता।

मेधावी के सिद्धान्त

(१) भामह के अनुसार मेधावी ने उपमा के सात दोषों का वर्णन किया है[4]—हीनता, असम्भव, लिंगभेद, वचनभेद, विपर्यय, उपमानाधिक्य, उपमानासादृश्य। इन्हीं उपमा-दोषों का निर्देश करते हुए नमिसाधु ने मेधावी का नाम अपनी रुद्रट की टीका में उल्लिखित किया है[5]। इन दोनों निर्देशों से स्पष्ट है कि उपमा के दोषों का प्रथम निर्देश करने का श्रेय मेधावी को ही प्राप्त है। इन दोषों का उल्लेख वामन ने काव्यालंकार में तथा मम्मट ने भी काव्यप्रकाश में किया है। वामन ने ऊपर निर्दिष्ट विपर्यय दोष को हीनता और अधिकता के भीतर ही सम्मिलित कर दिया है। अतः उनकी दृष्टि में उपमा-

---

१—प्रत्यक्षप्रतिभावतः पुनरपश्यतोपि प्रत्यक्ष इव, यतो मेधाविरुद्रकुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते।—काव्यमीमांसा पृ० ११-१२

२—ननु दण्डिमेधाविरुद्रभामहादिकृतानि सन्त्येव अलंकारशास्त्राणि।
रुद्रट—काव्यालंकार की टीका १।२

३—भामह—काव्यालंकार २।४०; २।८८।

४—हीनताऽसंभवो लिंगवचोभेदो विपर्ययः।
उपमानाधिकत्वञ्च तेनासदृशतापि च॥
त एत उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः।
सोदाहरणलक्ष्माणो वर्ण्यन्तेऽत्र च ते पृथक्॥
भामह—काव्यालंकार २।३९, ४०

५—अत्र च स्वरूपोपादाने सत्यपि चत्वार इति ग्रहणाद्यन्मेधाविप्रभृतिभिरुक्तं यथा लिंगवचनभेदौ हीनताधिक्यमसंभवो विपर्ययो सादृश्यमिति सप्तोपमादोषाः····· तदेतन्निरस्तम्॥
रुद्रट—काव्यालकार की टीका ११।२४

दोष छः ही प्रकार के होते हैं[1]। मम्मट ने भी इस विषय में वामन का ही पदानुसरण किया है।

(२) भामह ने अपने ग्रन्थ मे (२।८८) मेधावी का उल्लेख इस प्रकार किया है—

यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः।

संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिताक्क चित् ॥

इस श्लोक का यह पाठ अशुद्ध प्रतीत होता है। इसके उत्तरार्ध का यह तात्पर्य है कि मेधावी उत्प्रेक्षा अलंकार को संख्यान नाम से पुकारते हैं। परन्तु दण्डी के कथनानुसार कुछ आचार्य 'यथासंख्य' अलंकार को 'संख्यान' नाम से पुकारते हैं[2]। दण्डी के इस कथन के अनुसार मेधावी ही यथासंख्य अलंकार को **संख्यान** के नाम से उल्लिखित करनेवाले आचार्य प्रतीत होते हैं। यदि यह बात सत्य हो तो उपर्युक्त पाठ के स्थान पर होना चाहिये—

संख्यानमिति मेधावी नोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित्।

(३) नमिसाधु के अनुसार मेधाविरुद्र ने शब्द के चार ही प्रकार माने हैं यथा—नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। इन्होंने कर्मप्रवचनीय को नही माना है[3]।

इन उल्लेखों से ज्ञात होता है कि **मेधाविरुद्र** भामहपूर्व-युग के एक महनीय आचार्य थे। इनका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु मतों का परिचय ही उपर्युक्त आलंकारिकों के निर्देश से मिलता है।

३—भामह

आचार्य भामह भारतीय अलंकार-शास्त्र के आद्य आचार्य माने जाते हैं। भरत के 'नाट्यशास्त्र' मे अलंकार शास्त्र के तत्त्वों का विवेचन, गौण रूप से किया गया है, प्रधान रूप से नहीं। भरत के अनुसार अभिनय चार प्रकार के होते हैं जिनमे वाचिक अभिनय के प्रसङ्ग में भरत ने अलंकार-शास्त्र का सन्निवेश

१—अनयोर्दोषयोर्विपर्ययाख्यस्य दोषस्यान्तर्भावान्न पृथगुपादानम्। अत एवास्माकं मते षड् दोषा इति।

वामन—काव्यालंकारसूत्र ४।२।११ की वृत्ति।

२—यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि। काव्यादर्श—२।२७३।

३—एत एव चत्वारः शब्दविधाः इति येषां सम्यङ् मतं तत्र तेषु नामादिषु मध्ये मेधाविरुद्रप्रभृतिभिः कर्मप्रवचनीया नोक्ता भवेयुः ॥ रुद्रट की टीका २।२ पृ० ९ देखिये।

किया है। भामह का ग्रन्थ ही भरत-पश्चात् युग का सर्वप्रथम मान्य ग्रन्थ है जिसमे अलंकारशास्त्र नाट्यशास्त्र की परतन्त्रता से अपने को मुक्त कर एक स्वतन्त्र शास्त्र के रूप मे हमारे सामने प्रस्तुत होता है। निश्चय रूप से हम नहीं कह सकते कि भामह किस देश के निवासी थे तथा किस काल को उन्होंने अपने आविर्भाव से विभूषित किया था। अनेक अनुमानों के आधार पर उनके देश और काल का निर्णय किया जा सकता है। काश्मीर के आलकारिकों के ग्रन्थों मे ही इनके नाम तथा मत का प्रथम समुल्लेख इन्हें काश्मीरी सिद्ध करता है। काश्मीर के ही मान्य विद्वान् भट्ट उद्भट ने इनके 'काव्यालकार' के ऊपर 'भामह-विवरण' नामक एक अपूर्व व्याख्या ग्रन्थ लिखा था जो अभी तक उपलब्ध नही हुआ है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो इससे भामह के ही सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय नहीं मिलता प्रत्युत अलंकार-शास्त्र के आरम्भिक युग की अनेक समस्याओं का भी अनायास समाधान हो जाता। काश्मीरी पण्डितों का भी प्रवाद है—भामह ने काश्मीर देश को ही अपने जन्म से अलंकृत किया था।

जीवनी

भामह के पिता का नाम 'रक्रिलगोमी' था[१]। यह नाम कुछ विलक्षण सा प्रतीत होता है। कतिपय आलोचक सोमिल, राहुल, पोत्तिल आदि बौद्ध नामों की समता से रक्रिल को भी बौद्ध मानते हैं। चान्द्र व्याकरण के अनुसार पूज्य अर्थ मे 'गोमिन्' शब्द का निपात (गोमिन् पूज्ये) होता है। चान्द्र व्याकरण के रचयिता चन्द्रगोमी स्वयं बौद्ध थे। इस प्रकार रक्रिल तथा गोमी, इन दोनों पदों के सान्निध्य से यही प्रतीत होता है कि भामह के पिता बौद्ध ही थे। इस सिद्धान्त के दृढ़ीकरण मे भामह के ग्रन्थ का मगलाचरण भी सहायता करता है[२]। भामह ने अपने मगलश्लोक में सार्व सर्वज्ञ को प्रणाम किया है। अमरकोश के प्रमाण से—सर्वज्ञः सुगतो बुद्धो मारजित् लोकजिज्जिन.—सर्वज्ञ शब्द भगवान् बुद्ध का ही दूसरा नाम है। सार्व शब्द भी 'सर्वेभ्यो

१—अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन, ग्रथितं रक्रिलगोमिसूनुनेदम्॥
—भामहालंकार ६।६४

२—प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥
—काव्या० १।१

हितम्' इस अर्थ में सर्व शब्द से 'ण' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। अतएव यह शब्द भी परोपकारियों में अग्रगण्य बुद्धदेव का ही सूचक सिद्ध होता है। अतएव सर्वज्ञ की स्तुति करनेवाले रक्रिलगोमी के पुत्र भामह को बौद्ध मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

कतिपय आलोचकों का यह उपर्युक्त सिद्धान्त तर्कसंगत प्रतीत नहीं होता। अमर ने 'सर्वज्ञ' शब्द को बुद्ध का पर्यायवाची अवश्य माना है परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि सर्ववेत्ता भगवान् शकर के लिये इस शब्द का अभिधान हो ही नहीं सकता। शंकर का नाम भी सर्वज्ञ है, इसे अमर सिंह ने स्वयं ही लिखा है[1]। बौद्ध व्याकरण के अनुसार गोमिन् भले ही सिद्ध हो परन्तु इसका क्या प्रमाण है कि वह बौद्धों के लिये ही पूजा के अर्थ मे प्रयुक्त होता था? 'काव्यालंकार' मे भामह ने बुद्ध के जीवन की किसी भी घटना का कहीं भी उल्लेख नही किया है। इसके विपरीत, रामायण, महाभारत तथा बृहत्कथा के प्रख्यात आख्यान, उनके नायकों के नाम तथा काम का स्फुट वर्णन स्पष्ट शब्दों मे वर्णित किया गया है। अतः इससे हम इसी निश्चित सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि भामह बौद्ध न होकर वैदिक धर्मावलम्बी ब्राह्मण थे।

समय

एक समय था जब दण्डी और भामह के काल-निर्णय के सम्बन्ध मे विद्वानों में बडा मतभेद था। कुछ आलोचक दण्डी को ही भामह से पूर्ववती मानते थे। परन्तु अब तो प्रबलतर प्रमाणों से भामह ही दण्डी से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। बौद्धाचार्य शान्तरक्षित ने (अष्टम शतक) अपने 'तत्त्वसंग्रह' नामक ग्रन्थ मे भामह के मत का निर्देश करते हुए इनके ग्रन्थ से कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया है। अतः इनका अष्टम शतक से पूर्ववर्ती होना ध्रुव सत्य है। आनन्दवर्धन ने भामह के एक श्लोक[2] को बाणभट्ट के एक वाक्य[3] से प्राचीनतर बतलाया है। आनन्द की सम्मति मे बाणभट्ट का वाक्य भामह के पद्यानुयायी होने पर भी ध्वनि की सत्ता के कारण ही नवीन प्रतीत होता है। अतः

१—कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिः नीललोहितः।
—अमरकोश।

२—शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः।
यदलंघितमर्यादाश्चलन्ती बिभ्रते भुवम्॥
—काव्या० ३।२८

३—धरणीधारणाय अधुना त्वं शेषः।
—हर्षचरित। द्रष्टव्य ध्वन्यालोक उद्योत ४

आनन्द की सम्मति में भामह बाणभट्ट से (६२५ ई०) प्राचीन थे।

भामह ने अपने ग्रन्थ के पंचम परिच्छेद मे न्याय-निर्णय के अवसर पर बौद्ध दार्शनिकों के सिद्धान्तों से अपना गाढ परिचय दिखलाया है। इस अवसर पर इन्होंने प्रत्यक्ष प्रमाण का जो लक्षण दिया है वह आचार्य दिङ्नाग के ही मत से साम्य रखता है परन्तु वह उनके व्याख्याकार धर्मकीर्ति के मत से भिन्न है[१]। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष लक्षण है—**प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्**—अर्थात् प्रत्यक्ष कल्पना से रहित होता है। और 'कल्पना' कहते हैं किसी वस्तु के विषय में नाम तथा जाति आदि की कल्पना को। इस लक्षण मे धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्त' पद जोडकर इसे भ्रान्तिरहित बनाने का उद्योग किया है। भामह धर्मकीर्ति के इस लक्षण-सुधार से परिचित नहीं हैं। प्रतिज्ञा-दोष के भेद और दृष्टान्त दिङ्नाग के 'न्यायप्रवेश' से साम्य रखते हैं। अतः भामह का समय दिङ्नाग के (५०० ई०) पश्चात् और धर्मकीर्ति (६२० ई०) से पूर्व मानना चाहिये। अतः इनका समय षष्ठ शतक का मध्यकाल है।

ग्रन्थ

यह कहना नितान्त असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है कि हमारे ग्रन्थकार ने प्रसिद्ध काव्यालंकार को छोडकर और कोई ग्रन्थ लिखा या नहीं। इसमें सन्देह नहीं कि भामह का नाम बहुत से ऐसे वाक्यों के साथ लिया जाता है जो काव्यालंकार मे नहीं मिलते। राघवभट्ट ने अपने अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका 'अर्थद्योतनिका' मे दो बार भामह के नाम से ऐसे वाक्यों को दिया है जो काव्यालंकार मे कहीं नहीं मिलते। एक वाक्य तो किसी छन्दःशास्त्र[२] से लिया गया है और दूसरा अलंकार-शास्त्र से[३]। दूसरा वाक्य, आश्चर्य है कि, कुछ परिवर्तन के साथ उद्भट के काव्यालकार मे मिलता है और उसका उदाहरण काव्यप्रकाश मे मिलता है। कुछ श्लोक नारायण भट्ट ने 'वृत्त रत्नाकर' पर

१—काव्या० ५।६।

२—**क्षेमं सर्वं गुरुर्दत्ते मगणो भूमिदैवतः।**
इति भामहोक्तेः।

—**अभिज्ञान-शाकुन्तल टीका पृ० ४ (नि० सा०)।**

३—**तल्लक्षणमुक्तं भामहेन—पर्यायोक्त प्रकारेण यदन्येनाभिधीयते। वाच्य-वाचक शक्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना इति। उदाहृतं च हयग्रीववधस्थं पद्यं 'यं प्रेक्ष्य चिररूढापि निवास-प्रीतिरुज्झिता। मदेनैरावणमुखे मानेन हृदये हरेः' इति पृ० १०।**

अपनी टीका में भामह के नाम से कहे हैं। यह शायद किसी छन्दःशास्त्र[1] से लिया गया है।

इन वाक्यो के सिवा जो हमें भामह के नाम से सुनाई देते हैं और जो शायद ऐसे ग्रन्थों से लिये गये हैं जो अब लुप्त हो गये हैं, हम लोगों को भामहभट्ट के नाम से उस प्राकृत प्रकाश की प्रसिद्ध टीका मिलती है जिसके द्वारा वररुचि ने सूत्र रूप मे प्राकृत का व्याकरण लिखा है। यह 'प्राकृत-मनोरमा' कहलाती है और बची हुई टीकाओं मे सबसे प्राचीन समझी जाती है।

हमारे पास इस बात के सिद्ध या असिद्ध करने के लिये कोई साक्षात् प्रमाण नहीं है कि काव्यालंकार के रचयिता ही इन ग्रन्थों के भी लिखने-वाले थे। कौन कह सकता है कि इस एक ही नाम के कई व्यक्ति न हों। पर एक ही नाम के हर एक पुरुष उसी प्रकार प्रसिद्ध नहीं होते। कुछ लोग तो प्राकृत-मनोरमा के रचयिता को काव्यालंकार के लिखनेवाले से भिन्न नहीं समझते। पिटर्सन का अनुसरण करते हुए डा० पिशेल[2] को इसका

१—तदुक्तं भामहेन—

अवर्णात् सम्पत्तिर्भवति मुदि वर्णाद्धनशता-
न्युवर्णादख्यातिः सरभसमृवर्णाद्धरहितात् ।
तथा ह्येचः सौख्यं ङञणरहितादक्षरगणात्
पदादौ विन्यासात् भरवहलहाहाविरहितात् ॥—वृत्तरत्नाकर पृ० ६

तदुक्तं भामहेनैव—

देवतावाचकाः शब्दाः ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा॥
कः खो गो घश्च लक्ष्मीं वितरति, वियशो ङस्तथा चः सुखं छः ।
प्रीतिं जो मित्रलाभं भयमरणकरौ झञौ टठौ खेद-दुःखे ॥
डः शोभां ढो विशोभां भ्रमणमथ च णस्तः सुखं थश्च युद्धम् ।
दो धः सौख्यं मुदं नः सुखभयमरणक्लेशदु.खं पवर्गः ॥
यो लक्ष्मी रश्च दाहं व्यसनमथ लवौ शः सुखं षश्च खेदं ।
सः सौख्यं हश्च खेदं विलयमपि च लः क्षः समृद्धिं करोति ॥
संयुक्तं चेह न स्यात् सुख-मरण-पदुर्वर्ण-विन्यास योगः ।
पद्यादौ गद्यवक्त्रे वचसि च सकले प्राकृतादौ समोऽयम् ॥
वृत्तरत्नाकर पृ० ७ (काशी सं०)

२—पिशेल : ग्रामातिक देर प्राकृत स्प्राखेन (ज०) पृ० ३५ ।

सन्देह भी नहीं हुआ कि यह दो भामह भिन्न थे[1]। जहाँ तक हमे मालूम होता है, उनका कहना पण्डितों के कथनों के आधार पर है। कितना ही विश्वास योग्य उनकी मत हो, हम लोग यही चाहेंगे कि उनके मत को पुष्ट करने के लिये कोई ऐतिहासिक प्रमाण हो जिससे उनका मत दृढ हो जाय। पर यह विश्वास करना बिलकुल असम्भव मालूम होता है कि काव्यालंकार के रचयिता के ऐसा प्रखर विद्वान् अलंकार शास्त्र के ऐसे अपूर्व ग्रन्थ लिखने के पूर्व या अनन्तर बिलकुल चुप बैठा हो। एक शब्द मे इतना ही कह सकते हैं कि किसी ओर हम अपना निश्चित मत नही दे सकते।

काव्यालंकार

इस ग्रन्थ[2] मे ६ परिच्छेद हैं जिनमे पाच विषयों का विवरण है। वे इस प्रकार हैं—

(१) काव्य-शरीर—इसमे ६० श्लोक हैं जिनमे काव्य, उनके प्रयोजन लक्षणादि दिये हैं। (प्रथम परिच्छेद)

(२) अलंकार—इसमे अलंकारों के लक्षण और उदाहरण दिये हैं। यहाँ थोडे कवियों के नाम भी सौभाग्यवश सुनाई पडते हैं जिनको हम अब बिलकुल नहीं जानते। इसमे १६० श्लोक हैं। (द्वितीय तथा तृतीय परि०)

(३) दोष—काव्यों के दोष ५० श्लोकों मे यहाँ दिये हैं। (चतुर्थ परि०)

(४) न्याय-निर्णय—इसका विशेष वर्णन ७० श्लोकों मे है। (पंचम परिच्छेद)

(५) शब्द-शुद्धि—व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का वर्णन कर विशिष्ट शब्दों की साधुता प्रदर्शित की गई है। ६० श्लोक हैं। (षष्ठ परिच्छेद)

भामह के मान्य सिद्धान्त हैं—

(१) शब्द और अर्थ दोनों के मिलने से काव्य की निष्पत्ति होती है। शब्दार्थौ सहितं काव्यम्।

१—सुभाषितावलि पृ० ७९।

२—भामह ने काव्यालकार के अन्त में इस प्रकार सबका सार दे दिया है—

षष्ट्या शरीरं निर्णीतं शतषष्ट्या त्वलङ्कृतिः।
पञ्चाशता दोषदृष्टिः सप्तत्या न्यायनिर्णयः॥
षष्ट्या शब्दस्य शुद्धिः स्यादित्येवं वस्तुपंचकम्।
उक्तं षड्भिः परिच्छेदैर्भामहेन क्रमेण वः॥

(२) भरत-प्रतिपादित दशगुणों के स्थान पर ओज, माधुर्य तथा प्रसाद इस गुणत्रय का निर्देश तथा निरूपण।

(३) वक्रोक्ति का समस्त अलंकारो का मूलभूत होना। इसका चरम विकास कुन्तक की 'वक्रोक्ति-जीवित' मे दीख पडता है।

(४) दशविध दोषों के अतिरिक्त अन्य नवीन दोषों की कल्पना[1]।

४—दण्डी

भामह के बाद दण्डी अलंकार-शास्त्र के प्रधान आचार्य माने जाते हैं। इनका समय-निरूपण अत्यन्त विवाद का विषय है। आनन्दवर्धन ने जिस प्रकार भामह को अपने ग्रन्थ मे उद्धृत किया है उस प्रकार दण्डी को नहीं किया है। दण्डी का सर्वप्रथम निर्देश प्रतिहारेन्दुराज ने (पृ० २६) किया है। दक्षिण-भारत की भाषाओं के अलंकारशास्त्र-विषयक ग्रन्थों से—जिनकी रचना सम्भवतः नवम शताब्दी में की गई थी—दण्डी एक सिद्ध तथा प्रामाणिक आलकारिक के रूप में दिखाई पड़ते हैं। सिंहली भाषा के अलंकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर'—(स्वभाषालकार) जिसकी रचना नवम शताब्दी से कथमपि पश्चात् नहीं मानी जा सकती—दण्डी को अपने उपजीव्य ग्रन्थकारों मे मानता है। कन्नड़ भाषा मे लिखित 'कविराजमार्ग' नामक ग्रन्थ मे—जिसकी रचना का श्रेय राष्ट्रकूट-नरेश अमोघवर्ष नृपतुंग (नवम शतक का प्रथमार्ध) को है—अलकारों के उदाहरण मे जो अनेक श्लोक उद्धृत किये गये हैं व दण्डी के काव्यादर्श के अक्षरशः अनुवाद हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त वामन के 'काव्यालंकार' के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि वामन दण्डी से परिचित थे। दण्डी ने केवल दो ही रीति या मार्ग का वर्णन किया है परन्तु वामन ने एक मध्यवर्तिनी रीति—पाञ्चाली—का भी निर्देश कर अपनी मौलिकता का परिचय दिया है। इससे स्पष्ट है कि दण्डी वामन से प्राचीन हैं। अतः इनके काल की अन्तिम अवधि अष्टम शतक के पश्चात् नहीं हो सकती।

इनके काल की पूर्व अवधि का निश्चय करना सरल नहीं है। दण्डी के एक श्लोक मे बाणभट्ट के द्वारा कादम्बरी में वर्णित यौवन के दोषों के वर्णन की

१—भामह के काल, ग्रन्थ तथा सिद्धान्त के विस्तृत वर्णन के लिए इस खंड का परिशिष्ट देखिये।

छाप स्पष्ट दीख पडती है[1] । दण्डी के एक अन्य पद्य में माघ के शिशुपालवध की छाया है[2] । डाक्टर के० बी० पाठक के अनुसार दण्डी ने कर्म के निर्वर्त्य, विकार्य तथा प्राप्य नामक भेदत्रय की कल्पना, भर्तृहरि के वाक्यपदीय के अनुसार की है[3] । दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरी-कथा' मे बाणभट्ट की पूरी कादम्बरी का सरस साराश उपस्थित किया है । इन निर्देशो से स्पष्ट है कि बाण, भर्तृहरि और माघ (सप्तम शतक) से प्रभावित होनेवाले दण्डी सप्तम शतक के उत्तरार्ध मे उत्पन्न हुए थे ।

टीका

भामह की अपेक्षा दण्डी अधिक भाग्यवान् थे । भामह की प्राचीन व्याख्या (भामह-विवरण) अभी तक उपलब्ध नहीं है । भामह के ग्रन्थ का मूल पाठ भी विशुद्ध रूप से अभी उपलब्ध नहीं है । इनके ग्रन्थ का उद्धार भी अभी कुछ दिन पूर्व ही हुआ है । परन्तु दण्डी का व्यापक प्रभाव प्राचीन काल से ही लक्षित हो रहा है । सिहली भाषा मे मान्य अलकार ग्रन्थ 'सिय-बस-लकर' पर दण्डी के 'काव्यादर्श' की छाप है । कन्नड भाषा का कविराजमार्ग तो दण्डी के प्रभाव से ओतप्रोत ही नहीं है, प्रत्युत उसके अलकारो के उदाहरणो में दण्डी के श्लोकों के निःसदिग्ध अनुवाद हैं । सम्भवतः तिब्बती भाषा मे भी इनके ग्रन्थ का अनुवाद हुआ था । इनके ग्रन्थ के ऊपर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं जिनसे उसकी लोकप्रियता का पता चलता है । 'काव्यादर्श' का सबसे प्राचीन टीका तरुणवाचस्पति द्वारा विरचित है । इनकी दूसरी टीका का नाम 'हृदयंगमा' है जिसके लेखक के नाम का पता नहीं चलता । ये दोनों टीकाए मद्रास से प्रकाशित हुई हैं ।

१—अरत्नालोकसंहार्यं, अवार्यं सूर्यरश्मिभिः ।
दृष्टिरोधकरं यूनां यौवनप्रभवं तमः ॥ काव्यालकार २।१९७

कादम्बरी की निम्नलिखित पंक्तियों से इसकी तुलना कीजिये—

केवलं च निसर्गत एवाभानुभेद्यमरत्नालोकोच्छेद्यमप्रदीपप्रभापनेय-मतिगहनं तमो यौवनप्रभवम् ।

२—दण्डी २।३०२ = माघ २।४ ।

३—दण्डी २।२४० = भर्तृहरि ३।४५ ।

दण्डी ने तीन ग्रन्थों की रचना की है—(१) काव्यादर्श, (२) दश-कुमार-चरित और (३) अवन्ति-सुन्दरी-कथा। दशकुमार-चरित में दस राजकुमारों का जीवन-चरित वर्णित है। यह उपन्यास ग्रन्थ है जिसमे राजकुमारों को शिक्षा दी गई है। अवन्ति-सुन्दरी-कथा सुन्दर भाषा मे लिखा गया सुन्दर गद्यकाव्य है। परन्तु इनका सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ **काव्यादर्श** है जिस पर अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इस ग्रन्थ में तीन परिच्छेद हैं तथा समस्त श्लोकों की संख्या ६६० है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य-लक्षण, काव्य-भेद, गद्य के दो भेद—आख्यायिका और कथा, रीति, गुण तथा कवि के आवश्यक गुणो का वर्णन किया गया है। द्वितीय परिच्छेद मे अलंकार की परिभाषा, ३५ अलंकारो की परिगणना तथा उदाहरण का विवरण है। तृतीय परिच्छेद मे यमक, चित्रबन्ध—जैसे गोमूत्रिका, सर्वतोभद्र और वर्णनियम आदि, १६ प्रकार की प्रहेलिका और १० प्रकार के दोषो का सुविस्तृत वर्णन है।

दण्डी केवल आलंकारिक ही नहीं थे प्रत्युत सरस काव्य-कला के उपासक सफल कवि थे। उनका दशकुमार-चरित संस्कृत गद्य के इतिहास मे अपनी चारुता, मनोरंजकता तथा सरसता के लिए सदा स्मरणीय रहेगा। काव्यादर्श के समग्र उदाहरण दण्डी की निजी रचनाएँ हैं। इन पद्यों में सरसता तथा चारुता पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। अतः आलंकारिक दण्डी की अपेक्षा कवि दण्डी का स्थान कुछ कम उन्नत नहीं है। इसी लिये प्राचीन आलोचकों ने वाल्मीकि और व्यास की मान्य श्रेणी मे दण्डी को स्थान दिया है।

जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाभवत्।
कवी इति ततो व्यासे कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

५—उद्भट भट्ट

प्रसिद्धि

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के आचार्यो मे उद्भट भट्ट का भी स्थान बड़ा ऊँचा है। पीछे के बडे-बड़े शास्त्रकारो ने बडे आदर के साथ उनका और उनके मत का उल्लेख किया है। जो उनका मत नहीं भी मानते, अनेक बातों मे उनके पूरे विरोधी हैं, वे भी जब उनका नाम अपने ग्रन्थों मे लेते हैं, उनके प्रति पूरा सम्मान दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य कितने बड़े पण्डित थे, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। वे भी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अन्यत्र वाच्यत्वेन

प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः"[१] । रुय्यक का अलंकारसर्वस्व प्रसिद्ध ही है[२] । उसी के आधार पर अप्पय दीक्षित ने अपने अलकार-ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है । इसमे भी भट्ट उद्भट का नाम आया है । बल्कि यह कहना चाहिए कि भामह और इनके नाम से ही ग्रन्थ प्रारम्भ होता है—"इह हि तावद् भामहोद्भट-प्रभृतयश्चिरन्तनालकारकारा[३]" इत्यादि । यही रुय्यक जब व्यक्तिविवेक ऐसे बडे महत्त्व के ग्रन्थ की टीका लिखने बैठे, तब भी उद्भट भट्ट को न भूले थे । वहाँ वे यों लिखते हैं—"इह हि चिरन्तनैरलकारतन्त्रप्रजापतिभिर्भट्टोद्भट-प्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालंकाराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्मा"[४] । इन प्राचीनों की बात ही क्या है, पीछे के जो उद्धत से उद्धत भी नवीन आचार्य हुए हैं, उनको भी भट्ट उद्भट के सामने सिर नवाना ही पडा है । जिसने रसगंगाधार एक बार भी पढा है, वह अच्छी तरह जानता है कि पण्डितराज जगन्नाथ कैसे थे । किसकी उन्होंने खबर न ली । अप्पय दीक्षित के धुर्रे उडा दिये, विमर्षिणीकार के छक्के छुडा दिये । पर वे भी जहाँ कहीं उद्भट का नाम लेते हैं, आदर ही दिखाते हैं । कहीं उनके ग्रन्थ के लगाने का प्रयत्न किया, कही उन पर किये गये आक्षेपों का उत्तर दिया, और कहीं अपने कथन के समर्थन मे उनका उल्लेख किया । एक स्थान से लिये हुए वाक्य को नमूने के तौरपर देखिए—"अत्राहुरुद्भटाचार्य. । येन नाप्ताप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालकारान्तरविषय एवायमाभारायमाणोऽल-कारान्तरं बाधते"[५] इत्यादि । और कहाँ तक कहे, भट्ट उद्भट की प्रसिद्धि इतनी जोरों की हुई कि बेचारे भामह सबसे प्राचीन आचार्य कोसो दूर पडे रह गये । इनके आगे वे फीके से जँचने लगे । यही कारण है कि भामह के काव्या-लंकारकी पुस्तक तक नही मिलती ।

१—ध्वन्यालोक, पृ० १०८ (निर्णयसागर) ।

२—दक्षिण के टीकाकार समुद्रबन्ध का कहना है कि रुय्यक ने केवल सूत्र ही लिखा । उन सूत्रों की वृत्ति का ही नाम अलकार-सर्वस्व है, जो उनके शिष्य मखुक ने लिखा । किन्तु यह मत कई कारणों से ठीक नही ठहरता ।

३—अलंकार-सर्वस्व, पृ० ३ (निर्णयसागर) ।

४—व्यक्तिविवेक-टीका, पृ० ३ (अनन्तशयन) ।

५—रसगंगाधर, पृ० ६२३ (काशी) ।

देश और समय

"उद्भट" नाम सुनते ही कौन न कह बैठेगा कि ये काश्मीरी होंगे। कैयट, जैयट, वैयट, मम्मट, अल्लट, भल्लट, कल्लट सरीखे नाम काश्मीर देश मे ही उपलब्ध होते हैं। इन्हीं नामों की समता पर हम निःसन्देह कह सकते हैं कि उद्भट काश्मीर के ही निवासी थे। केवल नाम ही की बात नहीं, और भी दूसरे विश्वासार्ह प्रमाण हैं, जिनसे उनका काश्मीर का होना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

राजतरंगिणी मे कल्हण किसी एक भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड़ का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥—४. ४९५.

उस राजा के सभापति विद्वान् उद्भट भट्ट थे, जिनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था। यह उद्भट, जिनके संरक्षक महाराज जयापीड थे, और जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं, जहाँ तक पता लगा है, दोनों का एक व्यक्ति होना डॉ० ब्यूलर की काश्मीर-रिपोर्ट में बहुत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है[१]। डॉ० ब्यूलर ने ही पहले-पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थों के साथ भट्ट उद्भट के अलंकारसार-सग्रह का पता लगाया था।

महाराज जयापीड़ वै० सं० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्य के अन्तिम काल मे ये कुछ बदनाम से हो गये थे। इनसे प्रजाओं को पीडा होते देखकर ब्राह्मणों ने सब सम्बन्ध छोड़ दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी भट्ट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग मे रखना अधिक उचित समझते हैं। यही समय इनका दूसरी तरह से भी प्रमाणित होता है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनन्दवर्द्धनाचार्य ने इनका नाम कई बार लिया है[२]। आनन्दवर्द्धनाचार्य का भी नाम राजतरंगिणी मे आया है—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ ५-३४.

१—Dr G. Buhler's Detailed Report of a Tour in Search of Sanskrit MSS made in Kashmir etc. Extra number of the J. B R. A. S., 1877.

२—ध्वन्यालोक, पृ० ९६ और १०८ (निर्णयसागर)।

मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्द्धन तथा रत्नाकर, ये सब अवंति-वर्मा के राज्य-काल में प्रसिद्ध हुए। महाराज अवन्तिवर्मा ई० स० ९५२ से ९४५ तक काश्मीर का शासन करते रहे। आनन्दवर्द्धन का भी, पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, यही समय मानना चाहिए। इसलिए इस बात से भी भट्ट उद्भट का पूर्वोक्त समय ही ठीक प्रमाणित होता है। एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि भट्ट उद्भट ने कहीं आनन्द-वर्द्धनाचार्य का क्या, ध्वनि-मत का भी अच्छी तरह उल्लेख नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक ध्वनि-मत की पूर्ण रूप से स्थापना नहीं हुई थी। ऐसा ही पता प्रतिहारेन्दुराज की टीका से तथा अन्य ग्रन्थों से भी चलता है[1]। इन सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट विक्रमी नवम शतक के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे[2]।

ग्रंथ

अभी तक भट्ट उद्भट के तीन ग्रन्थों का पता लगा है। वे ये हैं—

(१) भामह-विवरण, (२) कुमारसंभव काव्य और (३) अलंकार-सार-संग्रह।

भामह-विवरण

भामह-विवरण का केवल नाम ही नाम मिला है, पुस्तक कहीं नहीं मिली है। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारसार-संग्रह की लघु-विवृति नाम की टीका में एक स्थल पर लिखते हैं—"विशेषोक्तिलक्षणे च भामह विवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथैतास्माभिर्निरूपितः"[3]। इस कथन से स्पष्ट

१—अलंकारसारलघुविवृति, पृ० १९—"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यंजकभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहितः। स कस्मादिह नोपदिष्टः। उच्यते। एष्वलंकारेष्वन्तर्भावात्।" अलंकारसर्वस्व टीका (अलंकार विमर्षिणी) पृ० ३ (निर्णयसागर)—"ध्वनिकारमतमेभिर्न दृष्टमितिभाव।"

२—Winturniz, Geschichte der Indischen Literatur, Vol. III p 17, Dr S K. De, History of Sanskrit Poetics, Vol I p. 75, P. V. Kane, Introd. to साहित्यदर्पण p XLV.

३—पृ० १३।

ही प्रतीत होता है कि भामह-विवरण नाम का ग्रन्थ भट्ट उद्भट ने लिखा था। इस कथन की पुष्टि अभिनवगुप्ताचार्य भी कई स्थलों पर करते हैं[१]। एक स्थल पर वे यों लिखते हैं—"भामहोक्तं 'शब्दछन्दोभिधानार्थः' इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे।"[२] इससे तो स्पष्ट ही निकलता है कि भट्ट उद्भट ने भामह के ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी थी। अन्य स्थलों से भी यही सिद्ध होता है। हेमचन्द्र भी अपने काव्यानुशासन की अलंकार-चूडामणि नाम की टीका मे भट्ट उद्भट कृत भामह-विवरण का कई बार उल्लेख करते हैं[३]। रुय्यक अपने अलंकारसर्वस्व में इस भामह-विवरण का 'भामहीय-उद्भट-लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं[४]। इसी अलंकार-सर्वस्व की टीका मे समुद्रबन्ध इसको 'काव्यालंकार विवृति' कहते हैं[५]। भट्ट उद्भट के अलंकारसारसंग्रह से पता चलता है कि इन्होंने भामह के अलंकार लक्षणों को बहुत स्थलों पर वैसे का वैसा ही उठा लिया है। इससे भी यही मालूम होता है कि इनका भामह के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था।

कुमारसम्भव काव्य

भट्ट उद्भट के दूसरे ग्रन्थ की भी यही दशा है। इस ग्रन्थ का नाम था कुमारसम्भव काव्य। प्रतिहारेन्दुराज के कथन से उसके अस्तित्व का पता चलता है, तथा यह मालूम होता है कि अलंकारसार-संग्रह मे आये हुए उदाहरण प्रायः उसी काव्य से लिये गये हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघुविवृति मे एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्तः[६]।" जैसा काणे महाशय कहते हैं[७], इन श्लोकों को देखने से स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानों कालिदास के कुमारसंभव की नकल की गई हो। यह सादृश्य केवल शब्द और अर्थ का ही नहीं है, बल्कि घटनोल्लेख का भी है। यहाँ एक-दो उदाहरण दिखाना अप्रासंगिक न होगा।

१—ध्वन्यालोकलोचन (निर्णयसागर) पृ० १० ।

२— वही पृ० ४०, १५९ ।

३—काव्यानुशासन टीका (निर्णयसागर) पृ० १७, ११० ।

४—अलंकारसर्वस्व पृ० १८३ ।

५—अलकारसर्वस्व टीका (अनंतशयन) पृ० ८९ ।

६—अलकारसार-संग्रह, लघुविवृति, पृ० १३ (निर्णयसागर) ।

७—Introduction to साहित्यदर्पण p XLV.

उद्भट का श्लोक—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे ।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम् ॥
(२. १०)[1]

कालिदास का श्लोक—विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा । इत्यादि ।
(२. १२)

उद्भट का श्लोक—अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम् ।
असंभाव्य पतीच्छानां कन्यानां का परा गतिः ॥
(२. १२)[2]

कालिदास का श्लोक—इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मन ।
अवाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः ॥
(५. २)

उद्भट का श्लोक—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
(२. १)[3]

कालिदास का श्लोक—स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
परा हि काष्ठा तपसस्तया पुन । इत्यादि ।
(५. २८)

अलंकारसार-संग्रह

भट्ट उद्भट का तीसरा ग्रंथ है अलंकारसार-संग्रह । इस समय एक यही साधन है, जिससे भट्ट उद्भट की विद्वत्ता का पता चल सकता है । इसका पहले-पहल पता डा० ब्यूलर ने काश्मीर में लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट में दिया था । इसका अनुवाद कर्नल जेकब ने निकाला था । पर ग्रंथ जब तक निर्णयसागर में न छपा, तब तक सर्वसाधारण के लिए दुर्लभ ही था । वै० सं० १९७२ में पंडित मगेश रामकृष्ण तैलग ने प्रतिहारेन्दु-

१—अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३३ ।
२—वही पृ० ३४ ।
३—अलंकारसार-संग्रह, लघुविवृति पृ० ३७ ।

राज की लघुविवृति नाम की टीका के साथ इसका संपादन कर इसे प्रकाशित किया। १

यह ग्रथ छः वर्गों मे विभक्त है। इसमें लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलंकारों के लक्षण दिये गये हैं। इनके उदाहरण की तरह लगभग १०० श्लोक अपने कुमारसभव काव्य से (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) दिये गये हैं।

जिन अलकारों के लक्षण और उदाहरण इसमे दिये गये हैं, उनके नाम वर्गक्रमसे नीचे दिये जाते हैं।

प्रथम वर्ग—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला), (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक (आदि मध्य, अन्त), (८) प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग—(१) आक्षेप, (२) अर्थान्तरन्यास, (३) व्यतिरेक, (४) विभावना, (५) समासोक्ति, (६) अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग—(१) यथासख्य, (२) उत्प्रेक्षा, (३) स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग—(१) प्रेय, (२) रसवत्, (३) उर्जस्वित्, (४) पर्यायोक्त, (५) समाहित, (६) उदात्त (द्विविध), (७) श्लिष्ट।

पंचम वर्ग—(१) अपह्नुति, (२) विशेषोक्ति, (३) विरोध, (४) तुल्ययोगिता, (५) अप्रस्तुतप्रशंसा, (६) व्याजस्तुति, (७) निदर्शना, (८) उपमेयोपमा, (९) सहोक्ति, (१०) सकर (चतुर्विध), (११) परवृत्ति।

षष्ठ वर्ग—(१) अनन्वय, (२) ससंदेह, (३) संसृष्टि, (४) भाविक, (५) काव्यलिंग, (६) दृष्टात।

भामह से सम्बन्ध

(१) सादृश्य

ऊपर एक स्थान पर कहा जा चुका है कि भट्ट उद्भट भामह के बडे भक्त थे। उन्होंने भामह के काव्यालंकार पर 'भामह-विवरण' नाम की टीका लिखी। इतना ही नहीं, उसी ग्रन्थ का बहुत कुछ सहारा लेकर उन्होंने अपना 'अलकारसार-सग्रह' लिखा। अब यहाँ यह देखना भी उचित होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ के बनाने मे कहाँ तक भामह का अनुकरण किया और

कहाँ तक अपनी बुद्धि लगाई। पहली बात जो देखते ही दृष्टिगत होती है, वह यह है कि अलंकारों के लक्षण और उदाहरण जिस क्रम से भामह के काव्यालंकार मे कहे गये हैं, उसी क्रम से यहाँ भी दिये गये हैं। दो लक्षणों को मिलाने से पता लगता है कि आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध, अप्रस्तुतप्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय के लक्षण हूबहू वही के वही है। कुछ और दूसरे अलंकार जैसे अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि ऐसे हैं, जिनके लक्षण बिलकुल वही के वही तो नहीं हैं, पर तो भी दोनो मे बहुत कुछ सादृश्य अवश्य है। यह तो हुई ऊपरी समता। भीतरी मत भी भामह और भट्ट उद्भट का करीब-करीब एक-सा था। दोनों अलंकार-मत के माननेवाले थे।

(२) विलक्षणता

इतना सादृश्य होने पर भी भट्ट उद्भट बिलकुल ही अनुकरण करनेवाले न थे। उन्होंने भामह के कहे हुए कितने ही अलकारों के नाम तक नहीं लिये हैं, और कितने ही भामह के न कहे हुए अलंकारों को अपने ग्रन्थ मे स्थान दिया है। यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव भामह के काव्यालकार मे आये हैं, पर उद्भट के अलंकारसार-सग्रह मे उनका कही नाम भी नही मिलता। इसी तरह पुनरुक्तवदाभास, सकर, काव्यलिंग और दृष्टान्त भामह के ग्रन्थ मे न आने पर भी भट्ट उद्भट के ग्रन्थ मे मिलते हैं। निदर्शना को उद्भट विदर्शना कहते हैं, पर बहुत सभव है कि यह लिखने की ही भूल हो।

इसके अतिरिक्त और भी कई बाते हैं, जिनमे इनका मत भामह के मत से नहीं मिलता। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थान पर कहते हैं—

"भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव भेदद्वितयं प्रादर्शयत्[1]।" भामह ने ग्राम्या वृत्ति और उपनागरिका वृत्ति, यही दो प्रकार के अनुप्रास माने हैं। रूपक के भी उन्होंने दो ही भेद दिखाये हैं। इसके विरुद्ध उद्भट भट्ट ने अनुप्रास तीन तरह के माने हैं। इन्होंने एक परुषा वृत्ति और जोड दी है। इसी तरह रूपक के भी इन्होंने दो और भेद जोडकर चार भेद कर दिये हैं। प्रतिहारेन्दुराज फिर एक दूसरे स्थान पर कहते हैं— "भामहो हि 'तत्सहोक्त्युपमाहेतुनिर्देशास्त्रिविधं यथा।' इति श्लिष्टस्य

१—अलंकारसार लघुवृत्ति, पृ० १।

त्रैविध्यमाह"[१] । भामह ने श्लेष के तीन भेद माने हैं, पर उद्भट दो ही भेद मानते हैं ।

उद्भट अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य हैं । भामह और उद्भट दोनो के सम्मिलित प्रयास का यह परिणत फल है कि अलंकार सम्प्रदाय अपने पूर्ण वैभव के साथ विकसित हो सका । 'अलंकार' के विषय में इनके कई मान्य सिद्धान्त हैं जिनसे परिचय पाना यहाँ आवश्यक है ।

विशेषताएँ

उद्भट के मत से कई बातें सबसे विलक्षण हैं । यहाँ उनका संग्रह कर देना अनुचित न होगा । प्रतिहारेन्दुराज एक स्थानपर कहते हैं—"अर्थ-भेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः"[२] । अर्थभेद से शब्दों का भेद होता है, यह भट्टोद्भट का सिद्धात है । ये दो तरह का श्लेष मानते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष, और दोनों को अर्थालंकार ही मानते हैं[३] । श्लेष को यह प्रधान अलंकार मानते हैं और सब अलंकारों-का बाधक समझते हैं[४] । इन्होंने स्पष्ट कहा है—"अलंकारान्तरगता प्रतिभां जनयत्पदैः" । ये अभिधा व्यापार तीन तरह का मानते थे[५] । अर्थ ये दो तरह के मानते थे—अविचारित सुस्थ और विचारित रमणीय[६] । गुणों को ये संघटना के धर्म मानते थे[७] । व्याकरण के विचार पर जो बहुत से उपमा के भेद पाये जाते हैं, वे सब प्रायः उद्भट के ही निकाले हुए हैं[८] ।

इतना कहनेके बाद अब यह फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट उद्भट बड़े भारी विद्वान् और धुरंधर आलंकारिक थे । जिस किसी बड़े अलंकार ग्रन्थ को उठाकर देखिये, कहीं न कहीं भट्ट उद्भट का नाम अवश्य देखने मे आवेगा । इनका मत पीछे से उड-सा गया । जब लोग व्यंग्य

१—अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ४७ ।

२—अलंकारसार-लघुवृत्ति, पृ० ५५ ।

३—काव्यप्रकाश, ९ उल्लास ।

४—ध्वन्यालोक, पृ० ९६ ।

५—काव्यमीमांसा, पृ० २२ ।

६—काव्यमीमांसा, पृ० ४४, व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ४ ।

७—ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १३४ ।

८—P. V. Kane, Introd to साहित्यदर्पण p. XLIV.

को ही काव्य का आत्मा मानने लगे, तब अलंकारों का बाहरी उपकरण ठहराया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतना होनेपर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रही, यह क्या बहुत बड़ी बात नहीं है ?

इनके दो टीकाकारो का पता चलता है—

(१) **प्रतिहारेन्दुराज** - इनकी टीका का नाम लघुवृत्ति[1] है, जिसमें इन्होंने भामह, दण्डी, वामन, ध्वन्यालोक तथा रुद्रट के पद्यों को उद्धृत किया है। अन्तिम तीन ग्रन्थो के नाम का भी स्पष्ट निर्देश यहाँ मिलता है। ये कोंकण के निवासी तथा मुकुल भट्ट के शिष्य थे। ये मुकुल भट्ट भट्ट कल्लट के (नवम शतक का मध्यभाग) पुत्र तथा 'अभिधावृत्ति मातृका' के रचयिता थे। अतः मुकुल का समय हुआ नवम शतक का अन्तिम काल तथा प्रतिहारेन्दुराज का समय हुआ १० शतक का प्रारम्भकाल। अभिनवगुप्त के एक गुरु का नाम भट्टेन्दुराज था जो इनसे भिन्न प्रतीत होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ध्वनि से परिचित होने पर भी उसकी प्रधानता नहीं मानते थे। अतः ध्वनिवादी अभिनवगुप्त का उन्हें गुरु मानना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता।

(२) **राजानक तिलक**— इनकी टीका का नाम 'उद्भटविवेक' है[2]। यह टीका अल्पाक्षरा है जिसमें उद्भट के सिद्धान्त का संक्षिप्त विवेचन है। ये मध्ययुगी काश्मीरी आलोचक थे।

६—वामन

संस्कृत के आलकारिकों मे वामन का एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने रीति को काव्य की आत्मा मानकर साहित्य-जगत् मे एक नवीन सम्प्रदाय की स्थापना की, जो **रीति-सम्प्रदाय** के नाम से प्रसिद्ध है। इनके प्रतिद्वन्द्वी आचार्य उद्भट ने तो आलोचनाशास्त्र के एकदेश—अलंकार—पर ही ग्रन्थ-रचना कर कीर्ति लाभ किया, परन्तु वामनाचार्य ने आलोचनाशास्त्र के समस्त तत्त्वों को अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा से उद्भासित किया। इस दृष्टि से इनकी तुलना अलंकार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य भामह के साथ की जा सकती है। उद्भट और वामन, दोनों ही काश्मीरी थे और एक ही राजा जयापीड की सभा के सभा-पण्डित थे। परन्तु यह आश्चर्य है कि दोनों एक दूसरे के विषय मे मौन हैं। न तो वामन ने उद्भट के सिद्धान्त का अपने ग्रन्थ मे उल्लेख किया है और न उद्भट ने वामन के सिद्धान्त का निर्देश।

१—संस्करण काव्यमाला तथा बाम्बे संस्कृत सीरीज मे।

२—संस्करण गायकवाड़ सीरीज नं० ५५।

समय

वामन के समय का निरूपण पुष्ट प्रमाणों के आधार पर किया गया है। इनके समय की पूर्व अवधि महाकवि भवभूति (७००–७५० ई०) है जिनके एक पद्य[1] को वामन ने रूपक अलंकार के उदाहरण मे प्रस्तुत किया है। अतः वामन का भवभूति से पश्चाद्वर्ती होना न्यायसिद्ध है। राजशेखर ने (९२० ई०) काव्यमीमासा मे वामन के सम्प्रदाय के अन्तर्भुक्त आलकारिकों का उल्लेख 'वामनीयाः' शब्द से किया है। अभिनवगुप्त की समीक्षा से प्रतीत होता है कि आनन्दवर्धन से पहले ही वामन का आविर्भावकाल था। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे—

> अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत् पुरःसरः।
> अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥

इस श्लोक को उद्धृत किया है। इसके ऊपर लोचनकार का कहना है कि इस पद्य मे वामन के अनुसार आक्षेपालंकार है और भामह की सम्मति मे समासोक्ति अलकार है। इस आशय को अपने हृदय मे रखकर ग्रन्थकार ने समासोक्ति और आक्षेप, इन दोनों अलंकारों का यह एक ही उदाहरण दिया है[2]। अतः लोचनकार अभिनवगुप्ताचार्य की सम्मति मे वामन आनन्दवर्धन से (८५० ई०) पूर्ववर्ती हैं।

इस प्रकार इनका समय ७५० से ८५० ई० के बीच मे लगभग ८०० ई० के है। कल्हण ने राजतरंगिणी मे काश्मीर-नरेश जयापीड के मन्त्रियों मे वामन नामक मन्त्री का उल्लेख किया है[3]। काश्मीरी पण्डितों का यह प्रवाद है कि जिस वामन को जयापीड ने मन्त्रिकार्य मे नियुक्त किया था

१–इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-
रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।
अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
किमस्याः न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः ॥ उ० रा० च० १।३८।

२–वामनाभिप्रायेणायमाक्षेपः, भामहाभिप्रायेण तु समासोक्तिरित्यमुमाशयं हृदये गृहीत्वा समासोक्त्याक्षेपयोरिदमेकमेवोदाहरणं व्यतरत् ग्रन्थकृत्। लोचन, पृष्ठ ३७।

३–मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः ॥ राज-तरं० ४।४९७।

वे ही काव्यालकारसूत्र के रचयिता आलंकारिक वामन हैं। देश और काल की अनुकूलता के कारण हम इस प्रवाद को सत्य मानते हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जो व्यक्ति सरस्वती की साधना से लब्धप्रतिष्ठ हो, वह मन्त्रणा के महनीय कार्य में नियुक्त न किया जाय।

ग्रन्थ

वामन के ग्रन्थ का नाम है काव्यालंकारसूत्र। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि अलंकार शास्त्र के इतिहास मे यही एक ग्रन्थ ऐसा है जो सूत्रशैलीमे लिखा गया है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—सूत्र, वृत्ति और उदाहरण। इसमे दिये गये उदाहरण संस्कृत के प्रामाणिक काव्यों से उद्धृत किये गये हैं। सूत्र और वृत्ति दोनों की रचना स्वयं वामन ने की। इसका निर्देश ग्रन्थ के मंगल श्लोक मे ग्रन्थकार ने स्वयं किया है[1]। पीछे के आलकारिकों ने भी निःसन्देह रूप से वामन को ही वृत्ति का रचयिता स्वीकार किया है। प्रतिहारेन्दुराज ने वृत्ति मे उपलब्ध होनेवाले इस वाक्य को वामन की ही रचना स्वीकार किया है[2]। लोचनकार अभिनवगुप्त ने वामन के आक्षेप अलकार के उदाहरणों को—जो वृत्ति मे दिये गये हैं—वामन की ही रचना माना है। इससे स्पष्ट है कि वामन ने ही सूत्र तथा वृत्ति, दोनों की रचना स्वयं की।

यद्यपि यह ग्रन्थ इतना प्रसिद्ध तथा महत्त्वपूर्ण था तथापि मध्ययुग मे इसका प्रचार लुप्त हो गया था। कहा जाता है कि काश्मीर के प्रसिद्ध आलोचक मुकुल भट्ट ने कहीं से इसकी हस्तलिखित प्रति (आदर्श) प्राप्त कर इसका उद्धार किया। इसकी सूचना वामन के टीकाकार सहदेव ने दी है[3]।

वामन का ग्रन्थ पाँच अधिकरणों मे विभक्त है। प्रत्येक अधिकरण मे कतिपय अध्याय हैं। इस प्रकार पूरे ग्रन्थ मे पाँच अधिकरण, बारह अध्याय

१—प्रणम्य परमं ज्योतिर्वामनेन कविप्रिया।
काव्यालकारसूत्राणा स्वेषा वृत्तिर्विधीयते ॥ का० सू० मंगलश्लोक।

२—लक्षणाया हि झगित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्वं रहस्यमाचक्षते।
वामन, का० लं० सू० ४।३।८ की वृत्ति।

३—वेदिता सर्वशास्त्राणा भट्टोभून् मुकुलाभिधः।
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नाय समुद्धृतम् ॥
काव्यालंकारशास्त्र यत्तेनैतद्वामनोदितम्।
असूया तत्र कर्तव्या विशेषालोकिभिः क्वचित् ॥

तथा ३१९ सूत्र हैं। प्रथम अधिकरण मे काव्य के प्रयोजन तथा अधिकारी का वर्णन है। रीति को काव्य की आत्मा बतलाकर वामन ने रीति के तीन भेद तथा काव्य के अनेक प्रकारों का वर्णन किया है। दूसरा अधिकरण (दोष-दर्शन) पद, वाक्य तथा वाक्यार्थ के दोषों का दर्शन कराता है। तृतीय अधि-करण (गुणविवेचन) अलंकार और गुण के पार्थक्य का विवेचन कर शब्द तथा अर्थ के दशगुणों का पृथक्-पृथक् विस्तार के साथ विवरण प्रस्तुत करता है। चतुर्थ अधिकरण मे (आलंकारिक) अलकार का विस्तार से वर्णन है। पंचम अधिकरण मे (प्रायोगिक) संदिग्ध शब्दों के प्रयोग तथा शब्द-शुद्धि की समीक्षा है।

वामन ने अपने ग्रन्थ मे ऐतिहासिक तथ्यो का उल्लेख किया है। अर्थ-प्रौढ़ि के उदाहरण मे उन्होंने एक प्राचीन पद्य उद्धृत किया है जिसमे इन्होंने चन्द्रगुप्त के पुत्र को वसुबन्धु के आश्रयदाता के रूप मे प्रस्तुत किया है[1]। इस श्लोक की व्याख्या के प्रसग में ऐतिहासिको मे घनघोर वाद-विवाद-उठ खड़ा हुआ। अधिकाश विद्वानों की यही सम्मति है कि गुप्तवंशी नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम के पुत्र समुद्रगुप्त ही बौद्ध आचार्य वसुबन्धु के आश्रयदाता थे। इस ऐतिहासिक तथ्य का निर्धारण वामन की सहायता स हुआ है।

वामन का विशिष्ट मत

रीति सम्प्रदाय के उन्नायक होने के कारण वामन के कतिपय विशिष्ट सिद्धान्त हैं जिनमे पहला सिद्धान्त है।

(१) **"रीतिरात्मा काव्यस्य"**। रीति का सिद्धान्त आलोचना शास्त्र मे अत्यन्त प्राचीन है। भामह से पूर्वकाल में ही रीति सिद्धान्त की उद्भावना हुई थी परन्तु रीति काव्य की आत्मा है, इतना महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन वामन की निजी विशेषता है।

(२) भामह और दण्डी रीति के द्विविध भेद—वैदर्भी और गौड़ी—से ही परिचित थे। परन्तु वामन को पाञ्चाली रीति के आविर्भाव का श्रेय प्राप्त है। इसका वर्णन तथा समीक्षण वामन ने ही सर्वप्रथम किया।

१—साभिप्रायत्वं यथा—

"सोऽयं सम्प्रति चन्द्रगुप्ततनयश्चन्द्रप्रकाशो युवा।
जातो भूपतिराश्रयः कृतधियां दिष्ट्या कृतार्थश्रमः॥"

आश्रयः कृतधियामित्यस्य च वसुबन्धु-साचिव्योपक्षेपपरत्वात् साभिप्रायत्वम्। का० लं० सू० ३।२।२

(३) गुण और अलंकार दोनों ही काव्य के शोभाधायक तत्त्व माने जाते थे। इन दोनो के पार्थक्य के निर्देश का श्रेय वामन को ही प्राप्त है।

(४) वामन के पूर्व अलकार-जगत् में केवल दश गुण ही माने जाते थे परन्तु वामन ने अपने प्रतिभा के बल से दश शब्द-गुण और दश अर्थ-गुण— इस प्रकार बीस गुणों की उद्भावना की। यद्यपि वामन का यह मत पीछे के आलंकारिको को मान्य नहीं हुआ फिर भी उनकी मौलिकता में किसी का सन्देह नहीं हो सकता।

(५) अलकारों के विवेचन में भी इनकी मौलिकता दीख पडती है। इन्होने उपमा को मुख्य अलंकार माना है। अन्य समस्त अलंकार उपमा के ही प्रपञ्च स्वीकृत किये गये हैं।

(६) वक्रोक्ति के विषय में इनकी कल्पना नितान्त मौलिक और विलक्षण है। भामह और दण्डी वक्रोक्ति को अलकार का मुख्य आधार मानते थे परन्तु वामन ने इसे अर्थालकार के रूप मे माना है। उनका लक्षण है— सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः। अर्थात् सादृश्य से उत्पन्न होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कहलाती है।

(७) ये आक्षेप को दो प्रकार का मानते हैं। मम्मट ने इनमें से एक को प्रतीप अलंकार माना है और दूसरे को समासोक्ति।

(८) वामन काव्य मे रस की सत्ता के विशेष पक्षपाती हैं। अलंकार सम्प्रदाय में रस केवल बाह्य काव्य-साधन के रूप मे ही अगीकृत किया गया था, किन्तु वामन ने उसे कान्ति नामक गुण के रूप में स्वीकृत कर काव्य में रस को अधिक व्यापकता, अधिक स्थायिता तथा अधिक उपादेयता प्रदान की है। इन्ही विशिष्टताओं के कारण वामन अलंकार-जगत् के एक जाज्वल्यमान रत्न माने जाते हैं।

७—रुद्रट

आचार्य रुद्रट का नाम अलकारशास्त्र के इतिहास मे अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इन्होंने अलंकारों का सर्वप्रथम वैज्ञानिक श्रेणी-विभाग कुछ निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर किया था। इनके जीवनवृत्त के विषय मे हमारी जानकारी अत्यन्त अल्प है। इनके नाम से पता चलता है कि ये काश्मीरी थे। इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे गणेश और गौरी की वन्दना की है और अन्त मे भवानी, मुरारि और गजानन की। इससे पता चलता है कि ये

शैव थे। इनके टीकाकार नमिसाधु के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि इनका दूसरा नाम शतानन्द था[1]। इनके पिता का नाम था वामुकभट्ट तथा ये सामवेदी थे।

अलकार ग्रन्थो मे इनके मत का उल्लेख इतनी अधिकता से किया गया है कि इनके समय-निरूपण मे विशेष कठिनाई नहीं दीख पड़ती। मम्मट, धनिक तथा प्रतिहारेन्दुराज ने अपने ग्रन्थों मे इनके मत तथा श्लोकों का उद्धरण स्पष्टतः किया है परन्तु सबसे प्राचीन आलंकारिक जिन्होंने इनके मत तथा श्लोकों को उद्धृत किया है राजशेखर हैं। इन्होंने अपनी काव्यमीमासा मे रुद्रट के विशिष्ट मत का उल्लेख किया है कि काकु वक्रोक्ति एक विशिष्ट शब्दालंकार है[2]। वक्रोक्ति को शब्दालंकार के रूप मे मानने का प्रथम निर्देश हमें रुद्रट मे ही मिलता है। इस निर्देश से रुद्रट राजशेखर (९२० ई०) से पूर्ववर्ती आचार्य सिद्ध होते हैं। रुद्रट ध्वनि सिद्धान्त से सर्वथा अपरिचित है। आनन्दवर्धन ने न तो रुद्रट को अपने ग्रन्थ मे उद्धृत किया और न रुद्रट ने ही आनन्दवर्धन के विशिष्ट सिद्धान्तों का उल्लेख अपने विस्तृत ग्रन्थ मे किया। इससे यही प्रतीत होता है कि इनका आविर्भाव ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के पूर्व ही हो चुका था। अतः इनका समय आनन्दवर्धन (८५० ई०) से पहिले अर्थात् नवम शताब्दी के आरम्भ मे मानना उचित है।

ग्रन्थ

रुद्रट के ग्रन्थ का नाम काव्यालकार है जो इनकी एकमात्र कृति है। विषय की दृष्टि से यह बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत ग्रन्थ है; क्योंकि इसमे अलंकारशास्त्र के समस्त तत्त्वों का विशिष्ट निरूपण है। पूरा ग्रन्थ आर्या छन्द मे लिखा गया है जिनकी संख्या ७३४ है। इसमे अध्यायों की संख्या १६ है। इस ग्रन्थ मे काव्यस्वरूप, पाँच प्रकार के शब्दालंकार, चार प्रकार की रीति,

---

१—अत्र च चक्रे स्वनामांकभूतोऽयं श्लोकः कविनान्तर्भावितो
यथा—शतानन्द-पराख्येन भट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं सामाजा धीमता हितम्॥
काव्यालंकार ५।१२—१४ की टीका।

२—काकुवक्रोक्तिर्नाम शब्दालंकारोऽयम्॥ इति रुद्रटः।
का० मी० अध्याय ७, पृ० ३१।

पाँच प्रकार की अनुप्रास वृत्ति, यमक, श्लेष, चित्र, अर्थालंकार, दोष, दश प्रकार के रस, नायक-नायिका-भेद तथा काव्य के प्रकार का क्रमश: वर्णन भिन्न-भिन्न अध्यायों में किया गया है।

रुद्रट के काव्यालकार के ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है—(१) **रुद्रटालंकार—वल्लभदेव** की यह टीका अभी तक उपलब्ध नहीं हुई है। ये (वल्लभदेव) काश्मीर के मान्य टीकाकार हैं जिन्होंने कालिदास, माघ, मयूर तथा रत्नाकर के काव्यों पर प्रामाणिक व्याख्याये लिखी हैं। इनका समय दशम शताब्दी का प्रथमार्ध है। रुद्रट की सबसे प्राचीन टीका यही है। यदि इस टीका का पता लगा होता तो इससे अलंकार शास्त्र के सम्बन्ध मे अनेक नयी बातों का ज्ञान होता। (२) **नमिसाधु** की टीका—यही टीका उपलब्ध तथा प्रकाशित है। नमि साधु श्वेताम्बर जैन थे और शालिभद्र के शिष्य थे। इन्होंने अपनी टीका को रचना का समय ११२५ वि० (१०६९ ई०) दिया है[1]। इनकी टीका पाण्डित्यपूर्ण है जिसमे भरत, मेधाविरुद्र, भामह, दण्डी, वामन आदि मान्य आलकारिको के मत का निर्देश स्थान-स्थान पर किया गया है। (३) तीसरी टीका के रचयिता आशाधर हैं जो एक जैन यति थे और १३वीं शताब्दी के मध्य भाग मे विद्यमान थे।

रुद्रट को अलकार सम्प्रदाय का आचार्य मानना ही उचित है। ये यद्यपि रसयुक्त काव्य की महत्ता स्वीकार करते हैं और तदनुसार काव्य मे रसविधान का निरूपण बड़े विस्तार के साथ करते हैं तथापि इनका आग्रह अलंकार सिद्धान्त के ऊपर ही विशेष है। अलकारों का श्रेणी-विभाग करने का श्रेय आचार्य रुद्रट को है। इन्होने अर्थालंकारों को चार तत्त्वों—वास्तव, औपम्य, अतिशय और श्लेष—के आधार पर विभक्त करने का प्रयत्न किया है। यह श्रेणी-विभाग उतना वैज्ञानिक तो नहीं है, फिर भी अलंकारों के प्रति रुद्रट की सूक्ष्म दृष्टि का पर्याप्त परिचायक है।

रुद्रटने अनेक नवीन अलकारों की भी कल्पना की है। इन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलकार माना है जिसको मम्मट और आनन्दवर्धन ने अलंकार न मानकर गुणीभूत व्यङ्ग्य का ही एक प्रकार माना है। इनके नवीन अलंकार हैं—मत, साम्य एवं पिहित जिनका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में कहीं

१—पञ्चविंशति - संयुक्तैरेकादश - समाशतै।
विक्रमात् समतिक्रान्तैः प्रावृषीदं समर्थितम् ॥
टीका का अन्तिम श्लोक।

नहीं मिलता। इन्होंने कुछ प्राचीन अलंकारों के नवीन नाम दिये हैं। उदाहरणार्थ इनका व्याजश्लेष (१०।११) भामह की व्याजस्तुति है। अवसर अलंकार (७।१०३) मम्मट के उदात्त का दूसरा प्रकार है। इनकी 'जाति' मम्मट की स्वभावोक्ति है और पूर्व अलकार (९।३) अतिशयोक्ति का चतुर्थ प्रकार है। इस अलंकार-विधान के अतिरिक्त काव्य मे रस का विस्तृत विधान रुद्रट के ग्रन्थ की महती विशेषता है।

रुद्रभट्ट

रुद्रभट्ट की एकमात्र रचना शृंगार-तिलक है जिसके तीन परिच्छेदों मे रस का—विशेषतः शृगार-रस का—विस्तृत वर्णन किया गया है। प्रथम परिच्छेद मे नवरस, भाव तथा नायक-नायिका के विविध प्रकारों का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद मे विप्रलम्भ शृंगार का तथा तृतीय में इतर रसों का तथा वृत्तियों का वर्णन है। नाम की तथा विषय की समता के कारण अनेक पश्चिमी विद्वानों ने (रुद्रभट्ट को) रुद्रट से अभिन्न व्यक्ति माना है। सुभाषित ग्रन्थों मे एक के श्लोक दूसरे के नाम से दिये गये हैं जिससे इन दोनों के विषय में और भी भ्रान्ति फैल गई है।

दोनों के ग्रन्थों के गाढ़ अनुशीलन से इस भ्रान्ति का निराकरण भली भाँति किया जा सकता है। आलोचनाशास्त्र के विषय में दोनों आचार्यों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न हैं। रुद्रट की दृष्टि में काव्य का विशिष्ट उपादेय अंग है अलंकार और इसी कारण इन्होंने अपने ग्रन्थ के ग्यारह अध्यायों मे इस तत्त्व का विवेचन किया है। अन्तिम अध्याय में इन्होंने रस का वर्णन सामान्य रूप से किया है। उधर रुद्रभट्ट की आलोचना का मुख्य आधार है रस और विशेषतः शृंगार रस। इसीलिए इन्होंने काव्य के अन्य अंगों की अवहेलना कर रस का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। इस प्रकार रुद्रभट्ट की दृष्टि रुद्रट की अपेक्षा बहुत ही संकुचित तथा सीमित है। रुद्रट ने काव्य के समग्र अगो का सागोपाग विवेचन प्रस्तुत किया है तो रुद्र या रुद्रभट्ट ने काव्य के केवल एक ही अग मे अपने को सीमित तथा संकुचित रखा है। तथ्य बात तो यह है कि रुद्रट एक महनीय तथा मौलिक आलंकारिक हैं और रुद्रभट्ट एक सामान्य कवि हैं जिन्होंने अपने विषय-विवेचन के लिए रुद्रट के ग्रन्थ से विशिष्ट सहायता ली है।

इन दोनों आचार्यों के ग्रन्थों में पर्याप्त पार्थक्य है। रुद्रट के ग्रन्थ के चार अध्याय 'शृंगारतिलक' के विषय से पूर्ण समानता रखते हैं। यदि इन दोनों

ग्रन्थों का रचयिता एक ही व्यक्ति होता तो काव्यालकार की रचना के अनन्तर शृंगारतिलक के लिखने का क्या प्रयोजन था ? विषय की भिन्नता ग्रन्थकारों की भिन्नता स्पष्ट प्रमाणित कर रही है। (१) शृंगारतिलक मे रुद्रभट्ट ने केवल नव रसों का वर्णन किया है परन्तु रुद्रट ने 'प्रेयः' नामक एक नवीन रस की उद्भावना कर रसों की संख्या दस कर दी है। (२) रुद्रभट्ट ने कैशिकी आदि चारों नाट्य-वृत्तियों का काव्य में उल्लेख किया है। उधर रुद्रट ने उद्भट के अनुसार पाँच वृत्तियों (मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता और भद्रा) का वर्णन किया है जो अनुप्रास के ही विविध प्रकार हैं। (३) नायिका-नायक के विभिन्न प्रकारों मे भी इसी प्रकार का भेद है। नायिका के तृतीय भेद वेश्या का वर्णन बड़े आग्रह से रुद्रभट्ट ने किया है परन्तु रुद्रट ने केवल दो श्लोकों मे वर्णन कर उसे तिरस्कार के साथ हटा दिया है। इन्हीं कारणों से रुद्रभट्ट को रुद्रट से भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत है।

इन दोनों ग्रन्थकारों के काल में भी पर्याप्त अन्तर है। हेमचन्द्र ही प्रथम आलकारिक हैं जिन्होंने 'शृंगारतिलक' के मंगल श्लोक को उद्धृत कर खण्डन किया है। अतः रुद्रभट्ट का काल दशम शताब्दी के पूर्व कदापि नहीं माना जा सकता है। परन्तु रुद्रट का समय नवम शताब्दी का आरम्भ-काल है जैसा कि पहले दिखलाया जा चुका है।

८—आनन्दवर्धन

ध्वनि-सिद्धान्त के उद्भावक के रूप मे आचार्य आनन्दवर्धन का नाम अलंकार शास्त्र के इतिहास मे सर्वदा अजर-अमर रहेगा। व्याकरण शास्त्र के इतिहास में जो स्थान पाणिनी को प्राप्त है तथा अद्वैत वेदान्त में जो स्थान शंकराचार्य को मिला है, अलकार शास्त्र मे वही स्थान आनन्दवर्धन का है। आलोचनाशास्त्र को एक नवीन दिशा मे ले जाने का श्रेय इन आचार्य को प्राप्त है। पण्डितराज जगन्नाथ का यह कथन यथार्थ है कि ध्वनिकार ने आलंकारिकों का मार्ग सदा के लिये व्यवस्थापित तथा प्रतिष्ठित कर दिया। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' एक युगान्तरकारी ग्रन्थ है।

आचार्य आनन्दवर्धन के देश और काल से हमें पर्याप्त परिचय है। ये काश्मीर के निवासी थे और काश्मीर-नरेश राजा अवन्तिवर्मा (८५५-८८४ ई०) के सभापण्डितों मे अन्यतम थे[1]। कल्हण पण्डित का राज-

१—मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥ राजतरंगिणी ५।४।

तरंगिणी में यह निर्देश सर्वथा मान्य और प्रामाणिक है। कल्हण पण्डित के उपर्युक्त मत की पुष्टि अन्य प्रमाणों से भी की जा सकती है। आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने अपने 'क्रमस्तोत्र' की रचना ९९१ ई० में की। आनन्दवर्धन के अन्य ग्रन्थ 'देवी शतक' के ऊपर कैयट ने ९९७ ई० के आस-पास व्याख्या लिखी। इतना ही क्यों, राजशेखर ने जिनका समय नवम शताब्दी का अन्त तथा दशम का आरम्भ है—आनन्दवर्धन के नाम तथा मत का स्पष्टतः उल्लेख किया है। इससे इनका समय नवम शताब्दी का मध्यभाग निश्चित रूप से सिद्ध होता है।

इन्होंने अनेक काव्य-ग्रन्थों की भी रचना की है जिनमे **'देवी शतक'**, **'विषम बाणलीला'** और **'अर्जुन चरित'** प्रसिद्ध हैं। परन्तु इनकी सर्वश्रेष्ठ और विख्यात रचना ध्वन्यालोक है जो इनकी कीर्ति की आधारशिला है। ध्वन्यालोक मे ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि विषयक प्राचीन आचार्यों-के मतों का निर्देश तथा युक्तियुक्त खण्डन है। यह उद्योत ध्वनि के इतिहास जानने के लिये नितान्त उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। दूसरे उद्योत में ध्वनि के विभेदों का विशिष्ट वर्णन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही साथ गुण तथा अलंकारों का विवेचन भी प्रसंग की पूर्ति के लिये ग्रन्थकार ने किया है। तृतीय उद्योत का विषय भी ध्वनि के विभेदों का विवेचन ही है।

इस उद्योत में काव्य के अन्य भेद गुणीभूत व्यङ्ग्य तथा चित्र-काव्य का वर्णन भी उदाहरणों के साथ दिया गया है। व्यंजना नामक नवीन शब्द-व्यापार की कल्पना काव्य-जगत् मे क्यों की गई? क्या अभिधा और लक्षणा के द्वारा काव्य के अभीष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती? इन प्रश्नों का युक्तियुक्त उत्तर आनन्दवर्धन ने इस उद्योत मे प्रस्तुत किया है। चतुर्थ उद्योत में ध्वनि के प्रयोजन का पर्याप्त विवेचन है। ध्वनि की सहायता से पूर्वपरिचित अर्थ में भी अपूर्वता का सचार होता है, नीरस विषय में भी रसवत्ता विराजने लगती है। ध्वनि-काव्य की रचना करने में ही कवि की अमर कला का विलास है। इसका निरूपण इस उद्योत मे है।

कारिकाकार तथा वृत्तिकार

ध्वन्यालोक के तीन भाग हैं—(१) कारिका, (२) गद्यमयी वृत्ति तथा (३) उदाहरण। इनमे उदाहरण तो संस्कृत के प्रामाणिक कवियों के प्रख्यात ग्रन्थों से लिये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति एक ही व्यक्ति की लेखनी

से प्रसूत हुए हैं या इनके रचयिता दो भिन्न व्यक्ति हैं? यह बड़े ही विवाद का विषय है। आलंकारिकों की परम्परा सर्वदा आनन्दवर्धन को ही कारिका तथा वृत्तिका अभिन्न रचयिता मानती आती है। परन्तु ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' मे कुछ निर्देश ऐसे अवश्य मिलते हैं जिनसे वृत्तिकार तथा कारिकाकार के पार्थक्यका आभास मिलता है[1]। अभिनवगुप्त ने वृत्तिग्रन्थ को कारिका ग्रन्थ से अलग माना है तथा वृत्तिकार के लिये ग्रन्थकृत् और कारिकाकार के लिये मूलग्रन्थकृत् शब्दो का व्यवहार किया है। इसी आधार पर काणे और डाक्टर डे ने कारिकाकार को वृत्तिकार से भिन्न व्यक्ति माना है[2]। वृत्तिकार का नाम आनन्दवर्धन है परन्तु कारिकाकार का नाम अज्ञात है। डाक्टर काणे ने कारिकाकार का नाम 'सहृदय' बतलाया है। परन्तु पिछले आलंकारिकों ने कारिका और वृत्ति के रचयिताओं मे किसी प्रकार का भेद न मानकर आनन्दवर्धन को ही समभावेन दोनों का निर्माता स्वीकार किया है। (१) राजशेखर ने आनन्दवर्धन के मत का उल्लेख करते समय एक श्लोक उद्धृत किया है जो 'ध्वन्यालोक' की वृत्ति में उपलब्ध होता है। राजशेखर ने आनन्दवर्धन को ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता माना है जिसका परिचय इस सुप्रसिद्ध पद्य से मिलता है—

ध्वनिनातिगभीरेण काव्य तत्त्वनिवेषिणा ।
आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥

(२) वक्रोक्ति जीवितकार (कुन्तक) भी वृत्तिकार को ध्वनिकार के नाम से ही पुकारते हैं। उन्होंने आनन्दवर्धन के एक पद्य को रूढ़ि शब्द-वक्रता का उदाहरण देकर स्पष्ट ही लिखा है—ध्वनिकारेण व्यंग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरा समर्थितः किं पौनरुक्त्येन—अतः कुन्तक की सम्मति में आनन्दवर्धन

१—कतिपय स्थलों का निर्देश यहाँ किया जा रहा है —

(क) न चैतन्मयोक्त, अपितु कारिकाकाराभिप्रायेणेत्याह तत्रेति। भवति मूलतो द्विभेदत्वं कारिकाकारस्यापि संमतमेवेति भावः।
लोचन पृ० ६० ।

(ख) उक्तमेव ध्वनिस्वरूपं तदाभासविवेकहेतुतया कारिकाकारोऽनुवद-तीत्यभिप्रायेण वृत्तिकृदुपस्कारं ददाति। लोचन पृष्ठ १२२ ।

२—काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० ५९ ।
डा० डे—हिस्ट्री आफ संस्कृत पोइटिक्स पृ० ११४ ।

ही ध्वनिकार सिद्ध होते हैं। (३) महिमभट्ट की सम्मति भी इसी मत की पोषिका है। महिमभट्ट काश्मीर के निवासी ही न थे प्रत्युत लोचन के रचयिता अभिनवगुप्त के समकालीन भी थे। उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' में 'ध्वन्यालोक' की कारिकायें तथा वृत्तिभाग को अनेक स्थानों पर उद्धृत किया है और उनके रचयिता को सर्वत्र ध्वनिकार के नाम से निर्देश किया है। (४) क्षेमेन्द्र ने भी जो अभिनवगुप्त के साहित्य शास्त्र के साक्षात् शिष्य थे और काश्मीरी पण्डितों की परम्परा से नितान्त अवगत थे 'औचित्यविचारचर्चा' मे 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं को आनन्दवर्धन के नाम से उद्धृत किया है। (५) हेमचन्द्र ने 'ध्वन्यालोक' की कारिका को आनन्दवर्धन की ही रचना माना है। (६) विश्वनाथ कविराज ने भी वृत्ति के लेखक को ध्वनिकार के नाम से उल्लिखित किया है। इतनी प्रौढ़ परम्परा के रहते हुए कारिका तथा वृत्ति के लेखकों मे भेद मानना कथमपि न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता।

९—अभिनवगुप्त

ध्वन्यालोक तथा नाट्यशास्त्र के व्याख्याता के रूप मे अभिनवगुप्त अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनकी व्याख्याये इतनी प्रौढ़, पाण्डित्यपूर्ण तथा तलस्पर्शिणी हैं कि वे मौलिक ग्रन्थों से भी अधिक आदरणीय हैं। अलंकारशास्त्र के इतिहास मे अभिनवगुप्त को वही श्लाघनीय स्थान प्राप्त है जो व्याकरण शास्त्र के इतिहास में पतञ्जलिको और अद्वैत वेदान्त के इतिहास मे भामतीकारको प्राप्त है। अभिनवगुप्त आलकारिककी अपेक्षा दार्शनिक अधिक थे। अतः जब उन्होंने अलकारशास्त्र मे ग्रन्थ-रचना की तब इस शास्त्र को एक निम्न स्तर से उठाकर दार्शनिक क्षेत्र में पहुँचाकर ऊँचा उठा दिया।

जीवनी

इनके देश, काल तथा जीवनवृत्त का परिचय हमे पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। इनके 'परात्रिंशिका विवरण' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि इनके पितामह का नाम वराहगुप्त था, पिता का नाम चुक्खल एव अनुज का नाम मनोरथ गुप्त था। इनके भिन्न-भिन्न शास्त्रों के भिन्न-भिन्न गुरु थे। इनके शैवदर्शन के गुरु लक्ष्मण गुप्त थे। 'लोचन' मे इन्होंने अपने अलंकारशास्त्र के गुरु का नाम भट्टेन्दुराज दिया है। भट्टेन्दुराज एक सा मान्य कवि नहीं थे, प्रत्युत महान् आलोचक थे। इसका परिचय 'लोचन' के शब्दों से ही मिलता है—यथा वा अस्मदुपाध्यायस्य विद्वद्कविसहृदयचक्रवर्तिनो भट्टेन्दुराजस्य। अभिनवगुप्त की लिखी

भगवद्गीता की टीका से पता चलता है कि भट्टेन्दुराज कात्यायन गोत्र के थे। इनके पितामह का नाम सौचुक और पिता का नाम भूतिराज था। 'लोचन' मे इन्होंने अपने गुरु के मत और श्लोको को अनेक बार उद्धृत किया है। 'ध्वन्यालोक' के सदिग्ध स्थलों के निराकरण के लिये अपने गुरु के मत का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार से किया है कि प्रतीत होता है कि शिष्य ने गुरु की मौखिक व्याख्या सुनकर ही इस महनीय टीकाका प्रणयन किया है। 'लोचन' के निर्माण की स्फूर्ति जिस प्रकार इन्हें भट्टेन्दुराज के व्याख्यानों से हुई, उसी प्रकार नाट्यशास्त्रकी टीका 'अभिनव-भारती' के निर्माण की प्रेरणा इन्हें अपने दूसरे साहित्य-गुरु भट्टतोत या भट्टतौत से मिली। 'अभिनव-भारती' के विभिन्न भागो मे इन्होंने अपने गुरु भट्टतौत के व्याख्यानों तथा सिद्धान्तों का उल्लेख बडे आदर तथा उत्साह से किया है। भट्टतौत अपने समय के मान्य आलकारिक थे, जिनकी महनीय कृति 'काव्य कौतुक' आज भी विस्मृति के गर्भ मे पडी हुई है। अभिनवगुप्त ने इसके ऊपर 'विवरण' नामक टीका भी लिखी थी जो मूल के समान ही अभी तक उपलब्ध नहीं है। यदि यह ग्रन्थ उपलब्ध हो जाय तो साहित्य शास्त्र की एक टूटी कडी का पता लग जाय।

काल

अपने कई ग्रन्थों का रचना-काल ग्रन्थकार ने स्वय दिया है। इन्होंने अपना 'भैरव स्तोत्र' ६८ लौकिक सवत् (९९३ ई०) मे लिखा। उत्पलाचार्य के 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा' नामक महनीय ग्रन्थ के ऊपर इन्होंने 'बिमर्षिणी' नामक जो बृहती वृत्ति लिखी है उसकी रचना ९० लौकिक संवत् तथा ४११५ कलि वर्ष (१०१५) मे हुई थी। काल-गणना का निर्देशक यही इनका अन्तिम ग्रन्थ है। इससे सिद्ध होता है कि इनका आविर्भावकाल दशम शताब्दी का अन्त तथा एकादश शताब्दी का आरम्भ-काल है।

इन्होंने दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है। इनके दार्शनिक ग्रन्थों मे 'ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्षिणी', 'तन्त्रसार', 'मालिनी विजयवार्तिक', परमार्थसार, 'परात्रिंशिका विवरण' त्रिक दर्शन के इतिहास मे नितान्त प्रामाणिक माने जात हैं। इनका विपुलकाय 'तन्त्रालोक' ग्रन्थ तन्त्र-शास्त्र का विश्वकोश है। साहित्य तथा दर्शन का सुन्दर सामञ्जस्य करने का श्रेय परम माहेश्वराचार्य आचार्य अभिनवगुप्त को प्राप्त है। सर्वतन्त्र स्वतन्त्र होने के अतिरिक्त ये एक अलौकिक पुरुष थे। ये अर्धत्र्यम्बक

मत के प्रधान आचार्य शम्भुनाथ के शिष्य और मत्स्येन्द्रनाथ सम्प्रदाय के एक सिद्ध कौल (तान्त्रिक) थे। साहित्यशास्त्र में इनकी महनीय कृतियाँ तीन ही हैं।

ग्रन्थ

(१) **ध्वन्यालोक-लोचन**—आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' की यह टीका सचमुच आलोचकों को लोचन प्रदान करती है क्योंकि बिना इसकी सहायता के ध्वन्यालोक के तत्त्वों का उद्घाटन नहीं हो सकता था। इस टीका में रसशास्त्र के प्राचीन व्याख्याकारों के सिद्धान्त—जिनकी उपलब्धि अन्यत्र होना नितान्त दुर्लभ है—एकत्र दिये गये हैं। यह टीका इतनी पाण्डित्यपूर्ण है कि कहीं-कहीं पर मूल की अपेक्षा टीका ही दुरूह हो गई है जिसे समझना अत्यन्त कठिन है। ध्वन्यालोक के ऊपर 'लोचन' से पहले चन्द्रिका नाम की टीका लिखी गई थी[1] और इसके लेखक इन्ही के कोई पूर्वज थे। 'लोचन' में इन्होंने इस टीका का खण्डन अनेक अवसरों पर किया है[2]। अन्त में इन्होंने यह भी स्पष्ट लिखा है—अलं निजपूर्ववंश्यैः विवादेन अर्थात् अपने पूर्वज के साथ अधिक विवाद करने से क्या लाभ ?

(२) **अभिनव भारती**—नाट्यशास्त्र के ऊपर एकमात्र यही उपलब्ध टीका है[3]। भरत के कठिन ग्रन्थ को समझने के लिए इस टीका का गाढ अनुशीलन अपेक्षित है। यह 'लोचन' के समान ही पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या है जिसमें प्राचीन आलंकारिकों तथा संगीतकारों के मतों का उपन्यास बड़ी ही सुन्दरता के साथ किया गया है। प्राचीन भारत की नाट्यकला—संगीत, अभिनय, छन्द, करण, अंगहार आदि—के रूप को यथार्थतः समझने के लिये इस टीका का अध्ययन तथा अनुशीलन नितान्त अपेक्षित है। परन्तु दुःख है कि यह टीका अभी भी विशुद्ध रूप में सम्पूर्णतया प्राप्त नहीं है। बड़ौदा से प्रकाशित टीका अभी तक अधूरी है। अभिनवभारती टीका नहीं, प्रत्युत

१—किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥
लोचन, प्रथम उद्योत का अन्तिम श्लोक।

२—लोचन पृ० १२३, १७४, १७८, १८५, २१५ (काव्यमाला सं०)

३—गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० ३६, ६८) बड़ौदा से प्रकाशित।

एक स्वतन्त्र मौलिक महाग्रन्थ है। भरत के ऊपर प्राचीन आलंकारिकों ने भी टीकाये लिखी थीं परन्तु ये सर्वथा उच्छिन्न हो गई हैं। इन टीकाओं का जो कुछ पता हमें चलता है वह 'अभिनवभारती' के उल्लेख से ही प्राप्त है। यह टीका नितान्त विशद, पाण्डित्यपूर्ण तथा मर्मस्पर्शिणी है।

(३) **काव्यकौतुक विवरण**—ऊपर हमने इनके गुरु भट्ट तौत का उल्लेख किया है। यह 'काव्यकौतुक' उन्हीं की रचना है जिसके ऊपर अभिनवगुप्त ने यह 'विवरण' लिखा है। परन्तु यह खेद का विषय है कि आज न तो यह मूल ग्रन्थ ही उपलब्ध है और न उसकी टीका ही। इसकी सत्ता का परिचय भी हमें अभिनव भारती के उल्लेख से मिलता है[1]।

१०—राजशेखर

राजशेखर महनीय नाटककार के रूप में ही अभी तक प्रसिद्ध थे। परन्तु इधर इनका एक अलकार ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है। यह ग्रन्थ इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसी के बल पर इनकी गणना प्रधान आलोचकों मे होने लगी है।

जीवनवृत्त

इनके काल तथा जीवनवृत्त का विशेष विवरण हमे उपलब्ध है। ये विदर्भ के निवासी थे। इनका कुल 'यायावर' के नाम से विख्यात था इसीलिये इन्होंने अपने मत का उल्लेख 'यायावरीय' के नाम से किया है। अकालजलद, सुरानन्द, तरल, कविराज आदि संस्कृत भाषा के मान्य कवियों ने इस वंश को अलंकृत किया था। ये महाराष्ट्र-चूडामणि कविवर अकाल जलद के प्रपौत्र थे तथा दुर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। चौहान वंशी अवन्तिसुन्दरी नामक एक क्षत्रिय विदुषी स्त्री से इन्होंने अपना विवाह किया था[2]। अवन्तिसुन्दरी संस्कृत तथा प्राकृत दोनों भाषाओं की विदुषी थी। अलंकार शास्त्र के विषय में भी उसके कुछ मौलिक सिद्धान्त थे जिसका उल्लेख राजशेखर ने अपनी काव्यमीमासा मे स्थान-स्थान पर किया है। ये निवासी तो थे विदर्भ (बरार) देश के परन्तु इनका कर्मक्षेत्र था कन्नौज

१—अभिनव भारती पृ० २९१ (प्रथम खण्ड)।

२—चाहुमानकुल मौलिमालिका राजशेखर-कवीन्द्रगेहिनी।
भर्तुः कृतिमवन्तिसुन्दरी सा प्रयोक्तुमेवमिच्छति॥
—कर्पूरमंजरी १।११ (संस्कृत)।

प्रदेश। यहीं के प्रतिहारवंशी नरेश महेन्द्रपाल तथा महीपाल (दशम शतक का प्रथमार्ध) के ये गुरु थे[1]। इस प्रकार इनके जीवनकाल मे ही इन्हें विशेष गौरव तथा सम्मान प्राप्त था।

काल

इस उल्लेख से इनके समय का निरूपण भली भाँति हो जाता है। सियोदोनी शिलालेख से ज्ञात होता है कि महेन्द्रपाल का राज्यकाल ९०७ ई० तक था तथा इनके पुत्र महीपाल ९१७ ई० में राज्य कर रहे थे। इनके समसामयिक होने से राजशेखर का भी यही समय (दशम शतक का पूर्वार्ध) है। इस प्रमाण के अतिरिक्त विभिन्न कवियों के राजशेखर-विषयक निर्देशों से भी इनके समय का निरूपण किया जा सकता है। इन्होंने काव्यमीमासा में काश्मीर-नरेश जयापीड़ (७७९ ई०—८१३ ई०) के सभापति उद्भट का तथा अवन्तिवर्मा (८५७–८८४ ई०) के सभा-पण्डित आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है। राजशेखर के मत का उल्लेख सबसे पहले सोमदेव ने अपने 'यशःतिलकचम्पू' मे किया है जिसकी रचना ९६० ई० मे हुई थी। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि राजशेखर लगभग ८८० ई० से लेकर ९२० ई० के बीच में थे।

इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है जिनमे (१) बालरामायण, (२) बालभारत, (३) विद्धशालभञ्जिका तथा (४) कर्पूरमंजरी मुख्य हैं। काव्यमीमासा इनका अलंकारशास्त्र का एकमात्र ग्रन्थ है जिसकी उपलब्धि आज से चालीस वर्ष पहले हुई। यह ग्रन्थ गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज (नं० १) बड़ौदा से प्रकाशित हुआ है।

राजशेखर ने काव्यमीमासा नामक ग्रन्थ १८ भागों या अधिकरणों मे लिखा था जिसका 'कविरहस्य' नामक केवल प्रथम अधिकरण ही उपलब्ध है। इस अधिकरण मे १८ अध्याय हैं जिनमे कवि तथा आलोचक के

१—आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यवारांनिधि-
स्त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवो यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः॥

—बालरामायण १।१८।

स्वरूप, प्रकार, काव्य के भेद, रीतिनिरूपण, काव्यार्थ की योनि, शब्दहरण तथा अर्थापहरण का विचार आदि अनेक उपादेय विषयों का नवीन तथा रोचक वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इस अधिकरण का नाम कविरहस्य यथार्थ है क्योंकि लेखक ने कवि के लिए आवश्यक समस्त सिद्धान्तों का एकत्र निरूपण बड़ी ही सुन्दरता तथा नवीनता के साथ किया है। इस ग्रन्थ मे कतिपय नूतन सिद्धान्त हैं। जैसे काव्यपुरुष की उत्पत्ति तथा साहित्य-विद्यावधू के साथ उसका विवाह संबध। प्राचीन काल मे इस ग्रन्थ का आदर खूब ही था क्योंकि हेमचन्द्र, वाग्भट्ट, भोजराज तथा शारदातनय आदि आलकारिकों ने इस ग्रन्थ से अनेक प्रसगों का पूरा का पूरा उद्धरण अपने ग्रन्थ म उठाकर रख दिया है। इस ग्रन्थ की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें अनेक अज्ञातनामा, अप्रसिद्ध आलंकारिकों का निर्देश किया गया है जिससे हम उनके नाम और सिद्धान्तों से अवगत हो सके हैं। राजशेखर भारत के प्राचीन भूगोल के बड़े भारी ज्ञाता थे। इसीलिए प्राचीन भारतीय भूगोल जानने की विपुल सामग्री इस ग्रन्थ में उपलब्ध होती है। राजशेखर बहुज्ञ आलंकारिक थे। भारत के विभिन्न प्रान्तों के कविगण काव्य का पाठ किस रीति से किया करते थे इसका रोचक विवरण हमे काव्यमीमासा के पृष्ठों मे ही उपलब्ध होता है।

११—मुकुलभट्ट

मुकुलभट्ट की एकमात्र कृति 'अभिधावृत्ति मातृका' है। इसमे केवल पन्द्रह कारिकाएँ हैं जिनके ऊपर ग्रन्थकार ने ही वृत्ति लिखी है। इसमे अभिधा तथा लक्षणा का विशिष्ट विवेचन है। ग्रन्थकार ने अपनी वृत्ति मे उद्भट, कुमारिल-भट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, महाभाष्य, विज्जका, वाक्यपदीय तथा शबरस्वामी जैसे ग्रन्थकार और ग्रन्थों का निर्देश किया है। किसी समय इस ग्रन्थ की इतनी ख्याति थी कि मम्मट ने काव्यप्रकाश मे लक्षणा के भेदों का विवेचन इसी ग्रंथ के आधार पर किया है। काव्यप्रकाश के 'लक्षणा तेन षड्विधा' तथा लक्षणा के स्वरूप का विवेचन 'अभिधावृत्तिमातृका' की सहायता के बिना कथमपि नही समझा जा सकता।

ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक से पता चलता है कि ग्रन्थकार के पिता का नाम भट्ट कल्लट था जो कल्हण पण्डित के अनुसार काश्मीर-नरेश अवन्तिवर्मा के (८५५–८८३ ई०) राज्यकाल मे उत्पन्न हुए थे तथा इस प्रकार आनन्दवर्धन

और रत्नाकर के समकालीन थे[1]। कल्हण के इस कथन के अनुसार मुकुलभट्ट को नवम शताब्दी के अन्त तथा दशम के आरम्भ में मानना उचित होगा। उद्भट के टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज का कथन है कि उन्होंने अलंकारशास्त्र की शिक्षा मुकुलभट्ट से पाई थी[2]। इन्होंने अपनी टीका के अन्तिम श्लोक में मुकुल-भट्ट की प्रशस्त प्रशंसा की है और उन्हें मीमांसा, व्याकरण, तर्क तथा साहित्य का प्रकाण्ड पण्डित निर्दिष्ट किया है। इस उल्लेख से मुकुल के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज का समय भी दशम शताब्दी के प्रथमार्ध में निश्चित होता है।

१२—धनञ्जय

धनञ्जय का 'दशरूपक' भरत नाट्यशास्त्र का सबसे प्राचीन तथा उपादेय सार-ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र इतना विपुलकाय ग्रन्थ है कि उसके भीतर प्रवेश करना विद्वानों के लिए भी कष्टसाध्य है। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए धनञ्जय ने दशरूपक की रचना की।

धनञ्जय के पिता का नाम विष्णु था। दशरूपक के टीकाकार धनिक भी अपने को विष्णु का ही पुत्र बतलाते हैं, जिससे प्रतीत होता है कि वे धनञ्जय के ही भाई थे। दशरूपक की रचना मुञ्ज के राज्यकाल में हुई थी[3] जो परमारवंश के सुप्रसिद्ध नरेश थे। मुञ्ज का समय ९७४ से ९९४ ई० तक है। यही समय दशरूपक की रचना का भी है। धनिक ने इस ग्रन्थ पर अपनी टीका कुछ वर्षों के अनन्तर लिखी थी, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि इन्होंने पद्मगुप्त परिमल के 'नवसाहसाङ्कचरित' के कुछ उद्धरण अपनी टीका में दिये है जिनकी रचना मुञ्ज के भाई तथा उत्तराधिकारी सिन्धुराज के समय में की गई थी।

१—अनुग्रहाय लोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अन्वन्तिवर्मणः काले सिद्धा भुवमवातरन्॥

राजतरंगिणी ५।६६

२—विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतिहारेन्दुराजेन काव्यालंकारसंग्रह॥ अन्तिम पद्य।

३—विष्णोः सुतेनापि धनंजयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत्॥

दशरूपक ४।८६।

धनञ्जय का एकमात्र ग्रन्थ दशरूपक है जिसमे चार प्रकाश या अध्याय और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। प्रथम प्रकाश मे सन्धि के पाँच प्रकार, उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तु का विवेचन है। द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका के भेद, चारों नाट्य-वृत्तियों तथा उनके अगों का वर्णन है। तृतीय में नाटक के दश प्रकारों का सागोपाग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाश मे नाटक के रस का विशिष्ट विवेचन है। रस निष्पत्ति के विषय मे धनञ्जय व्यंजनावादी नहीं हैं। ये तात्पर्यवादी ही हैं, विशेषतः भट्टनायक के मत से इनका सिद्धान्त मिलता है।

इस ग्रन्थ की टीका का नाम 'अवलोक' है जिसकी रचना धनञ्जय के ही भ्राता धनिक ने की है। यह टीका अनेक दृष्टियों से बडी ही उपादेय है। धनिकने 'काव्य-निर्णय' नामक एक अलकार ग्रन्थ का भी निर्माण किया था, जिसके अनेक श्लोक इन्होंने इस टीका में उद्धृत किये हैं। धनञ्जय के ग्रन्थ की प्रसिद्धि प्राचीन काल में बहुत ही अधिक थी। इसीलिए इस पर अनेक टीकाओं की रचना का पता चलता है। नृसिंह भट्ट, देवपाणि, कुरविराम की टीकाएँ उतनी महत्त्वपूर्ण भले ही न हों परन्तु बहुरूप मिश्र की टीका तो बहुत उपादेय तथा प्रमेयबहुल है। ये चारों ही टीकाएँ हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हैं जिनका प्रकाशन—कम से कम बहुरूप मिश्रकी टीका का—अत्यन्त आवश्यक है।

१३—भट्टनायक

आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त को न माननेवाले आलकारिकों मे भट्टनायक प्राचीनतम तथा अग्रगण्य हैं। परन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि इनका वह मौलिक ग्रन्थ जिसमे इन्होंने व्यंजना का खण्डन कर काव्य मे भावना-व्यापार को स्वीकार किया है, अभी तक कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है। इनके सिद्धान्त का परिचय अभिनवगुप्त के द्वारा 'अभिनवभारती' तथा 'लोचन' में मिलता है। इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदय-दर्पण' था जिसका पता पिछले आलकारिकों के निर्देशों से भली भाँति मिलता है। महिमभट्ट का कहना है कि उन्होंने 'हृदयदर्पण' का बिना अवलोकन किये ध्वन्यालोक के खण्डन का समस्त श्रेय प्राप्त करने की अभिलाषा से 'व्यक्ति-विवेक' का निर्माण किया।

सहसा यशोऽभिसर्तुं समुद्यताऽदृष्टदर्पणा मम धीः।
स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमिवावद्यम् ॥

इस पद्य में श्लेष के द्वारा यह आशय प्रकट किया गया है कि 'दर्पण' नामक ग्रन्थ मे ध्वनि के सिद्धान्त का मार्मिक खण्डन 'व्यक्ति-विवेक' की रचना के पूर्व ही किया जा चुका था। इस पद्य की व्याख्या 'दर्पण' के रहस्य को भली भाँति समझाती है—

दर्पणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वंसग्रन्थोऽपि।

'अलंकार-सर्वस्व' के टीकाकार जयरथ ने भट्टनायक को 'हृदयदर्पणकार' कहा है। इन दोनों निर्देशों से यही प्रतीत होता है कि जिस 'दर्पण' ग्रन्थ का उल्लेख महिमभट्ट ने किया है वह भट्टनायक का 'हृदय-दर्पण' ही था। भट्टनायक ने अपने ग्रन्थ को ध्वनि के सिद्धान्त का खण्डन करने के ही लिए लिखा था, इसका पता लोचन से भी लगता है। लोचन में भट्टनायक के मत का उल्लेख अनेक बार आया है। इन निर्देशों की समीक्षा हमें इसी सिद्धान्त पर पहुँचाती है कि भट्टनायक ने 'ध्वन्यालोक' का खण्डन बड़ी ही सूक्ष्मता तथा मार्मिकता के साथ किया था।

भट्टनायक काश्मीरी थे और आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के मध्य मे विद्यमान थे। अभिनवगुप्त ने इतना कटु तथा व्यक्तिगत आक्षेप इन पर किया है कि ये आनन्दवर्धन की अपेक्षा अभिनवगुप्त के समीप ही अधिक ज्ञात होते हैं। अतः इनका समय दशम शतक का मध्यकाल (९५० ई०) मानना नितान्त न्यायसंगत है। रस के विषय मे इनका स्वतन्त्र मत था जिसका खण्डन लोचन तथा अभिनवभारती दोनों मे किया गया है। इनके काव्य-सिद्धान्त का विस्तृत वर्णन अन्यत्र किया गया है[1]।

१४—कुन्तक

कुन्तक या कुन्तल अलंकारशास्त्र के इतिहास मे 'वक्रोक्ति-जीवितकार' के नामसे ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इनका विशिष्ट सिद्धान्त यह था कि वक्रोक्ति ही काव्य का जीवनाधायक तत्त्व है। इसीलिए इनका ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' के नाम से प्रसिद्ध है। यह ग्रन्थ अधूरा ही प्राप्त हुआ है परन्तु इसके उपलब्ध अंशों से ही कुन्तक की मौलिकता तथा सूक्ष्म विवेचन-शैली का पर्याप्त परिचय मिलता है। इस ग्रन्थ मे चार अध्याय या उन्मेष हैं जिनमें वक्रोक्ति के विविध भेदों का बड़ा ही सागोपाग विवेचन है। वकोक्ति का अर्थ है 'वैदग्ध्य-

---

१. बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग २, पृ० ३६८।

भंगीभणितिः' अर्थात् सर्वसाधारण के द्वारा प्रयुक्त वाक्यों से विलक्षण कहने का ढंग। वक्रोक्ति की मूल कल्पना भामह की है परन्तु उसे व्यापक साहित्यिक तत्त्व में विकसित करने का श्रेय कुन्तक को ही है। वक्रोक्ति के भीतर ही समस्त साहित्यिक तत्त्वों को अन्तर्भुक्त कर कुन्तक ने जिस विदग्धता का परिचय दिया है उसपर साहित्य-मर्मज्ञ सदा रीझता रहेगा।

समय

इनके समय का निरूपण ग्रन्थ में निर्दिष्ट आलंकारिकों की सहायता से भली भाँति किया जा सकता है। कुन्तक आनन्दबर्धन (८५० ई०) के ग्रन्थ तथा सिद्धान्त से भली भाँति परिचित थे[१]। राजशेखर के ग्रन्थों का उद्धरण 'वक्रोक्ति-जीवित' मे इतना बार किया गया है कि निःसन्दिग्ध रूप से कुन्तक राजशेखर के पश्चाद्वर्ती हैं। उधर महिमभट्ट ने कुन्तक के सिद्धान्त का पर्याप्त खण्डन किया है[२]। महिमभट्ट का समय ग्यारह शतक का अन्तिम भाग है। अतः कुन्तक का काल दशम शतक का अन्त तथा एकादश शतक का आरम्भ मानना उचित जान पड़ता है। अभिनवगुप्त के आविर्भाव का भी यही समय है। इस प्रकार दोनों समकालीन सिद्ध होते हैं। कुन्तक ने अभिनवगुप्त का न तो कहीं निर्देश किया है और न अभिनवगुप्त ने कुन्तक का। परन्तु 'लोचन' तथा 'अभिनवभारती' से प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्त कुन्तक की वक्रोक्ति के विभिन्न प्रकारों से परिचित थे[३]। अतः ये अभिनवगुप्त के समसामयिक होते हुए भी अवस्था मे उनसे कुछ वृद्ध मालूम पड़ते हैं।

ग्रन्थ

कुन्तक की एकमात्र रचना 'वक्रोक्ति-जीवित' है। इस ग्रन्थ मे चार अध्याय या उन्मेष है जिनमे से प्रथम दो उन्मेष तो पूर्ण रूप से उपलब्ध हुए हैं परन्तु

---

१. वक्रोक्ति-जीवित पृ० ८९।

२. काव्यकाञ्चनकषाश्ममानिना, कुन्तकेन निजकाव्य-लक्ष्मणि।
यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता, श्लोक एष स निदर्शितो मया॥

व्यक्ति-विवेक पृ० ५८।

३. तथा हि—'तटीतारं ताम्यति' इत्यत्र तटशब्दस्य पुंस्त्वनपुंसकत्वे अनादृत्य स्त्रीत्वमेवाश्रितं सहृदयैः स्त्रीति नामापि मधुरम् इति कृत्वा लोचन पृ० १६०। यह समीक्षा वक्रोक्तिजीवित पृ० ३३ के आधार पर है यद्यपि अभिनव ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

अन्तिम दो उन्मेष अधूरे ही मिले हैं। इस ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण प्रस्तुत करने के कारण डाक्टर सुशीलकुमार हमारे धन्यवाद के पात्र हैं[1]। इस ग्रन्थ में तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिका और वृत्ति कुन्तक की अपनी रचना है। उदाहरण संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थो से लिये गये हैं। प्रथम उन्मेष मे काव्य का प्रयोजन, साहित्य की कल्पना तथा वक्रोक्ति का लक्षण बड़ी सुन्दरता के साथ दिया गया है। वक्रोक्ति के छः भेद ग्रन्थकार ने माने हैं तथा इन सभी भेदों का सामान्य निर्देश इस उन्मेष मे किया गया है। द्वितीय उन्मेष मे वक्रोक्ति के प्रथम तीन प्रकार—वर्णविन्यासवक्रता, पदपूर्वार्धवक्रता तथा प्रत्ययवक्रता का वर्णन किया गया है। तृतीय उन्मेष मे वाक्यवक्रता का विस्तृत विवेचन पाया जाता है। वाक्यवक्रता के अन्तर्गत ही अलंकारों का अन्तर्निवेश किया गया है। कुन्तक ने अलंकारों की छानबीन एक नवीन दृष्टि से की है। इसके परिचय के लिए इस उन्मेष का गाढ़ अनुशीलन अपेक्षित है। चतुर्थ उन्मेष में वक्रोक्ति के अन्तिम दो प्रकार—प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रता का विशिष्ट विवरण प्रस्तुत किया गया है।

कुन्तक का वैशिष्ट्य वक्रोक्ति की महनीय कल्पना के कारण है। "वक्रोक्ति अलंकार का सर्वस्व तथा जीवन है", भामह की इस उक्ति से स्फूर्ति तथा प्रेरणा ग्रहण कर कुन्तक ने वक्रोक्ति का व्यापक विधान काव्य में निर्दिष्ट किया है। काव्य मे रस तथा ध्वनि के पूर्ववर्ती सिद्धान्तों से ये पूर्णतः अवगत थे। परन्तु काव्य में इन्हें पृथक् स्थान न देकर ये वक्रोक्ति के ही अन्तर्गत माने गये हैं। कुन्तक की विवेचना नितान्त मौलिक है। इनकी शैली अत्यन्त रोचक तथा विदग्धतापूर्ण है। इनकी आलोचना अलोकसामान्य भावकप्रतिभा की द्योतिका है। पिछले आलंकारिकों पर इनका प्रभाव पर्याप्त रूप में पड़ा है। इनकी वक्रोक्ति को ध्वनिवादी आचार्यों ने मान्यता भले ही न प्रदान की हो, परन्तु उसके विशिष्ट प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त मानकर उन लोगों ने कुन्तक के प्रति अपना सम्मान ही दिखलाया है।

१५—महिमभट्ट

ध्वनिविरोधी आचार्यों में महिमभट्ट का नाम अग्रगण्य है। 'व्यक्तिविवेक' की रचना का उद्देश्य ही ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन करना था। इस ग्रन्थ के

१—कलकत्ता ओरियण्टल सीरीज (नं० ९) में प्रकाशित।

(द्वितीय परिवर्धित सं० १९२८)

आरम्भ मे ही इन्होंने प्रतिज्ञा की है कि समस्त ध्वनि को अनुमान के अन्तर्भुक्त दिखलाने के लिए ही मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है—

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥

राजानक महिमक या महिमभट्ट साधारणतया काव्यग्रन्थों मे अपने ग्रन्थ के नाम के कारण 'व्यक्ति-विवेककार' के नाम से प्रसिद्ध हैं। राजानक उपाधि से ही प्रतीत होता है कि ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पिता का नाम श्रीधैर्य था और गुरु का नाम श्यामल था। इन्होंने भीम के पुत्र तथा अपने पौत्रों की व्युत्पत्ति के लिए इस ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने तत्त्वोक्ति-कोष' नामक एक अन्य अलंकार ग्रन्थ की भी रचना की थी[1] जिसका पता अभी तक नहीं चला है।

इनके मत का उल्लेख 'अलंकार सर्वस्व' मे रुय्यक ने किया है। अतः ये ११०० ई० से पूर्ववर्ती होंगे। इन्होंने 'बाल-रामायण' के पद्यों को उद्धृत किया है तथा 'वक्रोक्तिजीवित' और 'लोचन' के सिद्धान्तों का खण्डन किया है। अतः ये १००० ई० के बाद मे आविर्भूत हुए थे। अतः इनका समय ११वीं शताब्दी का मध्यकाल मानना उचित है।

ग्रन्थ

महिमभट्ट की एकमात्र कृति **व्यक्तिविवेक है**[2]। जैसा इसके नाम से प्रतीत होता है यह 'व्यक्ति' अर्थात् व्यञ्जना का 'विवेक' अर्थात् समीक्षण है। इस ग्रन्थ में तीन अध्याय या विमर्श हैं। प्रथम विमर्श में व्यंजना का मार्मिक खण्डन है। ध्वनि को ये लक्षणा से पृथक् नहीं मानते। अतः अनुमान के द्वारा समस्त ध्वनि-प्रकारों का विवरण दिखलाकर महिमभट्ट ने अपने प्रौढ़ पाण्डित्य का परिचय दिया है। द्वितीय विमर्श में अनौचित्य को काव्य का मुख्य दोष स्वीकार कर उसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन बड़े विस्तार के साथ

१—इत्यादि प्रतिभातत्वमस्माभिरुपपादितम् ।
शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम् ॥
व्यक्ति-विवेक पृ० ११८ (अनन्तशयन संस्करण)

२—रुय्यक की वृत्ति के साथ मूलग्रन्थ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इधर एक नवीन टीका (मधुसूदन मिश्र लिखित) के साथ यह ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ है।

किया गया है। अनौचित्य दो प्रकार का होता है—अर्थविषयक और शब्द-विषयक अथवा अन्तरंग और बहिरग। अन्तरंग अनौचित्य के भीतर रसदोष का अन्तर्भाव किया गया है। बहिरंग अनौचित्य पाँच प्रकार का होता है—(१) विधेयाविमर्श, (२) प्रक्रमभेद, (३) क्रमभेद, (४) पौनरुक्त्य और (५) वाच्यावचन। इन्हीं पाँचों दोषों के पाण्डित्यपूर्ण विवरण से यह विमर्श पूर्ण है। काव्य में दोष-निरूपण की दृष्टि महिमभट्ट की सचमुच अलौकिक है। मम्मट ने अपने काव्यप्रकाश में महिमभट्ट के इन सिद्धान्तों को पूर्णतया अपनाया है। आलोचकों में मम्मट के दोषज्ञ होने की प्रसिद्धि है—दोषदर्शने मम्मटः; परन्तु महिमभट्ट से तुलना करने पर यह गौरव आचार्य महिमभट्ट को ही देना उचित प्रतीत होता है। जिस आलोचक ने 'काव्यप्रकाश' की स्तुति मे यह प्रशस्त पद्य—

काव्यप्रकाशो यवनो काव्याली च कुलांगना।
अनेन प्रसभाकृष्टा, कष्टामेषाऽश्नुते दशाम् ॥—

लिखा है सम्भवतः उसे यह ज्ञात नहीं था कि व्यक्तिविवेक मे महिमभट्ट ने दोषों का निरूपण तथा व्यवस्थापन बड़ी प्रामाणिकता के साथ पहले ही कर दिया था जिसका ग्रहण मम्मट ने अपने सप्तम उल्लास मे किया है।

तृतीय विमर्श मे ग्रन्थकार 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-स्थापन पर टूट पड़ता है और इसमे से चालीस ध्वनि के उदाहरणों को लेकर यह दिखलाता है कि ये सभी अनुमान के ही प्रकार हैं।

'व्यक्तिविवेक' की एक ही प्राचीन टीका है और वह भी अधूरी ही मिली है। यह टीका मूल के साथ अनन्तशयन ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुई है। इस टीका-(वृत्ति) के रचयिता का नाम उपलब्ध नहीं है। परन्तु आन्तरिक परीक्षा से यह स्पष्ट होता है कि 'अलंकार-सर्वस्व' के रचयिता रुय्यक ने ही इस वृत्ति की रचना की थी। इस वृत्तिकार का कहना है (पृ० ३२) कि उसने साहित्य-मीमासा तथा नाटक-मीमांसा नामक ग्रन्थों की रचना की थी और ये ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व के (पृ० ६१) प्रामाण्यपर रुय्यक की ही रचना हैं। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ही व्यक्तिविवेक की टीका के रचयिता हैं। यह टीका बहुत ही पाण्डित्यपूर्ण है परन्तु टीकाकार ध्वनिवादी है। अतः मूलग्रन्थकर्ता के दृष्टिकोण से टीकाकार का दृष्टिकोण भिन्न होने के कारण उसने महिमभट्ट की कटु आलोचना की है। रुय्यक ने ध्वनिकार के मत का समर्थन करते हुए महिमभट्ट की बड़ी खिल्ली उड़ाई है।—तदेतदस्य विश्वमगणनीयं मन्यमानस्य स्वात्मनः सर्वोत्कर्षशालिताख्यापनमिति (पृष्ठ ४१)।

१६—क्षेमेन्द्र

विभिन्न विषयों के ऊपर विपुल काव्यराशि प्रस्तुत करनेवाले महाकवि क्षेमेन्द्र अलंकार-जगत् में औचित्य-विषयक महनीय कल्पना के कारण सदा प्रख्यात रहेंगे। इन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा के बल से अनेक उपदेशप्रद काव्यग्रन्थों का प्रणयन किया है। अलकार साहित्य मे इनकी विशिष्ट कृति 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' हैं। ये काश्मीर के निवासी थे। इनके पितामह का नाम सिन्धु और पिता का नाम प्रकाशेन्द्र था। ये पहले शैव थे। परन्तु अपने जीवन की सन्ध्या मे सोमाचार्य के द्वारा वैष्णवधर्म में दीक्षित किये गये। अपने समस्त ग्रन्थों मे इन्होंने अपना दूसरा नाम 'व्यासदास' लिखा है[1]। साहित्यशास्त्र मे ये अभिनवगुप्त के साक्षात् शिष्य थे[2]। इन्होंने अपने ग्रन्थों मे उनके रचनाकाल का भी उल्लेख किया है। 'औचित्यविचार-चर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' की रचना काश्मीर-नरेश अनन्त के (१०२८–१०६५ ई०) राज्यकाल मे की गई थी[3]। इन्होंने 'दशावतार-चरित' का रचनाकाल १०६६ ई० दिया है जब अनन्त के पुत्र तथा उत्तराधिकारी राजा कलश काश्मीर देश पर राज्य कर रहे थे। अतः क्षेमेन्द्र का आविर्भावकाल ११वें शतक का उत्तरार्ध है।

ग्रन्थ

इनका सबसे मौलिक ग्रन्थ 'औचित्यविचार-चर्चा' है। इसमें औचित्य के सिद्धान्त की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की गई है। काव्य मे औचित्य की कल्पना का प्रथम निर्देश हमें भरत मे उपलब्ध होता है। इसका विशदीकरण आनन्द-वर्धन के 'ध्वन्यालोक' में मिलता है। वहीं से स्फूर्ति ग्रहण कर ध्वनिवादी क्षेमेन्द्र

१—इत्येष विष्णोरवतारमूर्तेः काव्यामृतास्वादविशेषभक्त्या।
श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन, क्षेमेन्द्रनाम्ना विहितः प्रबन्धः॥
—दशावतारचरित १०।४१

२—श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणेः विद्याविवृति कारिण·॥
—बृहत्कथामञ्जरी १९।३७

३—तस्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः। —औ० वि० च०।
राज्ये श्रीमदनन्तराजनृपते· काव्योदयोयं कृतः॥ —कवि-कंठाभरण।

ने औचित्य के नाना प्रकारों का विशिष्ट विवेचन इस छोटे परन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ मे किया है। 'सुवृत्त-तिलक' छन्द के विषय मे इनका सुन्दर ग्रन्थ है जिसे 'वृत्त-औचित्य' के विषय मे 'औचित्यविचार-चर्चा' का पूरक ग्रन्थ समझना चाहिये। 'कविकण्ठाभरण' कवि-शिक्षा के विषय मे लिखा गया है। इसमे पाँच सन्धि या अध्याय हैं और ५५ कारिकाएं हैं। इसमे कवित्वप्राप्ति के उपाय, कवियों के भेद, काव्य के गुण-दोष का विवेचन संक्षेप में परन्तु सुबोध रीति से किया गया है। इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त इन्होंने 'कविकर्णिका' नामक ग्रन्थ अलंकार के ऊपर लिखा था। इसका उल्लेख 'औचित्यविचार-चर्चा' के द्वितीय श्लोक में उपलब्ध होता है परन्तु यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है।

अभिनवगुप्त के दर्शनशास्त्र में एक पट्टशिष्य थे जिनका नाम क्षेमराज था। इन्होंने शैवदर्शन के ऊपर अनेक ग्रन्थों की रचना की है तथा अभिनवगुप्त के 'परमार्थसार' ग्रन्थ पर व्याख्या लिखी है। नाम की समता के कारण कुछ लोग इन्हें क्षेमेन्द्र से अभिन्न व्यक्ति मानते हैं परन्तु यह उचित नहीं है। दोनों की धार्मिक दृष्टि में भेद था। क्षेमराज तो पक्के शैव थे परन्तु क्षेमेन्द्र वैष्णव थे। इसीलिए इन्होंने विष्णु के दशावतार के विषय मे अपना सुन्दर ग्रन्थ 'दशावतार-चरित' लिखा है। क्षेमेन्द्र के कौटुम्बिक वृत्त से हम भली भाँति परिचित हैं जिसका उल्लेख इन्होंने अपने अनेक ग्रन्थों में किया है। परन्तु क्षेमराज अपने विषय मे नितान्त मौन हैं। इन्ही कारणों से समकालीन तथा समदेशीय होने पर भी क्षेमेन्द्र और क्षेमराज दोनों भिन्न व्यक्ति हैं।

१७—भोजराज

धारानरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे प्रत्युत स्वयं एक प्रगाढ पण्डित तथा प्रतिभाशाली आलोचक भी थे। अलंकारशास्त्र में उनकी दो कृतियों हैं और ये दोनों ही अत्यन्त विशालकाय हैं। भोज का समय प्रायः निश्चित है। मुञ्जराज के अनन्तर राज्य करनेवाले 'नवसाहसाक' उपाधिधारी सिन्धुराज या सिन्धुल भोजराज के पिता थे। भोजराज के एक दान-पत्र का समय संवत् १०७८ (१०२१ ई०) है। भोज के उत्तराधिकारी जयसिंह का एक शिलालेख संवत् ११११२ (१०५५ ई०) का मिला है। इससे सिद्ध होता है कि १०५४ ई० भोज की अन्तिम तिथि है। अर्थात् भोज का आविर्भाव-काल ११वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है।

ग्रन्थ

भोज ने अलंकारशास्त्र-सम्बन्धी दो ग्रन्थों की रचना की है—(१) **सरस्वती-कण्ठाभरण**[1] और (२) **शृंगार-प्रकाश**[2] । सरस्वतीकण्ठाभरण रत्नेश्वर की टीका के साथ काव्यमाला मे प्रकाशित हुआ है। यह ग्रन्थ पाँच परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में दोषगुण का विवेचन है। इन्होंने पद, वाक्य और वाक्यार्थ प्रत्येकके १६ दोष माने हैं। शब्द तथा अर्थ के पृथक्-पृथक् २४ गुण माने हैं। दूसरे परिच्छेद मे २४ शब्दालंकारों का वर्णन है। तीसरे परिच्छेद में २४ अर्थालकारों तथा चतुर्थ में २४ उभयालंकारों का विवेचन है। पंचम परिच्छेद मे रस, भाव, पञ्चसन्धि तथा चारों वृत्तियों का विवरण प्रस्तुत किया है। सरस्वती-कण्ठाभरण मे इन्होंने प्राचीन ग्रन्थकारों के लगभग १५०० श्लोकों को उद्धृत किया है। भोज की दृष्टि समन्वयात्मिका है। इन्होंने अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए प्राचीन आलंकारिकों के मतों का समावेश अपने ग्रन्थ में अधिकता से किया है। परन्तु इनके सबसे प्रिय उपजीव्य आलंकारिक दण्डी हैं जिनके काव्यादर्श का आधा से अधिक भाग उदाहरण के रूप मे इन्होने उद्धृत किया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक मूल्य कुछ कम नहीं है, क्योंकि इस ग्रन्थ मे आये हुए उद्धरणों की सहायता से संस्कृत के अनेक कवियों का समयनिरूपण हम बड़ी आसानी से कर सकते हैं।

भोजराज की दूसरी कृति **शृंगार-प्रकाश** है। यह ग्रन्थ हस्तलिखित रूप मे सम्पूर्णतया प्राप्त है परन्तु यह अभीतक प्रकाशित नहीं हुआ है। डा० राघवन् ने इसके ऊपर जो अपनी थीसिस (निबन्ध) लिखी है उसीसे इस ग्रन्थ का पूरा परिचय प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों मे सबसे बडा, विस्तृत तथा विपुलकाय है। इसमे ३६ अध्याय या प्रकाश हैं। प्रथम आठ प्रकाशों मे शब्द और अर्थ विषयक अनेक वैयाकरण सिद्धान्तों का वर्णन है। नवम और दशम प्रकाश मे गुण और दोष का विवेचन है। एकादश और द्वादश परिच्छेद मे महाकाव्य तथा नाटक का वर्णन क्रमशः दिया गया है।

१—सरस्वती-कण्ठाभरण—काव्यमाला (नं० ९४) निर्णयसागर से प्रकाशित।

२—यह ग्रन्थ अभी तक पूरा अप्रकाशित है। केवल तीन परिच्छेद (२२—२४ प्रकाश) मैसूर से १९२६ में प्रकाशित हुए हैं। ग्रन्थ के विवरण के लिए देखिए—डा० राघवन का 'शृंगार-प्रकाश' नामक अंग्रेजी ग्रन्थ।

अन्तिम चौबीस प्रकाशों मे रस का उदाहरण से मण्डित बड़ा ही सागोपांग वर्णन है। श्रृंगार-प्रकाशको अलंकारशास्त्र का विश्वकोष कहना अनुचित न होगा, क्योंकि इसमें प्राचीन आलंकारिकों के मतों के साथ नवीन मतों का समन्वय कर एक बडा ही भव्य विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में भोज को हम समन्वयवादी आलंकारिक मान सकते हैं। इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के मतों को ग्रहण कर उनके परस्पर समन्वयका विधान बड़ी युक्ति के साथ किया है। काव्य के विविध अगोंपर इनके नवीन मत हैं। इनका सबसे विशिष्ट मत यह है कि श्रृंगाररस ही समस्त रसों मे एकमात्र रस है—

> श्रृङ्गारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्य-
> बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
> आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु ,
> श्रृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः ॥

परन्तु यह श्रृंगार साधारण श्रृगार से भिन्न है। **श्रृंगार को ये अभिमानात्मक मानते हैं** और इसी विशिष्ट मत के निरूपण के लिए इन्होंने अपना विपुलकाय ग्रन्थ 'श्रृंगार-प्रकाश' लिखा है। श्रृंगार-प्रकाश की तो टीका नहीं मिलती परन्तु सरस्वतीकण्ठाभरण की रत्नेश्वरकृत टीका उपलब्ध है तथा मूल ग्रन्थके साथ प्रकाशित भी है[1]। यह टीका तिरहुतके राजा रामसिंह देव के आग्रहपर लिखी गई थी। यह टीका प्रामाणिक है तथा ग्रन्थ को समझने मे विशेष सहायक है।

१८—मम्मट

अलंकार-शास्त्र के इतिहास में मम्मट के काव्यप्रकाश का स्थान बडा ही गौरवपूर्ण है। अलंकार जगत्मे अब तक जो सिद्धान्त निर्धारित किये गये थे उन सबका दिग्दर्शन कराते हुए काव्य के स्वरूप तथा अंगोंका यथावत् विवेचन मम्मट ने अपने ग्रन्थ मे किया है। यह ग्रन्थ उस मूल स्रोत के समान है जहाँसे काव्य-विषयक विभिन्न काव्य-धारायें फूट निकलीं। ध्वनि-सिद्धान्त की उद्भावना के अनन्तर भट्टनायक तथा महिमभट्ट ने ध्वनि को ध्वस्त करने की जो युक्तियाँ दी थीं, उन सबका खण्डन कर मम्मट ने ध्वनि-सिद्धान्त प्रतिष्ठापित किया। इसी कारण वह 'ध्वनि-प्रस्थापन-परमाचार्य'की उपाधिसे विभूषित किये गये हैं।

वृत्त

मम्मट का कौटुम्बिक वृत्त विशेष उपलब्ध नहीं होता। इनके टीकाकार भीमसेन ने मम्मट को कैय्यट उव्वट का ज्येष्ठ भ्राता तथा जैय्यट का पुत्र बतलाया है। परन्तु यह कथन विशेष महत्त्व नहीं रखता। क्योंकि उव्वट ने अपने ऋक्प्रातिशाख्य के भाष्य मे अपने को बज्रट का पुत्र लिखा है, न कि जैय्यट का। काश्मीरी पण्डितों की परम्परा के अनुसार मम्मट नैषधीयचरित के रचयिता श्रीहर्ष के मामा माने जाते हैं परन्तु यह भी प्रवादमात्र है। क्योंकि यदि श्रीहर्ष काश्मीरी होते तो काश्मीर मे जाकर काश्मीरी विद्वानों की अपने ग्रन्थ के विषय मे सम्मति प्राप्त करनेका उद्योग ही क्यों करते?

मम्मट के प्रकाण्ड पाण्डित्य तथा व्यापक अनुशीलन के विषय मे कोई सन्देह नहीं कर सकता। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण के भी महान् मर्मज्ञ विद्वान् प्रतीत होते हैं। महाभाष्य और वाक्यपदीय का उद्धरण देना, शब्द सकेत के विषय मे वैयाकरणो के सिद्धान्त को मानना, वैयाकरणों को सर्वश्रेष्ठ विद्वान् स्वीकार करना इनके व्याकरण विषयक पक्षपात का यथेष्ट परिचायक है।

समय

मम्मट ने अभिनवगुप्त को (जो १०१५ ई० मे जीवित थे) तथा महाकवि पद्मगुप्त को (जिन्होंने १०१० ई० के आसपास अपना 'नवसाहसाक-चरित' लिखा) अपने ग्रन्थ में उद्धृत किया है। इन्होंने उदात्त अलकार क उदाहरण-विषयक पद्य मे विद्वज्जनों के प्रति की जानेवाली भोज की दानशीलता का उल्लेख किया है[१]। इससे स्पष्ट है कि मम्मट भोजके अनन्तर आविर्भूत हुए। काव्यप्रकाश के ऊपर सर्वप्रथम टीका माणिक्यचन्द्र सूरि की सकेतनाम्नी है जिसकी रचना १२१६ सवत् मे (११६० ई०) हुई थी। रुय्यक ने 'अलंकार-सर्वस्व' मे काव्यप्रकाश के मतका खण्डन किया है। इस प्रकार मम्मट का समय भोज (१०५० ई०) तथा रुय्यक के (११५० ई०) बीच में अर्थात् ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानना चाहिए।

ग्रन्थ

मम्मट की एकमात्र रचना काव्यप्रकाश है। इसमें दस उल्लास हैं तथा समस्त कारिकाओं की संख्या १५० के लगभग है। यह ग्रन्थ पाण्डित्य

१—यद् विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेः तत् त्यागलीलायितम्।

—काव्यप्रकाश, उल्लास १०।

तथा गम्भीरता मे अपना सानी नहीं रखता। इसकी शैली सूत्रात्मक है। अतः इसे समझने में बडी कठिनाई उपस्थित होती है। यही कारण है कि भाव-प्रकाशिनी ७० टीकाओं के लिखे जाने पर भी इसका भावार्थ अभी तक दुर्बोध बना हुआ है। अतः पण्डित मण्डली का काव्य-प्रकाश के विषय मे निम्नाकित कथन अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है—

काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे, टीकास्तथाप्येष तथैव दुर्गमः।

इस ग्रन्थ के प्रथम उल्लास मे काव्य के हेतु, लक्षण तथा त्रिविध भेद का वर्णन है। द्वितीय मे शब्द-शक्ति का विचार तथा विवेचन विस्तार के साथ किया गया है। तृतीय उल्लास मे शाब्दी व्यंजना है। चतुर्थ में ध्वनि के समस्त भेदों का तथा रस एवं भाव का विवेचन विस्तार से किया गया है। पंचम में गुणीभूत व्यंग्य काव्य की व्याख्या के अनन्तर व्यंजना को नवीन शब्द-शक्ति मानने की युक्तियाँ बडी प्रौढता तथा पाण्डित्य के साथ प्रदर्शित की गई हैं। षष्ठ उल्लास बहुत ही छोटा है और उसमे केवल चित्रकाव्य का सामान्य वर्णन है। सप्तम उल्लास मे काव्य-दोषों का वर्णन विस्तार के साथ है। यह उल्लास काव्यलक्षण के 'अदोषौ' पद की व्याख्या करता है। अष्टम उल्लास मे 'सगुणौ' की व्याख्या है। मम्मट के मत मे गुण केवल तीन ही होते हैं—माधुर्य, ओज तथा प्रसाद। इन्हीं के भीतर भरत-प्रतिपादित दशगुण तथा वामन-निर्दिष्ट बीस गुणों का अन्तर्भाव हो जाता है। नवम और दशम उल्लास मे क्रमशः शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का निरूपण उदाहरणों के साथ किया गया है। इस ग्रन्थ के उपर्युक्त साराश से उसकी व्यापकता का पता लग सकता है।

इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। उदाहरण तो नाना काव्य-ग्रन्थों से उद्धृत किये गये हैं। परन्तु कारिका और वृत्ति मम्मट की ही निजी रचनाएँ हैं। इन कारिकाओं में कहीं-कहीं भरत की कारिकाएँ सम्मिलित कर ली गई हैं। सम्भवतः इसी कारण बंगाल में यह प्रवाद उठ खडा हुआ था कि कारिकाएँ भरत-रचित हैं जिन पर मम्मट ने केवल वृत्ति की रचना की है। परन्तु यह बात ठीक नहीं है। पीछे के आलंकारिकों ने भी कारिकाकार और वृत्तिकार को एक ही माना है। हेमचन्द्र, जयरथ, विद्यानाथ, अप्पयदीक्षित, प्रण्डितराज जगन्नाथ इन सब मान्य आलंकारिकों ने कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना का श्रेय मम्मट को ही दिया है। अन्तरंग परीक्षा से भी यही मत उचित प्रतीत होता है। (१) चतुर्थ उल्लास मे रस का

निर्देश कर उसकी पुष्टि के लिए भरत के रससूत्र का निर्देश किया गया है—यथा तदुक्तं भरतेन। यदि भरत ही काव्यप्रकाश की कारिकाओं के रचयिता होते तो ऐसा निर्देश वे कभी नहीं करते। (२) दशम उल्लास में यह निम्न-कारिका मिलती है—

"साङ्गमेतन्निरङ्गन्तु शुद्धं माला तु पूर्ववत्।"

इस कारिका का आशय है कि रूपक का भी एक प्रभेद 'मालारूपक' होता है और यह मालारूपक पूर्व में निर्दिष्ट मालोपमा के समान ही होता है। परन्तु मालोपमा का वर्णन कारिका मे न होकर वृत्ति में ही पहले किया गया है। 'माला तु पूर्ववत्' से स्पष्ट है कि एक ही व्यक्ति वृत्ति तथा कारिका दोनों के लिखने के लिये उत्तरदायी है।

काव्यप्रकाश के अन्त मे यह पद्य उपलब्ध होता है जिसकी व्याख्या प्राचीन टीकाकारों ने भिन्न-भिन्न रूप से की है—

इत्येष मार्गो विदुषां विभिन्नोऽप्यभिन्नरूपः प्रतिभासते यत्।
न तद् विचित्रं यदमुत्र सम्यक्, विनिर्मिता सङ्घटनैव हेतुः॥

इसके ऊपर सबसे प्राचीन टीकाकार माणिक्यचन्द्र का कहना है कि यह ग्रन्थ दूसरे के द्वारा आरम्भ किया तथा किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा समाप्त किया गया। इस प्रकार दो व्यक्तियों के द्वारा रचित होने पर भी संघटना के कारण यह अखण्ड रूप मे प्रतीत हो रहा है—

"अथ चायं ग्रन्थोऽन्येनारब्धोऽपरेण च समर्थितः इति द्विखण्डोऽपि संघटनावशात् अखण्डायते[१]।"

काश्मीर के ही निवासी राजानक आनन्द ने अपनी टीका मे प्राचीन परम्परा का उल्लेख किया है और लिखा है कि मम्मट ने परिकर अलंकार (दशम उल्लास) तक ही काव्यप्रकाश की रचना की थी तथा अवशिष्ट भाग को अलक या अल्लट नामक पण्डित ने पूरा किया[२]। इसीलिए ग्रन्थ की

१—उपर्युक्त श्लोक की माणिक्यचन्द्र की संकेत टीका।

२—यदुक्तं—कृतः श्रीमम्मटाचार्यवर्यैः परिकरावधिः।
प्रबन्धः पूरितः शेषो विधायालकसूरिणा॥

अन्येनाप्युक्तम्—काव्यप्रकाशदशकोपि निबन्ध-कृद्भ्यां,
द्वाभ्यां कृतोऽपि कृतिनां रसतत्त्वलाभः।

पुष्पिका में काव्यप्रकाश राजानक मम्मट तथा अल्लट की सम्मिलित रचना माना गया है[१] । अर्जुनवर्मदेव के एक उल्लेख से प्रतीत होता है कि अल्लट ने मम्मट को सप्तम उल्लास की रचना मे भी सहायता दी थी[२] । इन निर्देशों से यही तात्पर्य निकलता है कि मम्मट को अपने ग्रन्थ के सप्तम तथा दशम उल्लास की रचना मे अल्लट की सहायता प्राप्त हुई थी ।

टीकाकार

काव्यप्रकाश के टीकाकारों की संख्या लगभग सत्तर है । प्राचीन काल मे काव्यप्रकाश पर टीका लिखना विद्वत्ता का मापदण्ड था । इसीलिए मौलिक ग्रन्थ लिखनेवाले आचार्यों ने भी काव्यप्रकाश के ऊपर टीका लिखकर अपने पाडित्य का परिचय दिया । इनमे कतिपय प्रसिद्ध टीकाकारों का उल्लेख यहाँ किया जाता है । (१) राजानक रुय्यक कृत संकेत टीका (२) माणिक्यचन्द्र सूरि कृत संकेत टीका—रचनाकाल संवत् १२१६ (११६० ई०) । (३) नरहरि या सरस्वतीतीर्थकृत बालचित्तानुरञ्जिनी टीका । रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्ध । (४) जयन्तभट्ट की टीका का नाम दीपिका है । रचनाकाल १३५० संवत् (१२९४ ई०) । जयन्तभट्ट गुजरात के राजा शार्ङ्गदेव के पुरोहित के पुत्र थे तथा कादम्बरी कथासार के रचयिता काश्मीर के जयन्तभट्ट से भिन्न हैं । (५) सोमेश्वर-कृत टीका का नाम काव्यादर्श है । रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्त-रार्ध है । (६) वाचस्पति मिश्र-कृत टीका । ये भामतीकार से भिन्न हैं परन्तु मैथिल ग्रन्थकार प्रतीत होते हैं । (७) चण्डीदास की टीका का नाम दीपिका है । ये विश्वनाथ कविराज के पितामह के अनुज थे । अतः इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्य भाग है । यह टीका सरस्वतीभवन सीरीज, काशी से आधी प्रकाशित हुई है । (८) विश्वनाथ कविराज की टीका का नाम काव्यप्रकाश-दर्पण है । इसका समय १४वें शतक का प्रथमार्ध है ।

१—इति श्रीमद्राजानकामल्लमम्मटरुचकविरचिते निजग्रन्थकाव्यप्रकाश-संकेते प्रथम उल्लासः ।

२—यथोदाहृतं दोषनिर्णये मम्मटालकाभ्यां—प्रसादे वर्तस्व । दूसरा संकेत—अत्र केचित् वायुपदेन जुगुप्साश्लीलमिति—दोषमाचक्षते । ······तदा वाग्देवतादेश इतिव्यवसितव्य एवासौ । किंतु ह्लादैकमयीवरलब्धप्रसादौ काव्यप्रकाशकारौ प्रायेण दोषदृष्टी ।—अमरुशतक की टीका ।

(९) गोविन्द ठक्कुर—इनकी महत्त्वपूर्ण टीका का नाम है—काव्य-प्रदीप, जिस पर वैद्यनाथ ने प्रभा तथा नागोजी भट्ट ने उद्योत नामक टीकाएँ लिखी हैं। गोविन्द ठक्कुर मिथिला के रहनेवाले थे। ये विश्वनाथ कविराज को अर्वाचीन ग्रन्थकार कहते हैं। प्रभाकरभट्ट ने (१६वीं शताब्दी) इनका उल्लेख अपने रसप्रदीप में किया है। अतः इनका समय १५वीं शताब्दी का अन्तिम भाग है। यह टीका काव्यमाला तथा आनन्दाश्रम-संस्कृत-सीरीज में प्रकाशित हुई है। (१०) भीमसेन दीक्षित—इनकी टीका का नाम है सुधासागर या सुबोधिनी; जिसकी रचना का समय १७२३ ई० है। यह टीका चौखम्भा, काशी से प्रकाशित हुई है। (११) इधर वामन पण्डित झलकीकर ने काव्यप्रकाश के ऊपर एक बडी सरल तथा सुन्दर टीका लिखी है जिसका नाम सुबोधिनी है। इस टीका की यह विशेषता है कि इसमें अप्रकाशित प्राचीन टीकाओं का उद्धरण देकर काव्यप्रकाश का मर्म अच्छी तरह से समझाया गया है। यह टीका बम्बई संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुई है। यह बडी ही लोकप्रिय टीका है।

काव्यप्रकाश के अतिरिक्त मम्मट ने एक अन्य ग्रन्थ की भी रचना की है जिसका नाम 'शब्दव्यापारविचार' है। यह ग्रन्थ बहुत ही छोटा है और शब्दवृत्तियों का समीक्षण प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ है।

१९—सागरनन्दी

नाटकलक्षण रत्नकोश—इनका नाटकविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ[1] है। ग्रन्थकार का नाम था सागर, परन्तु नन्दीवंश में उत्पन्न होने के कारण ये सागरनन्दी के नाम से विख्यात थे। उनका कहना है कि श्रीहर्ष, विक्रम, मातृगुप्त, गर्ग, अश्मकुट्ट, नखकुट्टक तथा बादर के मतानुसार भरत मुनि के सिद्धान्तों का अनुशीलन कर इस ग्रन्थ की रचना की गई है[2]। ये नाट्य के

१—माइलेस डिलन [Myles Dillon] (डबलिन के संस्कृताध्यापक) के द्वारा सम्पादित तथा आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित, १९३७।

२—श्रीहर्ष-विक्रमनराधिप-मातृगुप्त-
गर्गाश्मकुट्टनखकुट्टक-बादराणाम्।
एषां मतेन भरतस्य मतं विगाह्य
घुष्टं मया समनुगच्छत रत्नकोशम्॥

—ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक।

आचार्य प्रतीत होते हैं, परन्तु इनके मतों का परिचय नाट्यग्रन्थों में विरल ही है। इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित विषयों का पर्यालोचन किया गया है—रूपक, अवस्थापञ्चक, भाषाप्रकार, अर्थप्रकृति, अंक, उपक्षेपक, सन्धि, प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलकार, रस, भाव, नायिका के गुण तथा भेद, रूपक के भेद तथा उपरूपक के अन्य प्रकार। इस प्रकार नाटक के लिए आवश्यक उपकरणों का सरल वर्णन ग्रन्थ की विशेषता है।

सागरनन्दी के समय का निरूपण अनुमानतः किया गया है। नन्दी के द्वारा उद्धृत ग्रन्थकारों मे राजशेखर (९२० ई०) सबसे प्राचीन हैं। यह उनकी एक अवधि है। दूसरी अवधि का निरूपण नन्दी को अपने ग्रन्थों मे उद्धृत करनेवाले ग्रन्थकारों के समय से किया जा सकता है। सुभूति, सर्वानन्द, जातवेद, रायमुकुट, कुम्भकर्ण, शुभंकर तथा जगद्धर ने अपने ग्रन्थों में 'रत्नकोश' के मत तथा पद्य उद्धृत किये हैं। इनमे प्रथम चार अमरकोश के टीकाकार हैं। अन्य दो नाट्य तथा सगीत के रचयिता हैं। अन्तिम ग्रन्थकार ने मालतीमाधव तथा मुद्राराक्षस की अपनी टीका मे 'रत्नकोश' को अपना उपजीव्य बतलाया है। इनमे सुभूति का समय १०६० ई०—११५० ई० तक माना जाता है। अतः सुभूति के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण सागरनन्दी का समय ११ शतक के मध्यभाग से पूर्ववर्ती होना चाहिये। अतः इन्हें हम दशरूपक के कर्ता धनञ्जय का समकालीन अथवा किञ्चित् पूर्ववर्ती मान सकते हैं।

इनके ग्रन्थ मे प्रचलित नाट्यग्रन्थों से अनेक वैशिष्ट्य है। उदाहरणार्थ सागरनन्दी वर्त्तमान नरपति के चरित्र को नाटक के विषय बनाने के पक्ष में हैं, परन्तु अभिनवगुप्त की सम्मति इसके ठीक विपरीत है। वे वर्त्तमान राजा के चरित को नाटक की वस्तु बनाने के विरोधी हैं[1]। नन्दी ने वृत्तियों को रसों की दृष्टि से विभाजन के अवसर पर कोहल का अनुवर्तन किया है, भरत का नहीं। अभिनवभारती के अनुसार कोहल तथा भरत

१—वर्त्तमान-राजचरितं चावर्णनीयमेव। तत्र विपरीतप्रसिद्धिबाधया अध्यारोपितस्य अकिंचित्करत्वात् योगानन्दरावणादिविषयचरिताध्यारोपवत्। एतदर्थमेव प्रख्यातग्रहणं प्रकर्षद्योतकं पुनः पुनरुपात्तम्।

—अभिनवभारती १८।१२, पृ० ४१३।

मे इस प्रसंग मे मतभेद है[1]। अन्य सूक्ष्म भेद भी धनञ्जय के सिद्धान्त से इस ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। इस विवेचन से स्पष्ट है कि सागरनन्दी का ग्रन्थ हमारे शास्त्र के मध्य युग मे विशेष महत्त्वपूर्ण माना जाता था[2]।

२०—अग्निपुराण

पुराण भारतीय विद्या के आगार हैं। इनमे केवल भारतीय वैदिक धर्म का ही विशिष्ट विवेचन नहीं है, प्रत्युत वेद से सम्बद्ध अनेक विद्याओं का भी विवरण अनेक पुराणों में उपलब्ध होता है। विशेषतः अग्निपुराण तो प्राचीन भारत के ज्ञान और विज्ञान का विश्वकोष ही है। इसके कतिपय अध्याय मे साहित्य-शास्त्र का विवरण प्रस्तुत किया गया है। काव्यप्रकाश की 'आदर्श' टीका के रचयिता महेश्वर[3] ने तथा विद्या-भूषण की 'साहित्य-कौमुदी' की टीका 'कृष्णानन्दिनी'[4] में 'अग्निपुराण' साहित्य-शास्त्र का सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ निर्दिष्ट किया गया है जहाँ से स्फूर्ति तथा सामग्री ग्रहण कर भरत मुनि ने अपनी कारिकाओं की रचना की। परन्तु ग्रन्थ की तुलनात्मक परीक्षा से पिछले आलंकारिकों का यह मत प्रमाणसिद्ध नहीं जान पडता।

१—कोहल का मत—(रत्नकोश पृ० १०५९–६३)

वीराद्भुतप्रहसनैरिह भारती स्यात्
सात्त्वत्यपीह गदिताऽद्भुतवीररौद्रैः।
शृंगारहास्यकरुणैरपि कैशिकी स्या-
दिष्टा भयानकयुताऽरभटी सरौद्रा॥

अभिनयभारती ने इस पद्य की तृतीय पंक्ति के मत को मुनिमत से विरुद्ध होने से उपेक्षणीय माना है।

द्रष्टव्य, अभिनवभारती (द्वि० खण्ड, पृ० ४५२)

२—सागरनन्दी के काल-निर्णय के लिए द्रष्टव्य
New Indian Antiquary Vol. II No 6 (Sept. 1939) pp 412-419.

३—सुकुमारान् राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रं कारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिः प्रणीतवान्।

४—काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभिः निबन्ध।

अग्निपुराण के दस अध्यायों में (अध्याय ३३६–३४६) अलंकार शास्त्र से सबद्ध विषय का विस्तृत वर्णन किया गया है। ३३६ अध्याय मे काव्य का लक्षण, काव्य का भेद, कला, आख्यायिका तथा महाकाव्य का वर्णन किया गया है। ३३७ अध्याय मे नाट्यशास्त्र का विषय—यथा नाटक के भेद, प्रस्तावना, पाँच अर्थ-प्रकृति, पंचसन्धि वर्णित हैं। ३३८वे अध्याय मे रस का विवेचन तथा नायक, नायिकाभेद का वर्णन है। ३३९वे अध्याय मे चार प्रकार की रीति (पाचाली-गौड़ी-वैदर्भी और लाटी) तथा चार प्रकार की वृत्ति—भारती, सात्वती, कैशिकी तथा आरभटी—का वर्णन है। ३४०वे अध्याय मे नृत्य के अवसर पर होनेवाले अंग-विक्षेपों का विवरण है तथा अगले अध्याय मे चार प्रकार के अभिनय का सात्विक, वाचिक, आगिक तथा आहार्य का–उल्लेख है। ३४२वें अध्याय में शब्दालंकारों का विशेषतः अनुप्रास, यमक (दस भेद) तथा चित्र (सात भेद) वर्णन प्रस्तुत कर अगले दो अध्यायों में अर्थालंकार का निरूपण किया गया है। अन्तिम दो अध्यायों में (३४५–४६) गुण तथा दोष का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इन दसों अध्यायों मे ३६२ श्लोक हैं।

अग्निपुराण के इस साहित्यखण्ड की रचना कब हुई, यह एक विचारणीय प्रश्न है। इस अंश का लेखक साहित्य के किसी मौलिक सिद्धान्त का प्रतिपादक नहीं है प्रत्युत उसने इस भाग को उपयोगी बनाने के लिए अनेक प्राचीन आलंकारिकों के सिद्धान्तों का संग्रह-मात्र उपस्थित किया है। भरत-नाट्यशास्त्र के श्लोक तो अक्षरशः इसमें उद्धृत किये गये हैं। रूपक, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, अपह्नुति तथा समाधि अलंकारों के लक्षण वे ही हैं जो काव्यादर्श मे दिये गये हैं। रूपक, आक्षेप आदि कतिपय अलंकारों के लक्षण भामह से अधिकतर मिलते हैं। अग्निपुराण ध्वनि के सिद्धान्त से परिचित है परन्तु वह उसको काव्य में स्वतन्त्र स्थान न देकर आक्षेप, समासोक्ति आदि अलंकारों के भीतर ही समाविष्ट करता है। 'अलंकारसर्वस्व' के अनुसार यह मत भामह तथा उद्भट आदि प्राचीन आलंकारिकों का है। इतना ही नहीं, इस भाग में भोज के साहित्य-विषयक विशिष्ट सिद्धान्तों का समावेश उपलब्ध होता है। मम्मट ने काव्यप्रकाश मे विष्णुपुराण का तो उद्धरण दिया है, परन्तु अग्निपुराण का निर्देश कही नहीं किया है। अग्निपुराण को अलंकारशास्त्र का प्रमाणभूत ग्रन्थ मानकर इसको उद्धृत करनेवाले सर्वप्रथम आलंकारिक विश्वनाथ कविराज हैं। अग्निपुराण को धर्मशास्त्र के विषय में

प्रमाणभूत ग्रन्थ माननेवाले 'अद्भुतसागर' के रचयिता राजा बल्लालसेन हैं जिन्होंने इस ग्रन्थ को ११६८ ई० मे आरम्भ किया था। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि अग्निपुराण का यह साहित्य-विषयक अंश भोज तथा विश्वनाथ कविराज के मध्यकाल मे लिखा गया था। अर्थात् इस भाग की रचना १२०० ई० के आसपास मानना अनुचित न होगा। अग्निपुराण को प्राचीन मौलिक ग्रन्थ न मानकर एक सग्रह-ग्रन्थ मानना ही न्यायसंगत है।

२१—रुय्यक

रुय्यक मम्मट के पश्चाद्वर्ती काश्मीर के मान्य आलोचक हैं। इनका दूसरा नाम 'रुचक' था और उनके आलंकारिकों ने इसी नाम से उनका उल्लेख किया है। ये निश्चित रूप से काश्मीर के निवासी थे, क्योंकि इनके नाम के साथ जो 'राजानक' उपाधि सम्मिलित है वह काश्मीर के ही मान्य विद्वानों को दी जाती थी। ये राजानक तिलक के पुत्र थे जिन्होंने जयरथ के कथनानुसार (विमर्षिणी पृ० २४, ११५) उद्भट के ऊपर 'उद्भट-विवेक' या 'उद्भट-विचार' नामक व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था।

रचयिता—रुय्यक या मंखक ?

रुय्यक का "अलंकारसर्वस्व[1]" दो भागों मे विभक्त है—सूत्र और वृत्ति। 'ध्वन्यालोक' के समान यहाँ भी यही समस्या है कि रुय्यक ने केवल सूत्रों की ही रचना की अथवा वृत्ति की भी। 'अलंकारसर्वस्व' के प्रसिद्ध टीकाकार जयरथ ने रुय्यक को सूत्र तथा वृत्ति दोनों का रचयिता माना है। ग्रन्थ के मंगलश्लोक का उत्तरार्ध इसी मत को पुष्ट करता है। इस उत्तरार्ध का रूप यो हैं—निजालंकारसूत्राणा वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते। परन्तु दक्षिण भारत मे उपलब्ध होनेवाली 'अलकारसर्वस्व' की प्रतियों मे इसके स्थान पर "गुर्वलंकारसूत्राणा वृत्त्या तात्पर्यमुच्यते" लिखा मिलता है तथा उनकी पुष्पिका मे मंखक या मंखुक– जो काश्मीर-नरेश के सान्धिविग्रहिक थे—वृत्ति के रचयिता बताये गये हैं। इस प्रकार वृत्ति तथा सूत्रकार की एकता मे सन्देह उत्पन्न होता है।

श्रीकण्ठचरित के रचयिता राजानक मंख या मखक काश्मीर के निवासी थे तथा रुय्यक के शिष्य थे। यदि ये शिष्य नहीं होते, तो सम्भव

१— जयरथ की टीका के साथ निर्णयसागर से तथा समुद्रबन्ध की टीका के साथ अनन्तशयन-ग्रन्थमाला में प्रकाशित।

है कि यह मत उतना सारहीन नही दीख पडता परन्तु शिष्य होने से इस मत के सत्य होने मे सन्देह होता है। श्रीकण्ठचरित की रचना का काल है ११३५ ई० से लेकर ११४५ ई०। यहाँ हमें यह विचार करना है कि हम उत्तर भारत की परम्परा को सत्य माने जिसके अनुसार रुय्यक ने ही सूत्र और वृत्ति दोनो की रचना की थी या दक्षिण भारतीय परम्परा मे आस्था रखे जिसके अनुसार रुय्यक केवल सूत्रकार हैं और उनके शिष्य मंखक वृत्तिकार। काश्मीर की परम्परा निरवच्छिन्न है। परन्तु दक्षिण भारतीय परम्परा अव्यवस्थित है, क्योंकि दक्षिण भारत के ही मान्य आलंकारिक अप्पय दीक्षित ने रुय्यक को ही वृत्तिकार के नाम से उल्लिखित किया है। उधर जयरथ रुय्यक के देशवासी ही नहीं थे प्रत्युत उनसे एक शताब्दी के भीतर ही उत्पन्न हुए थे। अतः जयरथ को विशुद्ध परम्परा का ज्ञाता मानना नितान्त आवश्यक है। अलंकार ग्रन्थों में रुय्यक, रुचक तथा 'सर्वस्वकार' के नाम से तो अनेक बार उद्धृत किये गये हैं परन्तु आलकारिक रूप से मंखक का निर्देश कहीं भी प्राप्त नहीं होता। आलकारिकों का साक्ष्य दोनों को एक मानने के पक्ष मे है। 'अलंकार रत्नाकर' के रचयिता **शोभाकर** ने अलंकारसर्वस्व के सूत्र को और वृत्ति को एक ही कृति मानकर अनेकत्र खण्डन-मण्डन किया है। काव्यप्रकाश की टीका 'साहित्य चूडामणि' के कर्ता **भट्ट गोपाल** ने भी दोनों को एक ही माना है। विद्याधर, विद्यानाथ, विश्वनाथ, अप्पयदीक्षित आदि आलंकारिकों ने भी सूत्र और वृत्ति के रचयिता को अभिन्न व्यक्ति माना है और वह 'रुय्यक' के सिवा कोई अन्य नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि रुय्यक ने ही 'अलकारसर्वस्व' के सूत्र तथा वृत्ति की रचना स्वयं की है।

समय

रुय्यक के आविर्भाव-काल की सूचना अनेक स्थलों से प्राप्त होती है। इन्होंने मम्मट के काव्यप्रकाश पर 'काव्यप्रकाशसंकेत' नामक टीका लिखी थी जिससे इनका समय मम्मट के पश्चात् होना निश्चित है। रुय्यक ने अपने शिष्य मंखक के प्रसिद्ध महाकाव्य 'श्रीकण्ठचरित' से पाँच पद्यों को उदाहरण-रूप से अपने ग्रन्थों मे उद्धृत किया है। मंखक के काव्य के रचनाकाल की अन्तिम तिथि ११४५ ई० है। अतः अलंकारसर्वस्व की रचना इस तिथि से पहले नहीं हो सकती। अतः रुय्यक का काल १२वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

ग्रन्थ

रुय्यक ने अलंकारशास्त्र पर अनेक प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की जिनके नाम हैं—अलंकारमंजरी, अलंकारानुसारिणी नाटकमीमासा, हर्षचरितवार्तिक। इन ग्रन्थों का परिचय हमे रुय्यक और उनके टीकाकार जयरथ के निर्देशों से मिलता है। इनके प्रकाशित ग्रन्थों मे (१) सहृदयलीला—एक लघुकाय ग्रन्थ है जिसमें स्त्रियों के सौन्दर्य गुण तथा आभूषण का विशेष वर्णन है। **(२) साहित्यमीमांसा**—अनन्तशयन ग्रन्थमाला मे प्रकाशित (सन् १९३६) इस ग्रन्थ के ८ प्रकरण है। इसकी दो विशेषतायें हैं—प्रथमतः इसमे व्यञ्जना शक्ति का कही भी उल्लेख नहीं है, अपितु तात्पर्यवृत्ति का प्रतिपादन है जिससे रस की अनुभूति होती है (अपदार्थोऽपि वाक्यार्थो रसस्तात्पर्यवृत्तितः पृ० ८५)। द्वितीयतः अर्थालंकारो के अन्तर्गत थोड़े से ही अलकारों पर विचार है। सम्भवतः यह रुय्यक की आरम्भिक रचना है। सर्वस्व मे इन्होने ध्वनिवाद का आश्रय लिया है जो ग्रन्थकार के दृष्टिकोण के परिवर्तन का सूचक है। इस ग्रन्थ के प्रकरणों का विषय-विवेचन इस प्रकार है—कवि तथा रसिक के प्रभेद; वृत्त्यादि का लक्षण, दोष का विवेचन, गुण की मीमासा, अलंकार का विवेचन, रस और भाव का विवेचन, कवि की चार विशेषताये तथा आनन्द का रूप। इस प्रकार यह ग्रन्थ आलोचना के प्रकीर्ण विषयों का प्रतिपादन करता है और राजशेखर की 'काव्यमीमासा' की शैली का है। **(३) व्यक्तिविवेक टीका**—यह महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की व्याख्या है जो अब तक अधूरी ही मिली है। जयरथ ने इसका निर्देश 'व्यक्तिविवेकविचार' के नाम से किया है (विमर्शिणी पृ० १३)। यह वही टीका है जो अनन्तशयन ग्रन्थमाला मे मूलग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है। **(४) अलंकारसर्वस्व**—रुय्यक की कीर्ति का यही ग्रन्थ एकमात्र आधार है। यह अलकार-निरूपण के लिए बड़ा ही प्रौढ़ तथा प्रामाणिक ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ध्वनिसिद्धान्त का अनुयायी है और ग्रन्थ के आरम्भ मे उसने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत की बड़ी ही सुन्दर समीक्षा की है। इन्होंने मम्मट से अधिक अलंकारों का निरूपण इस ग्रन्थ मे किया है और साधारणतः इनका निरूपण मम्मट की अपेक्षा कही अधिक व्यापक तथा विस्तृत है। इन्होंने दो नये अलकारों की उद्भावना की है जिनके नाम विकल्प और विचित्र हैं। विश्वनाथ कविराज, अप्पय दीक्षित तथा विद्याधर आदि पिछले आलंकारिको ने रुय्यक के इस मान्य ग्रन्थ से प्रेरणा तथा स्फूर्ति प्राप्त की है और इनके मतों का उद्धरण अपने मत की पुष्टि के लिए दिया है।

(५) **काव्यप्रकाश संकेत**—यह टीका लघुटिप्पणी के रूप में है तथा काव्य-प्रकाश की सर्वप्रथम टीका है। विशेष ध्यान देने की बात है कि इसमे काव्य-प्रकाश के सिद्धान्तों की मीमासा है। पिछले युग के टीकाकार काव्यप्रकाश-कार को वाग्देवतावतार मानकर इनके वाक्यों को अक्षरशः मानते हैं और उनकी आलोचना नहीं करते। परन्तु रुय्यक की इस टीका मे मम्मट का स्थान-स्थान पर खण्डन अनेकशः लक्षित होता है।

टीकाकार

'अलंकारसर्वस्व' की व्याख्याएँ अनेक विद्वानों ने की हैं जिनमे (१) **राजानक अलक** सबसे प्राचीन प्रतीत होते हैं। इनके ग्रन्थ का अभी तक उल्लेख ही मिलता है। पूरे ग्रन्थ की उपलब्धि अभी तक नहीं हुई है। काव्यप्रकाश के सहलेखक अलक के साथ इनकी अभिन्नता मानने का पुष्ट प्रमाण अभी तक उपलब्ध नही हुआ।

(२) **जयरथ**—इनकी टीका का नाम विमर्शिणी है[1]। नाम के अनुसार ही यह रुय्यक के ग्रन्थ की वास्तविक समीक्षा करती है। यह बडी ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। जयरथ ने अभिनवगुप्त के विपुलकाय ग्रन्थ 'तन्त्रा-लोक' के ऊपर 'विवेक' नामक व्याख्या लिखी थी। इससे सिद्ध होता है कि ये केवल आलोचक ही न थे प्रत्युत "एक महनीय दार्शनिक भी थे। इनके पिता का नाम **शृंगाररथ** था जो अपने पूर्वजों के समान ही काश्मीर के राजा **राजराज** (राजदेव) के प्रधान सचिव थे। ये राजराज काश्मीर के निकट 'सतीसर' के राजहंस बताये गये हैं। मंख के अनुसार सतीसर उत्तर दिशा के मण्डनभूत काश्मीर का वह मण्डल है जहाँ ब्रह्मा ने सृष्टि-यज्ञ के अनन्तर अवभृथ स्नान किया था (श्रीकण्ठचरित ३।१)। जयरथ के विद्यागुरु थे संगधर और दीक्षागुरु थे श्री 'सुभटरत्न' जो इनके पिता के भी गुरु थे। जयरथ व्याकरण-न्याय आदि शास्त्रों के अतिरिक्त शैवागम और क्रमदर्शन के भी विशेषज्ञ विद्वान् थे, ऐसा तन्त्रालोक (भाग १२, पृ० ४३४–५) का मान्य कथन है। इनके समय का निर्णय कठिन नहीं है। राजराज का (जिन्हें ऐतिहासिक राजदेव के नाम से जानते हैं) समय १२०३ ई० से लेकर १२२६ ई० तक माना जाता है। जयरथ के पिता इन्हीं के मन्त्री थे और स्वयं

१—काव्यमाला नं० ३५ बम्बई से प्रकाशित।

जयरथ को भी इन्हीं से 'विवेक' लिखने का प्रोत्साहन मिला था। 'पृथ्वीराज-विजय' से विमर्शिणी में उद्धरण मिलता है। पृथ्वीराज का अवसान-काल ११९३ ई० है। अतः जयरथ का समय द्वादश शतक का अन्तिम भाग तथा त्रयोदश का प्रथम भाग मानना उचित है (११८० ई०–१२३० ई०)।

उन्होंने अपने पौत्र को पढ़ाने के लिए **'अलंकारोदाहरण'** नामक ग्रन्थ का प्रणयन किया। यह विमर्शिणी के अनन्तर लिखा गया था और विमर्शिणी मे प्रत्याख्यात अलंकारों का भी यहाँ बालावबोध के लिए संग्रह किया गया है। **विमर्शिणी** मे जयरथ ने शोभाकर के द्वारा अपने ग्रन्थ 'अलंकार-रत्नाकर' मे किये गये सर्वस्व के खण्डनों को मार्मिक रीति से ध्वस्त किया है। इस प्रकार शोभाकर के मतों का यहाँ मार्मिक खण्डन भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। जयरथ ने विमर्शिणी में **अलंकारसार** तथा **अलंकारभाष्य** नामक ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो अलकारसर्वस्व के अनन्तर लिखे गये थे। इनके मतों के तो वर्णन मिलते हैं, परन्तु रचयिताओं का पता नहीं है। इन दोनों ग्रन्थों ने शोभाकर और जयरथ दोनों को प्रभावित किया था। भाष्य मे 'संस्कार' तथा 'वितर्क' नामक दो नवीन अलंकारों का वर्णन किया गया है। यह सादृश्य और सादृश्येतर दोनों सम्बन्धों से लक्षण का उपयोग रूपक मे मानता है, जब कि सर्वस्व प्रथम प्रकार से ही। 'वास्तवत्वं नालकारः' इस ग्रन्थकार का मत है। फलतः ये 'विनोक्ति' को अलंकार नहीं मानते। पण्डितराज ने इन मतों को अपने ग्रन्थ मे निर्दिष्ट किया है (रसगंगाधर पृ० २३९ तथा ३६९)। इतिहास की दृष्टि से इन ग्रन्थों का क्रम यह है—अलंकारसर्वस्व–अलंकारसार–अलंकारभाष्य–अलंकाररत्नाकर–विमर्शिणी।

(३) **समुद्रबन्ध**—ये केरल देश के राजा रविवर्मा के राज्यकाल मे उत्पन्न हुए थे। इस राजा का जन्म १२६५ ई० मे हुआ था। अतः समुद्रबन्ध का समय १३वीं शताब्दी का अन्त तथा १४वी का आरम्भकाल है। जयरथ की टीका के समान पण्डित्यपूर्ण न होने पर भी यह व्याख्या मूल को समझने के लिए अत्यन्त उपादेय है[1]। समुद्रबन्ध अलंकार-शास्त्र के मान्य आचार्यों से पूर्ण परिचित थे। उनके उद्धरणों से यह बात स्पष्ट है।

(४) **श्री विद्याचक्रवर्ती**—इनकी टीका का नाम 'अलंकारसंजीवनी' या 'सर्वस्वसजीवनी' है। इसका उल्लेख दक्षिण भारत के पिछले आलंकारिकों

१—अनन्तशयन ग्रन्थमाला नं० ४० में प्रकाशित।

ने अपने ग्रन्थों मे किया है। इन्होंने मम्मट के ग्रन्थ के ऊपर भी 'सम्प्रदाय-प्रकाशिनी' नामक टीका लिखी है। मल्लिनाथ के द्वारा उद्धृत किये जाने के कारण इन्हें १४वीं शताब्दी के अन्तिम भाग से पूर्व में मानना चाहिए।

२२—हेमचन्द्र

समय

जैनधर्म के धुरन्धर विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अलंकार शास्त्र मे भी एक उपादेय ग्रन्थ की रचना की है। इनके देशकाल का परिचय हमें पूर्णतया प्राप्त है। ये गुजरात के अहमदाबाद जिले के धुन्धुक नामक गाँव में ११४५ वि० (१०८८ ई०) पैदा हुए थे। अनहिलपटन के चालुक्य नरेश जयसिह सिद्धराज की (१०९३–११४३ ई०) प्रार्थना पर इन्होंने अपना प्रसिद्ध 'सिद्धहेम' नामक व्याकरण बनाया। जयसिंह के उत्तराधिकारी राजा कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) इनके शिष्य थे। इनके आदेशानुसार भी इन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। हेमचन्द्र की मृत्युतिथि ११७२ ई० है। इस प्रकार इनका काल १०८८ ई० से ११७२ ई० है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[१] है जो सूत्रात्मक पद्धति से लिखा गया है। ग्रन्थकार ने इन सूत्रों पर स्वयं 'विवेक' नामक टीका लिखी है। यह ग्रन्थ आठ अध्यायों मे विभक्त है। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्य-हेतु, लक्षण तथा शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन है। द्वितीय में रस तथा उसके भेदों का सुन्दर विवरण है। तीसरे मे दोषों का निर्णय है तो चौथे में माधुर्य, ओज और प्रसाद नामक त्रिविध गुणों का वर्णन है। पॉचवे में छः प्रकार के शब्दालंकारोंका तथा छठे मे २९ प्रकार के अर्थालंकारों का विवेचन है। हेमचन्द्र ने सकर अलंकार के भीतर ही संसृष्टि को रखा है तथा दीपक के भीतर तुल्ययोगिता को। 'परावृत्ति' नामक एक नवीन अलकार की इन्होंने उद्भावना की है जिसके भीतर मम्मट का 'पर्याप्त' तथा 'परिवृत्ति' अलंकार दोनों आ जाते हैं। निदर्शन के भीतर प्रतिवस्तूपमा, दृष्टान्त तथा प्रसिद्ध

१—(क) काव्यमाला में प्रकाशित।
(ख) गुजरात से दो खंडों में प्रकाशित।

निदर्शना अलंकार का निवेश किया गया है। इन्होंने रस और भाव से सम्पर्क रखनेवाले रसवद् आदि अलंकारों को बिल्कुल छोड़ दिया है। सप्तम अध्याय में नायक और नायिका के भेदों का विवेचन कर अन्तिम अध्याय मे काव्य के भेद तथा उपदेशों का वर्णन उनके विशिष्ट लक्षण के साथ देकर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

काव्यानुशासन एक संग्रहग्रन्थ है जिसमें विशेष मौलिकता नहीं दीख पडती। ग्रन्थकार ने राजशेखर की काव्य-मीमासा, काव्यप्रकाश, ध्वन्यालोक, लोचन तथा अभिनवभारती से लम्बे-लम्बे उद्धरण अपने ग्रन्थ में दिये हैं। हेमचन्द्र ने इस ग्रन्थ की वृत्ति मे विभिन्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से लगभग १५०० पद्य उद्धृत किये हैं जिससे इनके अगाध पाण्डित्य का पता चलता है। पिछले आलकारिकों के ऊपर इनका प्रभाव बहुत ही कम पडा। अतः इनके मत का उल्लेख अन्य ग्रन्थकारों के द्वारा बहुत ही कम मिलता है। हेमचन्द्र में संग्राहकवृत्ति विशेष रूप से लक्षित होती है। ये अपने उपजीव्य ग्रन्थों के आवश्यक अंशों को अक्षरशः उद्धृत करते हैं—इतना सटीक तथा ठीक-ठीक कि इनके उद्धरणों की सहायता से हम मूलग्रन्थों के पाठों के शोधने मे कृतकार्य होते हैं। उदाहरणार्थ अभिनवभारती का रस प्रकरण 'काव्यानुशासन विवेक' में अक्षरशः पूरा का पूरा उद्धृत है और इसकी सहायता से मूल ग्रन्थ के वचनों का तात्पर्य बडी सुन्दरता से समझा जाता है जो अन्यथा असम्भव नहीं, तो दुःसम्भव अवश्य था।

२३—रामचन्द्र

रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति है **नाट्यदर्पण**[१]। इसमें चार विवेक या अध्याय हैं जिनमे नाटक, प्रकरणादिरूपक, वृत्तिरसभावाभिनय तथा रूपक के साधारण लक्षण का वर्णन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थ कारिकाबद्ध है जिस पर ग्रन्थकारों ने अपनी वृत्ति लिखी है। नाट्यविषयक शास्त्रीय ग्रन्थों मे नाट्यदर्पण का स्थान महत्त्वपूर्ण है। यह वह शृंखला है जो धनजय के साथ विश्वनाथ कविराज को जोडती है। इसमे अनेक विषय बडे महत्त्वपूर्ण हैं तथा

१—नाट्यदर्पण का प्रकाशन गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज में (संख्या ४८) बड़ौदा से १९२९ में हुआ है तथा नलविलास का भी प्रकाशन इसी ग्रन्थमाला में (संख्या २९) १९२६ ई० में हुआ है।

परम्परागत सिद्धान्तों से विलक्षण हैं जैसे रस का सुखात्मक होने के अतिरिक्त दुःखात्मक रूप। प्राचीन और अधुना लुप्तप्राय रूपकों के उद्धरण प्रस्तुत करने के कारण भी इसका ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। जैसे 'देवीचन्द्रगुप्त' नामक विशाखदत्त-रचित नाटक के बहुत से उद्धरण यहाँ मिलते हैं जिससे चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहले रामगुप्त की ऐतिहासिक स्थिति का पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होता है।

रामचन्द्र हेमचन्द्र के शिष्य थे तथा जैनधर्म के मान्य आचार्य थे। ये गुजरात के सिद्धराज (१०९३–११४३ ई०), कुमारपाल (११४३–११७२ ई०) तथा अजयपाल (११७२–७५ ई०) के समय मे वर्तमान थे। कहा जाता है कि कारणवश अजयपाल की ही आज्ञा से इन्हें प्राणदण्ड मिला था। सिद्धराज ने जब हेमचन्द्र से उनके उत्तराधिकारी (पट्टधर) के विषय मे पूछा तो हेमचन्द्र ने रामचन्द्र का ही नाम इस पद के लिए लिया। इनका आविर्भावकाल १२ शतक का मध्यभाग है। रामचन्द्र के सहयोगी गुणचन्द्र के विषय मे हम इतना ही जानते है कि ये दोनों हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र के किसी स्वतंत्र ग्रन्थका पता नहीं चलता, परन्तु रामचन्द्र तो 'प्रबन्धशतकर्ता' के नाम से जैन-साहित्य मे विख्यात हैं। इनके एकादश नाटकोंका निर्देश इसी ग्रन्थ मे उपलब्ध होता है जिनमे 'नलविलास' मुख्य है।

२४—शोभाकर मित्र

इनके प्रख्यात ग्रन्थ का नाम 'अलंकार रत्नाकर' है जिसका उल्लेख अप्पय दीक्षित ने तथा पण्डितराज ने 'रत्नाकर' के नाम से अपने ग्रन्थों में किया है। जयरथ ने इनके मत का बहुशः खण्डन अपनी 'विमर्शिणी' में अनेक स्थानों पर किया है जिससे इनका समय निश्चित रूप से जयरथ (१३ शती) से प्राचीन सिद्ध होता है। ये काश्मीर के निवासी प्रतीत होते हैं। काश्मीरी कवि यशस्कार ने इस ग्रन्थ के अलंकारों के उदाहरण देने के लिए 'देवीस्तोत्र' नामक काव्य का निर्माण किया। इनका 'अलंकार रत्नाकर' सूत्रवृत्ति के ढंग पर लिखा गया अभिनव शैली का ग्रन्थ है। इसमें लगभग एक सौ अलंकारों का निरूपण किया गया है जिनमे कुछ अलकार इनकी मौलिक कल्पना से प्रसूत हैं तथा कतिपय प्राचीन अलकारों के ही परिवर्तित अभिधान हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसी रत्नाकर के आधार पर 'असम' तथा 'उदाहरण' नामक नवीन अलंकारों की कल्पना की है परन्तु पण्डितराज इन्हें मान्यता नहीं देते।

अलंकार रत्नाकर में ऐसे अनेक अलंकार भी हैं जिनका उल्लेख न तो रुय्यक के 'अलकार सर्वस्व' मे है और न जयरथ के 'अलंकारोदाहरण' नामक ग्रन्थ मे । ऐसे अलंकारों की सूची इस प्रकार है—अचिन्त्य, अनुकृति, अभेद, अवरोह, अशक्य, आपत्ति आदि । जयरथ ने विमर्शिणी में इनके द्वारा स्वीकृत अभेद, प्रतिमा, वर्धमानक आदि अलंकारों का खण्डन किया है । परन्तु तुल्य, वैधर्म्य, प्रत्यूह, प्रत्यानीक आदि अलकारों का अक्षरशः लक्षण रत्नाकर के ही आधार पर किया है । इस प्रकार जयरथ के ऊपर शोभाकर मित्र का प्रभाव विशेषतः उल्लेखनीय है । तथ्य तो यह है कि अलंकारों के बिकास मे 'अलंकार रत्नाकर' एक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है जिसका अध्ययन करना नितान्त आवश्यक है ।

२५—वाग्भट

हेमचन्द्र के समकालीन एक दूसरे जैन आलकारिक हुए जिनका नाम वाग्भट है । उनकी एकमात्र कृति 'वाग्भटालंकार' है । इसके एक पद्य की टीका से पता चलता है कि इनका प्राकृत नाम **'बाहड़'** था[१] तथा ये सोम के पुत्र थे तथा किसी राजा के महामात्य पद पर प्रतिष्ठित थे । अपने ग्रन्थ मे इन्होंने स्वनिर्मित संस्कृत उदाहरणों के अतिरिक्त प्राकृत मे भी उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जिससे इनकी सस्कृत तथा प्राकृत, उभय भाषा की अभिज्ञता प्रकट होती है । नेमि-निर्वाण महाकाव्य से भी इन्होंने कई पद्य उद्धृत किये हैं । इस महाकाव्य के रचयिता कोई वाग्भट बतलाये जाते हैं । पता नहीं कि आलंकारिक वाग्भट ही इस महाकाव्य के रचयिता हैं अथवा कोई दूसरे वाग्भट । इस ग्रन्थ के उदाहरणों मे कर्ण के पुत्र, अनहिलवाड के अधिपति चालुक्यवंशी नरेश जयसिंह की स्तुति उपलब्ध होती है[२] जिससे प्रतीत होता है कि इनका

१—वंभण्डसुत्तिसंपुड–मुत्तिअ मणिणो पहासमूह व्व ।
सिरिबाहडत्ति तणओ आसि बुहो तस्स सोमस्स ।
इदानी ग्रन्थकार इदमलंकारकर्तृत्वख्यापनाय वाग्भटाभिधस्य महाकवेर्महामात्यस्य तन्नामगाथयैकया निदर्शयति । (४।१४८)

२—इन्द्रेण किं यदि स कर्णनरेन्द्रसूनु-
रैरावणेन किमहो यदि तद्‌द्विपेन्द्रः ।
दम्भोलिनाप्यलमलं यदि तत्प्रतापः
स्वर्गोप्ययं न तु मुधा यदि तत्पुरी सा ॥—४।७६

जयसिंह के साथ घनिष्ठ संबंध था। जयसिंह ने १०९३ ई० से ११४३ ई० तक राज्य किया था। अतः वाग्भट का भी यही समय है—अर्थात् १२वीं शताब्दी का पूर्वार्ध।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम **वाग्भटालंकार**[1] है। यह कोई अलंकार का विस्तृत ग्रन्थ नही है। लेखक ने पाँच परिच्छेदों मे २६० पद्यों के भीतर साहित्य शास्त्र के सिद्धान्तों का सक्षेप मे वर्णन प्रस्तुत किया है। प्रथम परिच्छेद मे काव्य के स्वरूप तथा काव्य के उत्पादक हेतु—प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास—का वर्णन है। द्वितीय परिच्छेद मे काव्य के नाना भेदों का प्रदर्शन कर ग्रन्थकार ने पद, वाक्य तथा अर्थ के दोषों का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। तृतीय अध्याय मे दस गुणों का उदाहरण के साथ लक्षण दिया गया है। चतुर्थ मे चार शब्दालंकार, ३५ प्रकार के अर्थालकारों तथा दो प्रकार की रीति—गौडी तथा वैदर्भी—का निरूपण है। पंचम मे ९ प्रकार के रस, नायक-नायिका का भेद तथा इसी प्रकार के अन्य विषयों के वर्णन के साथ ग्रन्थ समाप्त होता है।

टीका

यह ग्रन्थ पर्याप्त रूप से लोकप्रिय था। इसकी लोकप्रियता का पता इस पर लिखी गई अनेक टीकाओं से लगता है। इस पर आठ टीकाएँ हैं, जिनमें केवल दो टीकाएँ अभी तक प्रकाशित हो पाई हैं। क्षेमहंसगणिकृत समासान्वय टिप्पण, अनन्तभट्ट के पुत्र गणेशकृत विवरण, राजहस उपाध्याय-कृत टीका, समयसुन्दर-रचित व्याख्या, किसी अज्ञातनामा लेखक की अवचूरि व्याख्या अभीतक हस्तलिखित रूप मे ही मिलती हैं[2]।

जगदात्मकीर्तिशुभ्रं जनयन्नुद्दामधामदोःपरिघः।
जयति प्रतापपूषा जयसिंहः क्ष्माभृदधिनाथः॥—४।४५
अणहिल्लपाटकं पुरमवनिपतिः कर्णदेवनृपसूनुः।
श्रीकलशनामधेयः करी च रत्नानि जगतीह॥—४।१३२

१—काव्यमाला नं० ४८, १९१६।

२—जिनवर्धन सूरि की टीका ग्रन्थमाला मद्रास से मूल के साथ प्रकाशित हुई है तथा सिंहदेवगणि कृत टीका काव्यमाला नं० ४८ तथा वेंकटेश्वर प्रेस बम्बई से प्रकाशित हुई है।

२६—वाग्भट द्वितीय

'काव्यानुशासन' के रचयिता वाग्भट को इस वाग्भट के साथ अभिन्न व्यक्ति नहीं मानना चाहिए। नाम की समता होने पर भी इनके ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि दोनों भिन्न-भिन्न व्यक्ति हैं। ये वाग्भट भी जैन ही थे। इनके पिता का नाम नेमकुमार था। इन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रथम वाग्भट का निर्देश किया है। इन्होंने 'ऋषभदेवचरित' तथा 'छन्दोऽनुशासन' नामक स्वरचित ग्रन्थों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ मे किया है। प्रथम वाग्भट के उल्लेख करने के कारण इस वाग्भट का समय १४वीं शताब्दी के आसपास है।

इनके ग्रन्थ का नाम 'काव्यानुशासन'[1] है। यह सूत्र शैली में लिखा गया है जिस पर ग्रन्थकार ने अलंकारतिलक नामक वृत्ति स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ में पाँच अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में काव्य के प्रयोजन, काव्य-हेतु, कवि-समय, काव्य के नाना प्रकारों का वर्णन किया गया है। दूसरे अध्याय मे १६ प्रकार के पददोष तथा १४ प्रकार के वाक्य तथा अर्थ के दोषों का वर्णन कर वाग्भट ने दण्डीसम्मत दस गुणों का वर्णन किया है, यद्यपि इनकी सम्मति मे गुणों की सख्या तीन ही होनी चाहिए। तृतीय परिच्छेद मे ६३ अर्थालंकारों का वर्णन किया गया है जिनमे अन्य, अपर, पूर्व, लेश, पिहित, उभयन्यास, भाव तथा आशीः विलक्षण होने से उल्लेख योग्य हैं। चतुर्थ अध्याय मे छः प्रकार के शब्दालकारों का वर्णन है जिसमें वक्रोक्ति अन्यतम है। पंचम अध्याय रसों का विवेचन करता है। इसमें रस के अंग, ९ प्रकार, नायक-नायिका-भेद, प्रेम की दस अवस्था तथा रस दोष का समीक्षण कर ग्रन्थ समाप्त किया गया है।

२७—अमरचन्द्र

संस्कृत के आलंकारिकों ने काव्य की व्यावहारिक शिक्षा देने का भी श्लाघनीय प्रयत्न किया है। एतद्-विषयक ग्रन्थ कवि-शिक्षा के नाम से प्रसिद्ध हैं। ऐसे ग्रन्थों में सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ है काव्यकल्पलता। इस ग्रन्थ का अंशतः निर्माण अरिसिंह ने किया और पूर्ति अमरचन्द्र ने की। अमरचन्द्र ने ही इसके

१—ग्रन्थकार की ही व्याख्या के साथ काव्यमाला में (सं० ४३) प्रकाशित बम्बई, १८९४ ई०।

ऊपर वृत्ति भी लिखी है जिसका नाम ग्रन्थ की पुष्पिका के अनुसार कविशिक्षा-वृत्ति है। वृत्ति से ही परिचय मिलता है कि इस मूल ग्रन्थ की रचना में दोनों ग्रन्थकारों का हाथ है[1]। लावण्य सिंह या लवण सिंह के पुत्र अरि सिंह ने ढोलका के (गुजरात) राणा धीरधवल के प्रसिद्ध जैन मन्त्री वस्तुपाल की स्तुति में 'सुकृत-सकीर्तन' नामक काव्य लिखा है। अमरचन्द्र इनसे अधिक बड़े लेखक प्रतीत होते हैं। इन्होंने जिनेन्द्रचरित (दूसरा नाम पद्मानन्द काव्य), बालभारत (काव्यमाला नं० ४५ में प्रकाशित) तथा स्यादि-शब्द-समुच्चय नामक सम्भवतः किसी व्याकरण ग्रन्थ की रचना की थी। काव्यकल्पलता की वृत्ति में इन्होंने अपने तीन अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया है—(१) छन्दोरत्नावली, (२) काव्य-कल्पलतापरिमल तथा (३) अलकारप्रबोध।

अमरचन्द्र और अरिसिंह दोनों एक ही गुरु के सहपाठी शिष्य प्रतीत होते हैं। इनके गुरु का नाम था जिनदत्त सूरि। धीरधवल तथा वस्तुपाल के समकालीन होने से इन दोनों ग्रन्थकारों का समय १३ शतक का मध्यभाग है। 'काव्यकल्पलतावृत्ति' में चार प्रतान (खण्ड) हैं और प्रत्येक प्रतान के भीतर अनेक स्तबक (अध्याय) हैं। इन प्रतानों के विषय क्रमशः हैं—(१) छन्दःसिद्धि, (२) शब्दसिद्धि, (३) श्लेषसिद्धि और (४) अर्थसिद्धि। कविता सीखने के लिए यह नितान्त उपादेय ग्रन्थ है[2]।

२८—देवेश्वर

कविशिक्षा पर दूसरा प्रसिद्ध ग्रन्थ है—**कविकल्पलता**। इसके रचयिता का नाम देवेश्वर है। इनके पिता का नाम वाग्भट था जो मालवा के राजा के महामात्य थे। देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ के लिए अमरचन्द्र की काव्यकल्पलता को ही अपना आदर्श माना है। विषय के निरूपण में ही वे उनके ऋणी नहीं हैं, बल्कि बहुत से नियमों तथा लक्षणों का अक्षरशः ग्रहण देवेश्वर ने अपने ग्रन्थ में किया है। ये अमरचन्द्र के द्वारा दिये गये उदाहरणों को भी देने में संकोच नहीं करते। यह केवल आकस्मिक घटना नहीं है प्रत्युत व्यवस्थित रूप से जान-बूझकर ऐसा किया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि

१—किञ्चिच्च तद्रचितमात्मकृतञ्च किञ्चित्।
व्याख्यास्यते त्वरितकाव्यकृतेऽत्र सूत्रम्॥

— काव्यकल्पलतावृत्ति, पृ० १।

२—सं० काशी संस्कृत सीरीज, नं० ९०, काशी, १९३१।

इन्होंने काव्यकल्पलता के अनन्तर ही अपने इस नवीन ग्रन्थ की रचना की।

देवेश्वर का एक पद्य शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत किया गया है (नं० ५४५)। इस सूक्तिग्रन्थ की रचना १३६३ ई० मे की गई थी। इसलिए १४वीं शताब्दी का मध्यभाग देवेश्वर के समय की अन्तिम अवधि है। इस प्रकार इनका समय अमरचन्द्र तथा शार्ङ्गधर के बीच मे अर्थात् १४वीं शताब्दी के आरम्भ मे मानना उचित है। देवेश्वर की 'कविकल्पलता' के ऊपर अनेक टीकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

२९—जयदेव

जयदेव का 'चन्द्रालोक' अलंकार-शास्त्र का सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ है। इसकी लोकप्रियता का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि राजा जसवन्त सिंह ने इसका हिन्दी मे 'भाषा-भूषण' के नाम से अनुवाद किया है। जयदेव ने अपना दूसरा नाम 'पीयूषवर्ष' लिखा है[1]। इनके टीकाकार गागाभट्ट के अनुसार पीयूषवर्ष जयदेव का ही नामान्तर था[2]। ये महादेव तथा सुमित्रा के पुत्र थे[3]। प्रसन्नराघव के रचयिता जयदेव ने भी अपने को महादेव और सुमित्रा का पुत्र बतलाया है[4]। इससे स्पष्ट है कि आलंकारिक जयदेव तथा कवि जयदेव एक ही व्यक्ति थे। ये गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव से नितान्त भिन्न हैं। गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव, भोजदेव तथा रामादेवी के पुत्र थे तथा बंगाल के किन्दुविल्व नामक गाँव के निवासी थे। यह स्थान बंगाल के वीरभूमि जिला मे केंदुली के नाम से आज भी विद्यमान है जहाँ पुण्यश्लोक जयदेव की स्मृति मे विशेष तिथिपर वैष्णवों का बड़ा भारी मेला लगता है। पीयूषवर्ष जयदेव बंगाल के निवासी नहीं प्रतीत होते। प्रसन्नराघव

१—चन्द्रालोकममुं स्वयं वितनुते पीयूषवर्षः कृती।

— चन्द्रालोक १।२।

२—जयदेवस्यैव पीयूषवर्ष इति नामान्तरम्।

—गागाभट्ट—राकागम।

३—महादेवः सत्रप्रमुखमखविघ्नैकचतुरः।
सुमित्रा तद्भक्ति-प्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ॥

— चन्द्रालोक १।१६।

४—प्रसन्नराघव अंक १, श्लोक १४-१५।

की प्रस्तावना से प्रतीत होता है कि जयदेव बड़े भारी नैयायिक थे[1]। मिथिला मे यह किंवदन्ती है कि चन्द्रालोक के रचयिता ही नैयायिक जगत् मे 'पक्षधर' मिश्र के नाम से प्रसिद्ध थे। पक्षधर मिश्र के न्यायग्रन्थों के नाम के अन्त में 'आलोक' शब्द आता है जैसे मण्यालोक। परन्तु जयदेव और पक्षधर मिश्र की अभिन्नता पुष्ट प्रमाणों के द्वारा अभी तक प्रमाणित नहीं की जा सकी है।

समय

जयदेव के समय का निरूपण अभी तक निःसन्दिग्ध प्रमाणों के आधार पर नहीं हो सका है। अनुमान के द्वारा पता चलता है कि इनका समय १३०० ई० से पश्चात् नहीं हो सकता। इनके टीकाकार प्रद्योतनभट्ट ने 'शरदागम' नामक टीका का प्रणयन १५८३ ई० में किया था। विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि के उदाहरण में प्रसन्नराघव का यह सुप्रसिद्ध श्लोक अपने साहित्य-दर्पण में (४।३) उद्धृत किया है—

कदली कदली करभः करभः करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्तितुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥

प्रसन्नराघव के कतिपय श्लोक शार्ङ्गधरपद्धति मे उद्धृत किये गये हैं। इस पद्धति का निर्माणकाल १३६३ ई० है। जयदेव के समय की यही अन्तिम अवधि है। ऊपरी अवधि के समय मे अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण "तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि"— का खण्डन करते हुए यह सुन्दर पद्य लिखा है—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती॥

—चन्द्रालोक १।८

अतः जयदेव का मम्मट से पश्चाद्वर्ती होना युक्तियुक्त है। ये रुय्यक के 'अलंकारसर्वस्व' से भी पूर्णतः परिचित हैं। ऊपर दिखलाया गया है कि रुय्यक ने ही सर्वप्रथम विचित्र तथा विकल्प नामक दो नवीन अलकारों की

१—ननु अयं प्रमाणप्रवीणोऽपि श्रूयते।
येषां कोमलकाव्यकौशलकला-लीलावती भारती।
तेषां कर्कशतर्कवक्रवचनोद्गारेऽपि किं हीयते॥

—प्रसन्नराघव १।१८

कल्पना काव्यजगत् में की। जयदेव ने भी इन दोनों अलंकारों को 'सर्वस्वकार' के शब्दों मे ही अपने ग्रन्थ में दिया है। अतः जयदेव रुय्यक के भी पश्चाद्वर्ती है। अतः रुय्यक (१२०० ई०) तथा शार्ङ्गधर (१३५० ई०) के मध्यवर्ती होने के कारण जयदेव का समय १३वी शताब्दी का मध्यभाग भली भाँति माना जा सकता है।

ग्रंथ

इनका अलंकार शास्त्र संबंधी एक ही ग्रन्थ चन्द्रालोक है। यह पूरा ग्रन्थ १० मयूखों या अध्यायों मे समाप्त है तथा इसमे ३५० अनुष्टुप् श्लोक हैं। इसकी भाषा बड़ी ही रोचक तथा सुन्दर है। शैली बहुत ही सरस तथा सुन्दर है। पहले मयूख में काव्य के लक्षण, काव्य के हेतु तथा शब्द के त्रिविध प्रकार (रूढ़, यौगिक, योगरूढ़ि) का वर्णन है। द्वितीय मयूख दोषों का निरूपण करता है तथा तृतीय लक्षण नामक काव्याग का। चतुर्थ मे दशगुणों का विवेचन है तथा पंचम में पाँच शब्दालंकारों तथा एक सौ अर्थालंकारों का विशिष्ट वर्णन है। छठवे मयूख में रस, भाव, त्रिविध रीति—गौड़ी, पाचाली, लाटी—तथा पाँच वृत्तियों—मधुरा, प्रौढ़ा, परुषा, ललिता तथा भद्रा—का विवेचन है। सप्तम में व्यंजना तथा ध्वनिकाव्य के भेदों का, अष्टम में गुणीभूत व्यग्य के प्रकारों का वर्णन है। अन्तिम दो मयूखों मे क्रमशः लक्षणा तथा अभिधा का वर्णन देकर जयदेव ने अपना सुबोध ग्रन्थ समाप्त किया है।

इस ग्रन्थ की विशेषता यह है कि एक ही श्लोक में अलंकार का लक्षण तथा उसका उदाहरण भी दिया गया है। इस प्रकार समास शैली में अलंकार का इतना सुन्दर विवेचन अन्यत्र उपलब्ध नहीं। इस पद्धति को दिखलाने के लिए एक-दो पद्य नीचे दिये जाते हैं—

व्यतिरेको विशेषश्चेद् उपमानोपमेययोः।
शैला इवोन्नताः सन्तः किन्तु प्रकृतिकोमलाः॥—५।५९

विभावना विनापि स्यात् कारणं कार्यजन्म चेत्।
पश्य लाक्षारसासिक्तं रक्तं त्वच्चरणद्वयम्॥—५।७७

इस सुबोध शैली के कारण यह ग्रन्थ अलंकार के जिज्ञासुओं के लिए इतना उपादेय सिद्ध हुआ कि अप्पयदीक्षित ने इस ग्रन्थ के अलकार भाग को अपने कुवलयानन्द मे पूर्णतया उठाकर रख दिया है। इन्होंने कतिपय नये उदाहरण देकर अपनी एक पाण्डित्यपूर्ण वृत्ति जोड दी है। इस बात को इन्होंने अपने ग्रन्थ के अन्त मे स्पष्टतः स्वीकार किया है—

चन्द्रालोको विजयता, शरदागमसंभवः ।
हृद्यः कुवलयानन्दो यत् प्रसादादभूदयम् ॥

इस पद्य का आशय यह है कि शरदागम में उत्पन्न होनेवाले चन्द्रालोक की विजय हो जिसके प्रसाद से यह रमणीय कुवलयानन्द प्रादुर्भूत हुआ। शरद् के आगमन से ही चन्द्र का आलोक स्पष्ट दीख पडता है और तभी कुमुद विकसित होता है। श्लेषालंकार के द्वारा ग्रन्थकार चन्द्रालोक को कुवलयानन्द का आधारग्रन्थ मानता है। शरदागम शब्द भी श्लेष के बल से चन्द्रालोक की टीका का निर्देश कर रहा है जिसे प्रद्योतनभट्ट ने १५८३ ई० में लिखा था।

टीका

जयदेव का यह ग्रन्थ अलंकारजगत् मे अत्यंत लोकप्रिय रहा है। इसके ऊपर छः टीकाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमे (१) दीपिका, (२) शारदशर्वरी एवं (३) वाजचन्द्र की टीका हस्तलिखित रूप मे उपलब्ध हैं। इसकी प्रकाशित टीकाओं मे सबसे प्राचीन टीका है (४) 'शरदागम'[1]। इसके लेखक अपने समय के बडे भारी विद्वान् थे। ये बलभद्र मिश्र के पुत्र थे। इनके आश्रयदाता का नाम वीरभद्रदेव या वीररुद्रदेव था जो बुन्देलखण्ड के राजा थे। इस टीका का निर्माण १५८३ ई० मे हुआ। इनके आश्रयदाता भी १६वीं शताब्दी के उत्तरार्ध मे विद्यमान थे क्योंकि वात्स्यायन के कामशास्त्र के ऊपर उनकी लिखी 'कन्दर्पचूडामणि' नामक टीका १५७७ ई० में समाप्त हुई थी।

(५) **रमा**[2]—इसके लेखक का नाम वैद्यनाथ पायगुण्ड है। वैद्यनाथ तत्सत् गोविन्द ठक्कुर के 'काव्यप्रदीप' तथा अप्पयदीक्षित के कुवलयानन्द के टीकाकार हैं। अनेक ग्रन्थ-सूचियों मे दोनों एक ही व्यक्ति माने गये हैं। परन्तु दोनों के कुलनाम बिल्कुल भिन्न हैं। 'रमा' टीका के आरम्भिक पद्यों में वैद्यनाथ ने अपने को स्पष्टतः 'पायगुण्ड' लिखा है। अतः उनको तत्सत् गोत्रीय वैद्यनाथ से पृथक् भिन्न व्यक्ति मानना ही न्यायसंगत प्रतीत होता है।

(६) **राकागम**[3] **या सुधा**—इसके लेखक का नाम विश्वेश्वर भट्ट है

१—यह टीका म० म० नारायण शास्त्री खिस्ते के सम्पादकत्व में काशी संस्कृत सीरीज में (नं० ७५) प्रकाशित हुई है।

२—काशी, चौखम्भा से प्रकाशित।

३—यह टीका चौखम्भा संस्कृत सीरीज, काशी से प्रकाशित हुई है।

जो 'गागाभट्ट' के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं। इन्होंने इसके अतिरिक्त मीमासा शास्त्र तथा स्मृतियों के ऊपर अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। ये काशी के भट्ट वंश के अवतंस थे। ये सुप्रसिद्ध धर्मशास्त्री कमलाकरभट्ट के भतीजे थे। ये अपने समय के काशी के इतने सुप्रसिद्ध विद्वान् थे कि छत्रपति शिवाजी के राज्याभिषेक कराने के लिए ये ही नियुक्त किये गये थे। इनका मुख्य विषय मीमासा तथा धर्मशास्त्र था।

३०—विद्याधर

समय

एकावली के रचयिता विद्याधर के ग्रन्थ की विशेषता यह है कि इसके समस्त उदाहरण विद्याधर के द्वारा ही विरचित हैं तथा इनके आश्रयदाता उत्कल के राजा नरसिंह की स्तुति में लिखे गये हैं[1]। इस उलेख से इनके समय का निरूपण भली भाँति हो जाता है। विद्याधर ने रुय्यक का उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया है (एकावली पृ० १५०), जिससे इनके समय की उत्तर अवधि १२वीं शताब्दी का मध्यकाल है। नैषध के रचयिता श्रीहर्ष के उल्लेख करने से इसी अवधि की पुष्टि होती है। विद्याधर ने इसी प्रसंग मे हरिहर नामक कवि का भी उल्लेख किया है जिन्होंने अर्जुन नामक राजा से अपनी काव्य-प्रतिभा के बल पर असंख्य धन प्राप्त किया था। इनका समय १३वीं शताब्दी का आरम्भ-काल है। इनके समय की पूर्व अवधि का पता मल्लिनाथ के (१४वीं शताब्दी का अन्त) द्वारा टीका लिखने से तथा शिंगभूपाल (१३३० ई०) के द्वारा उल्लिखित[2] होने से चलता है। अतः इनका समय १३वे शतक का उत्तरार्ध मानना युक्तियुक्त है। जिस राजा नरसिंह का इन्होंने वर्णन किया है वे उड़ीसा के राजा नरसिह द्वितीय माने जाते हैं जिनका समय १२८० ई० से १३१४ ई० है। अतः 'एकावली' का रचनाकाल १३वें शतक का अन्त तथा १४वे का आरम्भ है।

१—एष विद्याधरस्तेषु कान्तासंमितलक्षणम्।
करोमि नरसिंहस्य चाटुश्लोकानुदाहरन्॥ एकावली।

२—उत्कलाधिपतेः श्रृंगाररसाभिमानिनो नरसिंहदेवस्य चित्तमनुवर्तमानेन विद्याधरेण कविना बाढमभ्यन्तरीकृतोसि। एवं खलु समर्थितमेकावल्यामनेन। रसार्णवसुधाकर पृ० ३०६ (अनन्तशयन)।

ग्रन्थ

एकावली में आठ उन्मेष या अध्याय हैं जिनमें काव्यस्वरूप, वृत्तिविचार, ध्वनिभेद, गुणीभूत-व्यंग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार तथा अर्थालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यप्रकाश तथा अलंकारसर्वस्व पर आधारित है। वस्तुतः यह काव्यप्रकाश का संक्षिप्त संस्करण है। इसकी एकमात्र टीका का नाम तरला है जिसके लेखक संस्कृत महाकाव्यों के सुप्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ (१४वें शतक का अन्तिम काल) हैं। एकावली पर टीका लिखने के कारण ही मल्लिनाथ ने महाकाव्यों की अपनी टीका में अलंकारों के निर्देश के अवसर पर एकावली का ही उद्धरण दिया है। 'तरला' एक आदर्श टीका है जो मूल के साथ बाम्बे संस्कृत सीरीज मे प्रकाशित हुई है।

३१—विद्यानाथ

समय

विद्यानाथ 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के रचयिता हैं। यह ग्रन्थ दक्षिण भारत में बहुत ही लोकप्रिय है। इस ग्रन्थ के तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। इसमें जितने उदाहरण हैं वे सब विद्यानाथ की ही रचना है जिसमें प्रतापरुद्रदेव (वीररुद्र या रुद्र) नामक काकतीयवंशीय नरेश की स्तुति है[१]। इनकी स्तुति में विद्यानाथ ने अपने ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में अलंकार के अंगों तथा उपागों के उदाहरण मे 'प्रतापकल्याण' नामक नाटक की रचना कर निविष्ट कर दिया है। प्रतापरुद्र काकतीय नरेश बतलाये जाते हैं जिनकी राजधानी एकशिला नगरी त्रिलिंग देश या आन्ध्र देश में थी। प्रतापरुद्रदेव बड़े प्रतापी नरेश थे। इन्होंने यादववंशी नरेश सेवण (देवगिरि के राजा रामदेव १२७१–१३०९ ई०) को परास्त किया था। इस वर्णन के आधार पर प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ के आश्रयदाता प्रतापरुद्र की एकशिला (वारंगल) के सप्तम काकतीय नरेश के साथ अभिन्नता सिद्ध की है जिनके शिलालेख १२९८ ई० से १३१७ ई० तक उपलब्ध होते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्रतापरुद्रदेव ने १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं के प्रथमार्ध में राज्य किया था। अतः विद्यानाथ का भी यही समय है। इनके ग्रन्थ की अन्तरंग परीक्षा से भी यही

---

१. प्रतापरुद्रदेवस्य गुणानाश्रित्य निर्मितः।
   अलंकारप्रबन्धोऽयं सन्तकरणोत्सवोस्तु वः॥

प्रतापरुद्रयशोभूषण १।९

बात सिद्ध होती है। विद्यानाथ ने रुय्यक का उल्लेख किया है तथा उनका स्वतः उल्लेख मल्लिनाथ ने काव्य की अपनी टीकाओं में बिना नाम-निर्देश किये अनेक बार किया है। इन निर्देशों से भी इसी समय की पुष्टि होती है।

ग्रन्थ

इस ग्रन्थ में नव प्रकरण हैं जिनमे नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार तथा मिश्रालंकार का विवेचन क्रमशः किया गया है। ग्रन्थकार ने मम्मट को ही अपना आदर्श माना है परन्तु अलंकार के विषय मे वे रुय्यक के ऋणी हैं। इसी लिए परिणाम, उल्लेख, विचित्र तथा विकल्प नामक अलंकार—जिनका मम्मट ने अपने ग्रन्थ में वर्णन नहीं किया है—रुय्यक के आधार पर इन्होंने अपने ग्रन्थ मे दिया है। इसके टीकाकार कुमारस्वामी हैं जो अपने को काव्यग्रन्थों के सुप्रसिद्ध व्याख्याकार मल्लिनाथ का पुत्र बतलाते हैं। अतः कुमारस्वामीका समय १५वीं शताब्दी का आरम्भ है। इस टीका का नाम 'रत्नापण' है जो बहुत ही विद्वत्तापूर्ण टीका है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं जिनमे मुख्य ये हैं—भोज का शृंगारप्रकाश, शिंग भूपाल का रसार्णवसुधाकर, एकावली तथा मल्लिनाथ की 'तरला' टीका, साहित्यदर्पण, चक्रवर्ती (रुय्यक के ग्रन्थ पर संजीवनी नामक टीका के कर्ता)। इन्होंने भावप्रकाश का भी उल्लेख किया है जिसके रचयिता शारदातनय हैं। इन्होने वसन्तराज के द्वारा निर्मित वसन्तराजीय नाट्यशास्त्र का उल्लेख भी अपने ग्रन्थ में किया है।

'रत्नापण' टीका के साथ मूल ग्रन्थ का सुन्दर संस्करण प्रोफेसर के० पी० त्रिवेदी ने बाम्बे संस्कृत सीरीज में प्रकाशित किया है। इसके ऊपर 'रत्नशाण' नामक कोई अन्य टीका थी, जो इसी संस्करण के साथ प्रकाशित की गई है।

३२—विश्वनाथ कविराज

जीवनी

'साहित्य-दर्पण' के रचयिता विश्वनाथ कविराज अलंकार-जगत् मे सबसे अधिक लोकप्रिय आलंकारिक हैं। ये उत्कल के बडे प्रतिष्ठित पण्डित कुल में पैदा हुए थे। विश्वनाथ के पिता चन्द्रशेखर थे[1] जो अपने

1. श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनुः। —साहित्यदर्पण अन्तिम श्लोक।

पुत्र के समान ही कवि, विद्वान् तथा सान्धिविग्रहिक थे। विश्वनाथ ने अपने पिता के ग्रन्थ 'पुष्पमाला' और 'भाषार्णव' का उल्लेख अपने ग्रन्थ में किया है। नारायण, जिन्होंने अलंकारशास्त्र पर ग्रन्थों की रचना की थी—या तो विश्वनाथ के पितामह थे अथवा वृद्ध प्रपितामह थे, क्योंकि काव्यप्रकाश की टीका में विश्वनाथ ने नारायण का 'अस्मद् पितामह' कहकर निर्देश किया है[1] परन्तु साहित्य-दर्पण में उन्हीं का वे 'अस्मत्वृद्धप्रपितामह' कहकर उल्लेख किया है[2]। काव्यप्रकाश की दीपिका टीका के रचयिता चण्डीदास भी विश्वनाथ के पितामह के अनुज थे। विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका में बहुत से संस्कृत शब्दों के उडिया भाषा के पर्यायवाची शब्दों को दिया है[3]। इससे पता चलता है कि ये उड़ीसा के निवासी थे। विश्वनाथ के पिता तथा विश्वनाथ दोनों ही किसी राजा के सान्धिविग्रहिक (वैदेशिक मन्त्री) थे। सम्भवतः यह राजा कलिंग देश का ही अधिपति था।

ग्रन्थ

विश्वनाथ एक सिद्ध कवि थे। ये संस्कृत तथा प्राकृत के ही पण्डित न थे, प्रत्युत अनेक भाषाओं के विद्वान् थे। इसी लिए इन्होंने अपने को 'षोडशभाषावारविलासिनीभुजंग' लिखा है[4]। इनके द्वारा निर्मित काव्यग्रन्थ—जिनका निर्देश इन्होंने स्वयं अपने ग्रन्थों में किया है—ये हैं—(१) राघवविलास नामक सस्कृत महाकाव्य, (२) कुवलयाश्वचरित—प्राकृत भाषा में निबद्ध काव्य। (३) प्रभावतीपरिणय (नाटिका), (४) चन्द्रकला नाटिका, (५) प्रशस्तिरत्नावली (यह षोडश भाषाओं में निबद्ध 'करम्भक' है)। इन सब काव्यों का निर्देश विश्वनाथ ने अपने साहित्य-दर्पण में स्वयं किया है।

१—यदाहुः श्रीकलिंगभूमण्डलाखण्डलमहाराजाधिराजश्रीनरसिंहदेव-सभायां धर्मदत्तं स्थगयन्तः...अस्मत्पितामहश्रीमन्नारायणदास पादाः।

२—तत्प्राणत्वं चास्मद्-वृद्धप्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकवि पण्डितमुख्य-श्रीमन्नारायणपादै क्तम्। साहित्यदर्पण ३।२–३।

३—वैपरीत्यं रुचिं कुर्विति पाठः, अत्र चिंकुपदं काश्मीरादिभाषायां अश्लीलार्थबोधकम्, उत्कलादिभाषायां घृतवांडकद्रव इत्यादि।
काव्यप्रकाश—वामनाचार्य की भूमिका पृ० २५।

४—द्रष्टव्य साहित्यदर्पण के प्रथम अध्याय की पुष्पिका।

इन्होंने (६) नरसिंहविजय नामक काव्यग्रन्थ की भी रचना की थी जिसका निर्देश 'काव्यप्रकाशदर्पण' मे मिलता है।

विश्वनाथ ने मम्मट तथा रुय्यक का यद्यपि नामतः उल्लेख नहीं किया है तथापि यह निर्विवाद है कि ये इन आचार्यों के ग्रन्थों से पूर्णतः परिचित थे। मम्मट के काव्यलक्षण का खण्डन इन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ मे किया है। दशम अध्याय में इन्होंने विकल्प तथा विचित्र नामक अलंकारों का लक्षण दिया है जो जयरथ के प्रामाण्य पर रुय्यक की मौलिक कल्पना से प्रसूत थे। विश्वनाथ ने गीतगोविन्द के रचयिता जयदेव का एक पद्य 'निश्चय' अलंकार के उदाहरण मे उद्धृत किया है[1]। राजा लक्ष्मणसेन के सभापण्डितों में अन्यतम कविवर जयदेव का समय १२वीं शताब्दी का प्रथमार्ध है। इन्होंने प्रसन्नराघव से भी एक पद्य[2] उद्धृत किया है। ये नैषधचरित काव्य से भी पूर्ण परिचित हैं[3]। इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि विश्वनाथ का समय १२०० ई० से पूर्व कथमपि नहीं हो सकता।

विश्वनाथ के समय की पूर्व अवधि का निर्देश उनके साहित्यदर्पण की एक हस्तलिखित प्रति के लेखनकाल से मिलता है जो १४४० संवत् (१३८४ ई०) मे लिखी गई थी। इस प्रकार विश्वनाथ का समय साधारणतया १२०० ई० से लेकर १३५० ई० के बीच माना जा सकता है। साहित्यदर्पण की अन्तरंग परीक्षा से यह कालनिर्देश और भी निश्चित रूप से किया जा सकता है। साहित्य-दर्पण के एक पद्य में अल्लावदीन नामक एक मुसलमान राजा का उल्लेख है जो सन्धि के अवसर पर सर्वस्व हरण कर लेता था और संग्राम करनेपर प्राण का हरण करता था—

१—हृदि विसलताहारो नायं भुजंगमनायकः।

गीतगोविन्द ३।११

२—कदली कदली करभः करभः करिराजकरः, करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः।।

साहित्यदर्पण ४।३

३—धन्यासि वैदर्भि गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकायाः, यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति।।

नैषध ३।११६ —साहित्यदर्पण १०।५०

सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।
अल्लावदीन नृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥

—सा० द० ४।१४

इस पद्य में निर्दिष्ट 'अल्लावदीन' दिल्ली का सुलतान 'अलाउद्दीन खिलजी' ही प्रतीत होता है जिसने दक्षिण पर आक्रमण कर वारंगल जीत लिया था और जिसके निष्ठुर व्यवहार का परिचय प्रत्येक भारतवासी को मिल चुका था। यह अलाउद्दीन दिल्ली के सिंहासन पर १२९६ से १३१६ ई० तक राज्य करता रहा। सम्भव है कि यह पद्य अलाउद्दीन के समय मे ही लिखा गया हो। अतः विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० ई० के बीच मे मानना उचित प्रतीत होता है।

साहित्यदर्पण

विश्वनाथ कविराज की सबसे प्रसिद्ध तथा लोकप्रिय रचना साहित्य-दर्पण है। इस ग्रन्थ की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमें श्रव्य काव्य के विपुल वर्णन के साथ ही साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवरण उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्य के दोनों भेदों—श्रव्य तथा दृश्य—का वर्णन कर विश्वनाथ ने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है। इस ग्रन्थ में दश परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद मे काव्य के स्वरूप तथा भेद का वर्णन है। द्वितीय में वाक्य तथा पद के लक्षण देने के अनन्तर ग्रन्थकार ने शब्द की तीनों शक्तियों का वर्णन विस्तार के साथ किया है। तृतीय परिच्छेद में रस, भाव तथा नायक-नायिका-भेद एवं तत्-सम्बद्ध अन्य विषयों का बहुत ही व्यापक तथा विस्तृत विवरण है। चतुर्थ परिच्छेद में ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य के प्रकारों का वर्णन कर ग्रन्थकार ने पंचम परिच्छेद में व्यंजना वृत्ति की स्थापना के लिए अभ्रान्त युक्तियाँ प्रदर्शित की हैं तथा व्यंजना वृत्ति के न माननेवाले विद्वानों की युक्तियों का पर्याप्त खण्डन किया है। षष्ठ परिच्छेद में नाटक के लक्षण तथा भेदों का बड़ा ही पूर्ण निरूपण है। सप्तम परिच्छेद में दोषों का तथा अष्टम में गुणों का विवेचन किया गया है। नवम में विश्वनाथ ने काव्य की चार रीतियों—वैदर्भी, गौड़ी, लाटी और पाचाली—का सक्षिप्त वर्णन किया है। दशम परिच्छेद मे शब्द तथा अर्थ, दोनों के अलंकारों का बिस्तार से बर्णन कर यह ग्रन्थ समाप्त किया गया है। इस ग्रन्थ के लिखने के अनन्तर विश्वनाथ ने काव्यप्रकाश की टीका 'काव्यप्रकाशदर्पण' के नाम से लिखी।

टीका

साहित्यदर्पण के ऊपर चार टीकायें उपलब्ध होती हैं जिनमें मथुरानाथ शुक्ल कृत 'टिप्पण' तथा गोपीनाथकृत 'प्रभा' अभीतक अप्रकाशित हैं। प्रकाशित टीकाओं मे प्राचीनतर टीका का नाम 'लोचन' है जिसे विश्वनाथ कविराज के सुयोग्य पुत्र अनन्तदास ने लिखा है। यह टीका हाल ही में मोतीलाल बनारसीदास (लाहौर) ने प्रकाशित की है। इससे अधिक प्रसिद्ध टीका रामचरण तर्कवागीश कृत विवृति नाम्नी है जो अत्यन्त लोकप्रिय है। ये टीकाकार पश्चिमी बंगाल के निवासी थे। इस टीका की रचना का काल १७०१ ई० है। साहित्य-दर्पण को समझने के लिए यह टीका अत्यन्त उपादेय है।

वैशिष्ट्य

विश्वनाथ कविराज आलंकारिक होने की अपेक्षा कवि ही अधिक हैं। इनकी प्रतिभा का विकास काव्यक्षेत्र में जितना दिखलाई पड़ता है उतना अलंकार के क्षेत्र में नहीं। अनेक महाकाव्यों का प्रणयन इसका स्पष्ट प्रमाण है। इनके पद्यों में कोमल पदावली का विन्यास सचमुच अत्यन्त सुन्दर हुआ है। आलंकारिक की दृष्टि से हम विश्वनाथ को मौलिक ग्रन्थकार नहीं मान सकते। इनका साहित्यदर्पण, मम्मट तथा रुय्यक के ग्रन्थों की सामग्री को लेकर लिखा गया एक संग्रह-ग्रन्थ है। वह शास्त्रीय पद्धति जो पण्डितराज जगन्नाथ के लेख में दीख पड़ती है एवं वह आलोचक दृष्टि जो मम्मट के ग्रन्थ में उपलब्ध होती है विश्वनाथ के ग्रन्थ में देखने को भी नहीं मिलती। परन्तु इस ग्रन्थ में अनेक गुण हैं जो इसकी लोकप्रियता के कारण हैं। इस ग्रन्थ की शैली बड़ी ही रोचक तथा सुबोध है। मम्मट के काव्यप्रकाश की शैली समासमयी होने के कारण इतनी दुर्बोध है कि साहित्यशास्त्र का विद्यार्थी उसमें कठिनता से प्रवेश पाता है। पण्डितराज जगन्नाथ की शैली इतनी शास्त्रीय तथा जटिल है कि उससे पाठक भयभीत हो उठता है। इन दोनों की तुलना में साहित्य-दर्पण सुबोध तथा रोचक भाषा मे लिखा गया है। इसके उदाहरण ललित तथा आकर्षक हैं। इसकी व्याख्याये संक्षिप्त होने पर भी विषय को विशद रूप से समझाती हैं। एक ही स्थान पर नाट्य तथा काव्य दोनों का विवेचन इस ग्रन्थ को छोड़कर अन्यत्र कम उपलब्ध होता है। यही कारण है कि साहित्य-

दर्पण अलंकार शास्त्र मे प्रवेश करनेवाले छात्रों का सबसे सरल मार्गदर्शक ग्रन्थ माना जाता है।

२३—केशव मिश्र

इनके ग्रन्थ का नाम 'अलंकारशेखर' है[१]। इसके आरम्भ तथा अन्त में इनका कहना है कि धर्मचन्द्र के पुत्र राजा माणिक्यचन्द्र के आग्रह पर इन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की। राजा धर्मचन्द्र रामचन्द्र के पुत्र थे जो दिल्ली के पास राज्य करते थे और जिन्होंने काविल (काबुल अर्थात् मुसलमान) के राजा को परास्त किया था। कनिंघम के अनुसार कॉंगडा के राजा माणिक्य-चन्द्र ने धर्मचन्द्र के अनन्तर १५६३ ई० में राज्य प्राप्त किया और उसने दश वर्ष तक राज्य किया। इस राजा की वंशावली केशव मिश्र के आश्रयदाता राजा माणिक्यचन्द्र से बिल्कुल मिलती है। अतः दोनों माणिक्यचन्द्र एक ही अभिन्न व्यक्ति थे। इसलिए केशव मिश्र का समय १६वीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

'अलंकारशेखर' मे तीन भाग हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। ग्रन्थकार का कहना है कि उन्होंने अपनी कारिकाओं (सूत्रों) को किसी भगवान् शौद्धोदनि नामक आलंकारिक के ग्रन्थ के आधार पर ही निर्मित किया है। ये शौद्धोदनि सम्भवतः कोई बौद्ध ग्रन्थकार थे, परन्तु इनका नाम अलंकार-साहित्य में नितान्त अज्ञात है। केशव मिश्र ने काव्यादर्श, काव्यमीमासा, ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश आदि ग्रन्थों से बहुत सी सामग्री अपने ग्रन्थ में ली है। इन्होंने श्रीपाद नामक किसी आलंकारिक का निर्देश किया है। ये श्रीपाद साहित्यशास्त्र में अब तक अज्ञातनामा हैं। सम्भव है कि केशव मिश्र के आधारभूत लेखक शौद्धोदनि ही श्रीपाद हों। इन्होंने किसी कविकल्पलता-कार का भी निर्देश किया है जो श्रीपाद के मतानुसारी बतलाये गये हैं। इस 'कविकल्पलता' के लेखक न तो देवेश्वर हैं और न अमरचन्द्र।

इस ग्रन्थ—अलंकारशेखर—मे आठ रत्न या अध्याय और २२ मरीचि हैं जिनके विषय इस प्रकार हैं—काव्य-लक्षण, रीति, शब्दशक्ति, पद के आठ दोष, वाक्य के १८ दोष, अर्थ के ८ दोष, शब्द के ५ गुण, अर्थ के ४ गुण, दोष का गुणभाव, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रूपक के भेद, आदि विषयों के वर्णन के

१—काव्यमाला बम्बई (नं० ५०) सन् १८९५ तथा काशी संस्कृत सीरीज नं० १ में प्रकाशित।

अनन्तर रस-निरूपण तथा नायिका-भेद का निरूपण किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अलकारशास्त्र क विषयों का सक्षेप रूप से वर्णन प्रस्तुत करता है।

३४—शारदातनय

समय

शारदातनय के व्यक्तिगत नाम का हमे परिचय नहीं मिलता। ग्रन्थकार अपने को शारदादेवी का पुत्र बतलाता है और इसी लिए वह 'शारदातनय' के नाम से प्रसिद्ध है। सम्भवतः ये काश्मीर के निवासी थे। इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यकाल सिद्ध किया जा सकता है। अपने ग्रन्थ मे इन्होंने भोज के मत का विशेष रूप से उल्लेख किया है तथा शृङ्गारप्रकाश से और काव्यप्रकाश से अनेक श्लोकों को उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि इनका समय १२वीं शताब्दी के अनन्तर होगा। अर्वाचीन ग्रन्थकारों में सिंह भूपाल ने रसार्णव-सुधाकर में इनके मत का निर्देश किया है। सिंहभूपाल का समय है १३२० ई० के आसपास। अतः भोज तथा सिंहभूपाल के मध्यवर्ती काल में आविर्भूत होने के कारण इनका समय १२५० ई० अर्थात् १३वें शतक का मध्यभाग सिद्ध होता है।

ग्रन्थ

इनके ग्रन्थ का नाम है—**भावप्रकाशन**[1]। नाट्यविषयक ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का स्थान नितान्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक अज्ञात रसाचार्यों के—जैसे वासुकि, नारद, व्यास आदि के—मतों का निर्देश ग्रन्थ में किया गया है। प्राचीन नाट्याचार्य के इतिहास तथा मत जानने के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होता है। प्रतिपाद्य विषय चार हैं—(१) भाव, (२) रस, (३) शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा (४) रूपक। ग्रन्थ मे सम्पूर्ण १० अधिकार या अध्याय हैं जिनमें (१) भाव, (२) रस का स्वरूप, (३) रस के भेद, (४) नायक-नायिका, (५) नायिकाभेद, (६) शब्दार्थ-सम्बन्ध, (७) नाट्य-इतिहास तथा शरीर, (८) दशरूपक, (९) नृत्य-भेद तथा (१०) नाट्य-प्रयोग का विवरण क्रमशः प्रस्तुत किया गया है। नाम के अनुसार '**भावप्रकाशन**'

---

१. गा० ओ० सी० संख्या ४५, १९३० में प्रकाशित। सम्पादक ने विस्तृत भूमिका लिखकर इसकी उपयोगिता और भी बढ़ा दी है।

भाव तथा रस के नाना प्रकार की समस्याओं को हल करने का एक विराट् महत्त्वशाली ग्रन्थ है। नाट्य सम्बन्धी उपकरणों तथा उपादेय प्रभेदों का विवरण भी यहाँ विस्तार से किया गया है। नाट्य के सिद्धान्त के वर्णन के साथ ही साथ नाट्य के व्यावहारिक रूप का भी सुन्दर विवेचन है। इस प्रकार यह ग्रन्थ नाट्य तथा रस के विशिष्ट ज्ञान के लिए एक प्रामाणिक कोश का काम करता है। इसी से इसकी भूयसी उपयोगिता सिद्ध होती है।

३५—शिंग भूपाल

ये नाट्य तथा संगीत दोनों विषयों के आचार्य हैं। इनका समय जानने से पहले भारतीय सगीत का सामान्य ज्ञान रखना आवश्यक है। भारत में संगीत-शास्त्र की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीन काल मे हुई थी। वह काल वैदिक काल से भी प्राचीन होना चाहिए क्योंकि वेद के समय में तो सगीत की खासी उन्नति दिखाई पड़ती है। सामवेद से हम संगीत शास्त्र की विशिष्ट उन्नति का यथोचित पता पा सकते हैं। परन्तु शोक से कहना पडता है कि संगीतविषयक अधिकाश ग्रन्थ कराल काल के ग्रास बन गये हैं। यदि समग्र ग्रन्थ इस समय उपलब्ध रहते तो इस शास्त्र के क्रमबद्ध विकास का इतिहास सहज में ही लिखा जा सकता था। 'संगीत मकरंद'[1] के द्वितीय परिशिष्ट पर एक सरसरी निगाह डालने से यह शीघ्र पता लग सकता है कि भारतीय संगीत शास्त्र का अध्ययन तथा अध्यापन कितने जोरों के साथ प्राचीन काल में हुआ करता था। यह शास्त्र किसी भी शास्त्र के तनिक भी पीछे न था। संगीत धर्म के साथ संबद्ध था; प्राचीन अनेक ऋषि—नारद, हनुमान् तुंबरु, कोहल, मातंग, बेणा—इसके आचार्य थे जिन्होंने संगीत पर ग्रन्थों की रचना की थी। परन्तु संगीत की अनेक पुस्तकें अब तक तालपत्रों पर हस्तलिखित प्रतियों के रूप में ही पुस्तकालयों की शोभा बढ़ा रही हैं। केवल एक दर्जन से कम ही पुस्तकों को प्रकाशित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

यद्यपि 'भारतीय नाट्यशास्त्र' में संगीत के अनेक रहस्य बतलाये गये हैं तथापि 'संगीतरत्नाकर' ही संगीतशास्त्र का सबसे बड़ा उपलब्ध ग्रन्थ है। इस अमूल्य ग्रन्थ में संगीत की जैसी सुगम तथा सर्वांगीण व्याख्या की गई है वैसी दूसरे किसी ग्रन्थ मे नहीं पाई जाती। प्राचीनता के लिए भी 'नाट्यशास्त्र' तथा नारदरचित 'संगीतमकरंद' को छोडकर 'संगीतरत्नाकर' सबसे पुराना

ग्रन्थ है। ऐसे सुन्दर ग्रन्थ के लिए इसके रचयिता 'शार्ङ्गदेव'[1] समग्र संगीत-प्रेमियों के आदर के पात्र हैं। इस ग्रन्थ के ऊपर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं। जिनमें 'चतुर कल्लिनाथ' (लगभग १४००–१५००) रचित टीका 'आनंदाश्रम' सीरीज में प्रकाशित हुई है तथा दूसरी टीका जो प्राचीनता तथा सरल व्याख्या की कसौटी पर पूर्वोक्त से कहीं अच्छी है कलकत्ते से प्रकाशित हुई थी। इस टीका का नाम है—संगीत सुधाकर। इसकी विशेषता यह है कि इसमें अनेक प्राचीन ग्रन्थों (जिनका अब नाम भी बाकी नहीं है) से उद्धरण लिये मिलते हैं जिनका ऐतिहासिक महत्व नितान्त आदरणीय है। इस टीका के रचयिता 'शिगभूपाल' हैं।

'शिंगभूपाल' के समय के विषय मे अनेक मत दीखते हैं। डाक्टर रामकृष्ण भाडारकर ने लिखा है—'शिंग अपने को 'आध्रमंडल' का अधिपति लिखता है; इसके विषय में ठीक-ठीक कहना तो अत्यन्त कठिन है तथापि अधिक सम्भावना इसी बात की है कि यह तथा देवगिरि के यादव राजा 'सिंघण' दोनों एक ही व्यक्ति थे। 'सिंघण' के आश्रित शार्ङ्गदेव ने 'संगीत-रत्नाकर' बनाया था[2]। संभव है कि शार्ङ्गदेव अथवा अन्य किसी पण्डित ने टीका लिखकर अपने आश्रयदाता नरेश के नाम से उसे विख्यात किया हो। अतएव इनका समय १३वीं शताब्दी का मध्यभाग मानना समुचित है।

श्रीयुत पी० आर० भाडारकर ने[3] कल्लिनाथ की टीका का उल्लेख पाने से 'शिंगभूपाल' को १६वीं सदी का माना था परन्तु कलकत्ता की एक हस्त-लिखित प्रति में कल्लिनाथ का उद्धरण बिल्कुल ही नहीं है। कलकत्ते की हस्तलिखित प्रति से शिंगभूपाल के जीवन तथा समय की अनेक बातें ज्ञात हुई हैं। कलकत्ते की प्रति की पुष्पिका यों है—

(१) इति श्रीमदन्ध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरव-श्रीयनबान-नरेन्द्रनन्दन-

---

१. गायकवाड़ ओरियंटल सीरीज नं० १६।

२. देवगिरि के प्रसिद्ध राजा सिंघ या सिंघण (१२१८-४९) की सभा में शार्ङ्गदेव रहते थे। यह राजा संस्कृत भाषा का बड़ा प्रेमी था। इसके धर्माध्यक्ष 'वादीन्द्र' ने 'महाविद्याविडंब' नामक नैयायिक ग्रंथ की रचना की है।

३. डाक्टर भंडारकर की संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८८२-८३)।

भुजबलभीम-श्रीसिंगभूपाल-विरचिताया संगीतरत्नाकर टीकाया सुधाकराख्यायां रागविवेकाध्यायो द्वितीयः ।

(रागविवेकाध्याय का अन्त)

(२) भैरव श्रीअमरेन्द्रनन्दन——(प्रकीर्णाध्याय का अन्त)

एक 'सिंगपाल' कृत 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थ की सूचना प्रो० शेषगिरि शास्त्री ने अपनी संस्कृत पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट (१८९६–९७) मे दी थी। उस पर उन्होंने बहुत कुछ कहा भी था। सौभाग्य से वह पुस्तक ट्रिवेंद्रम संस्कृत सीरीज (५० अं०) में प्रकाशित हुई है। उस ग्रन्थ की आलोचना करने से स्पष्ट मालूम पड़ता है कि 'रसार्णवसुधाकर' के रचयिता तथा पूर्वोक्त टीका के लेखक दोनों एक ही व्यक्ति हैं। सुधाकर की पुष्पिका में भी वे ही बातें दी गई हैं जो पूर्वोक्त उद्धरणों मे हैं—इति श्रीमदंध्रमण्डलाधीश्वर-प्रतिगुणभैरवश्री - अन्नप्रोतनरेन्द्र - भुजबलभीम - श्रीशिंगभूपाल - विरचिते रसार्णव-सुधाकरनाम्नि नाट्यालंकारे रंजकोल्लासो नाम प्रथमो विलासः।

ये दोनों पुष्पिकायें एक ही ग्रन्थकार की हैं। रसार्णव-सुधाकर के आरंभ में 'शिंगभूपाल' के पूर्वपुरुषों का इतिहास संक्षेप में वर्णित है। उससे जान पड़ता है कि 'रेचल्ल' वंश में इनका जन्म हुआ था। शिंगभूपाल अपने ६ पुत्रों के साथ 'राजाचल' नामक राजधानी मे रहता था और विंध्याचल से लेकर 'श्रीशैल' नामक पर्वत के मध्यस्थित देशपर राज्य करता था। शेषगिरि शास्त्री ने 'बायोग्रैफिक स्केचेज आफ दि राजाज आफ वेकटगिरि' नामक पुस्तक के आधार पर शिंगभूपाल को सिंगम नायडू से अभिन्न माना है। शास्त्रीजी का यह कथन सर्वथा उचित है क्योंकि 'रसार्णवसुधाकर' के आरंभ में शिंग ने स्वयं अपने को शूद्र बतलाया है तथा दक्षिण देश मे आज भी 'नायडू' की गणना उसी वर्ण मे होती है। इस जातिगत ऐक्य से दोनों व्यक्ति अभिन्न ठहरते हैं।

सिंगम नायडू का समय १३३० के आसपास था जिससे हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संगीत-सुधाकर की रचना चौदहवीं सदी के मध्य-काल में हुई थी।

पूर्वोक्त बातों पर ध्यान देने से यह स्पष्ट है कि शिंगभूपाल का संबंध दक्षिण देश से था, उत्तरीय भारत से नहीं। अतएव मैथिलों का यह प्रवाद कि शिंग मिथिला के राजा थे केवल कल्पनामात्र है—संकीर्ण प्रान्तीयता के सिवाय और कुछ नहीं है। श्रीश्यामनारायण सिंहने अपने 'हिस्ट्री आफ तिरहुत'

में इस प्रवाद का उल्लेख किया है[१]। रसार्णव-सुधाकर की हस्तलिखित प्रतियों के दक्षिण में मिलने तथा पुस्तक के दक्षिण में सातिशय प्रचार से शिंगभूपाल वास्तव में दक्षिण देश के ही सिद्ध होते हैं।

रसार्णवसुधाकर[२]—शिंगभूपाल की यह कमनीय कृति नाट्यशास्त्र के उपादेय विषयों की विवेचना में निर्मित की गई है। आरम्भ में ग्रन्थकार ने अपने वंश का पूरा परिचय दिया है जिससे ज्ञात होता है कि ये रेचल वंश मे उत्पन्न दाचयनायक के प्रपौत्र, शिंगप्रभु के पौत्र, अनन्त (अपरनाम अन्नपोत) के पुत्र थे। विन्ध्याचल से लेकर श्रीशैल के मध्यवर्ती प्रदेश के ये अधिपति थे। यह ग्रन्थ तीन विलासों मे विभक्त है—(१) 'रञ्जकोल्लास' नामक प्रथम विलास मे नायक तथा नायिका के स्वरूप तथा गुण का वर्णन विस्तार से किया गया है। अनन्तर चारों वृत्तियों के रूप तथा प्रभेदों का भी बिस्तृत विवेचन है। (२) द्वितीय विलास (रसिकोल्लास) में रस का बड़ा ही रोचक तथा विशद वर्णन किया गया है जिसमे रति के वर्णन-प्रसग मे भोजराज के मत का खण्डन किया गया है (पृ० १४९)। यह विवेचन जितना स्वच्छ तथा सुबोध है उतना ही उदाहरणों से परिपुष्ट तथा युक्तियों से युक्त है। (३) तृतीय विलास (भावोल्लास) मे रूपक के वस्तु का विस्तृत विन्यास है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में रूपक के तीनों अगों—नेता, रस तथा वस्तु का क्रमशः तीनों विलासों में सागोपाग विवेचन है। दशरूपक की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक विस्तृत तथा विशद है। दक्षिण भारत में दशरूपक की अपेक्षा इसी लिए इसका प्रचुरतर प्रचार है।

३६—भानुदत्त

संस्कृत साहित्य के इतिहास मे भानुदत्त नायिका-नायक-भेद के ऊपर सबसे बड़ी पुस्तक लिखने के कारण नितान्त प्रसिद्ध हैं। इस पुस्तक का नाम रसमंजरी है। इसी का संक्षेप विवरण भानुदत्त ने रसतरगिणी मे प्रस्तुत किया है जिसमें रस और भावों का ही विशेष रूप से वर्णन है। रसमंजरी के अन्तिम श्लोक में इन्होंने अपने को 'विदेहभूः' लिखा है जिससे जान पड़ता है कि ये मैथिल थे।

१—"He (Shinga Bhupal) is identified with some Mithila ruler of 14th century, but the question is much disputed."

—History of Tirhut, p. 167

२. अनन्तशयन ग्रन्थमाला (सं० ५०) में प्रकाशित, १९१६।

इन्होंने अपने पिता का नाम गणेश्वर लिखा है[1]। सूची-ग्रन्थों में भानुदत्त स्पष्ट ही मैथिल बतलाये गये हैं। गणेश्वर के मैथिल होने से बहुत सम्भव है कि ये प्रसिद्ध गणेश्वर मन्त्री हों जिनके पुत्र चण्डेश्वर ने 'बिवाद-रत्नाकर' लिखा था। चण्डेश्वर ने १३१५ ई० मे सोने से अपना तुलादान करवाया था। अतः भानुदत्त का भी यही समय है। इन्होंने 'शृंगारतिलक' तथा 'दशरूपक' का निर्देश अपने ग्रन्थों मे किया है तथा गोपाल आचार्य ने १४२८ ई० में रस-मंजरी के ऊपर 'विकास' नामक टीका लिखी थी। इससे स्पष्ट है कि भानुदत्त १३वीं शताब्दी के अन्त तथा १४वीं शताब्दी के आरम्भ मे हुए थे।

भानुदत्त ने **गीत-गौरीश** या **गीतगौरीपति** नामक बडा ही सुन्दर गीतिकाव्य लिखा था जो दश सर्गों मे समाप्त है। आलंकारिक भानुदत्त तथा कवि भानुदत्त इन दोनों के पिता का नाम गणेश्वर या गणपति है। रस-मंजरी के कुछ पद्य 'गीत-गौरीश' मे भी दिये गये मिलते हैं जिससे दोनों ग्रन्थकारों की एकता स्वतः सिद्ध होती है। यह गीतिकाव्य जयदेव के गीत-गोविन्द के आदर्श पर लिखा गया था। मैथिल काव्य मे बंगदेशीय कवि की मनोरम कविता से साम्य होना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है। अतः भानुदत्त गीतगोविन्दकार (१२ शतक) के पश्चाद्वर्ती हैं और इनका जो समय ऊपर निर्दिष्ट किया गया है उससे इसमे किसी प्रकार का विरोध भी उपस्थित नहीं होता।

ग्रन्थ

(१) भानुदत्त के दोनों ग्रन्थों मे **रस-मंजरी** सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसमें नायिका के बिभेदों का वर्णन सागोपाग किया गया है। ग्रन्थ का दो तिहाई भाग इसी विवेचन मे खर्च किया गया है। शेष भाग मे नायक-भेद, नायक के मित्र, आठ प्रकार के सात्त्विक भाव और शृंगार के दो भेद तथा विप्रलम्भ की दश अवस्थाओं का विवेचन किया गया है।

रसमंजरी की लोकप्रियता का परिचय इसके ऊपर लिखी गई अनेक टीकाओं से मिलता है। इस पर अब तक ११ टीकाएँ उपलब्ध हो चुकी हैं। (१) अनन्त पण्डितकृत व्यग्यार्थकौमुदी तथा (२) नागेश भट्टकृत प्रकाश ही बनारस संस्कृत सीरीज में (नं० ८३) प्रकाशित हो चुकी है। नागेश भट्ट तो

---

१. तातो यस्य गणेश्वर. कविकुलालंकारचूडामणिः।
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित् कल्लोलकीर्मिरिता॥
रसमंजरी का अन्तिम पद्य।

प्रसिद्ध वैयाकरण नागोजी भट्ट ही हैं। अनन्त पण्डित का मूलस्थान गोदावरी के किनारे पुण्यस्तम्भ नामक नगर था। इन्होंने यह टीका काशी में सवत् १६९२ (१६३६ ई०) मे लिखी थी। इन्होंने गोवर्धन सप्तशती के ऊपर भी टीका लिखी है जो काव्यमाला मे मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित है।

(२) भानुदत्त का दूसरा ग्रन्थ **रस तरंगिणी है** जिसमे रस का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसमे आठ तरग हैं जिनमे भाव, विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारी भाव, शृगाररस, इतर रस तथा स्थायी भाव और रस से उत्पन्न दृष्टियों का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया गया है। इसके ऊपर भी नव टीकाये लिखी हुई मिलती हैं जिनमें से गगाराम जडी कृत 'नौका' नामक टीका ही अब तक प्रकाशित हुई है। इस टीका की रचना सन् १७३२ ई० में की गई थी। भानुदत्त ने इन दोनों ग्रन्थों का निर्माण कर रस-सिद्धान्त का व्यापक विवरण प्रस्तुत किया है और इसी लिये ये अलंकार-शास्त्र के इतिहास मे स्मरणीय हैं।

३७—रूप गोस्वामी

बगाल में चैतन्य महाप्रभु के द्वारा जिस वैष्णव भक्ति की धारा प्रभावित हुई उससे प्रभावित होकर अनेक व्यक्तियों ने वैष्णव कल्पनाओं को रस-विवचन में प्रयुक्त किया। गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय मे धार्मिक दृष्टि से रस की साधना की जाती है। रस के विषय मे उनकी अनेक नवीन कल्पनायें हैं। ऐसे ग्रन्थकारों मे सबसे श्रेष्ठ थे **रूप गोस्वामी**। ये मुकुन्द के पौत्र और कुमार के पुत्र थे। ये चैतन्य महाप्रभु के साक्षात् शिष्य थे। अत इनका समय १५ शताब्दीका अन्त तथा १६वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। इनके ग्रन्थों के लेखन-काल से भी इस समय की पुष्टि होती है। इनका 'विदग्ध-माधव' १५३३ ई० में लिखा गया था तथा 'उत्कलिकावल्लरी' १५५० ई० में लिखी गई थी।

अलकार विषय मे इनके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए **हैं—(१) नाटक चन्द्रिका, (२) भक्तिरसामृतसिन्धु, (३) उज्ज्वलनीलमणि।**

नाटकचन्द्रिका में नाटक के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन है। इसके आरम्भ में उन्होंने लिखा है कि इसकी रचना के लिए इन्होंने भरत शास्त्र और रस-सुधाकर (शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर) का अध्ययन किया है। और भरत के सिद्धान्तों से प्रतिकूल होने के कारण इन्होंने साहित्यदर्पण के निरूपण को

बिल्कुल छोड़ दिया है। इस ग्रन्थ में निरूपित विषयों का क्रम इस प्रकार है— नाटक का सामान्य लक्षण, नायक, रूपक के अंग, सन्धि आदि के प्रकार, अर्थोपक्षेपक और विष्कभक आदि इसके भेद, नाटक के अंकों का तथा दृश्यों का विभाजन, भाषाविधान, वृत्तिविचार और रसानुसार उनका प्रयोग। यह ग्रन्थ छोटा नहीं है। इसके उदाहरण अधिकतर वैष्णव ग्रन्थों से लिये गये हैं जो संख्या मे अत्यधिक तथा सूक्ष्म हैं।

भक्तिरसामृतसिन्धु—भक्ति-रस के स्वरूप का विवेचनात्मक यह ग्रन्थ[1] चैतन्य सम्प्रदाय मे धार्मिक तथा साहित्यिक उभय दृष्टियों से अनुपम है। इस ग्रन्थ मे चार विभाग हैं—(१) पूर्व, (२) दक्षिण, (३) पश्चिम, (४) उत्तर और प्रत्येक विभाग में अनेक लहरियाँ हैं। पूर्व विभाग में प्रथमतः भक्ति का सामान्य लक्षण निर्दिष्ट है (प्रथम लहरी)। अनन्तर भक्ति के तीनों भेदों का—साधनभक्ति, भावभक्ति तथा प्रेमाभक्ति का विशिष्ट विवरण दिया गया है (२-४ लहरी)। दक्षिण विभाग में क्रमशः विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव, व्यभिचारिभाव तथा स्थायिभाव का भिन्न-भिन्न लहरियों के वर्णन के अनन्तर भक्तिरस के सामान्य रूप के विवरण के साथ यह विभाग समाप्त होता है। पश्चिम विभाग में भक्ति-रस के विशिष्ट रूप का विन्यास है जिसमें क्रमशः शान्तभक्ति, प्रीतभक्ति, प्रेयोभक्ति, वत्सल भक्ति तथा मधुरभक्ति रस का विभिन्न लहरियों में बड़ा ही सागोपाग विवेचन प्रस्तुत किया गया है। रूप गोस्वामी के अनुसार भक्ति-रस ही प्रकृत रस है तथा अन्य रस उसी की विभिन्न विकृतियाँ तथा प्रभेद हैं। इनका वर्णन उत्तर-विभाग का विषय है जिसमें हास्य, अद्भुत, वीर, करुण तथा रौद्र, बीभत्स और भयानक रसों का वर्णन है। अनन्तर रसों की परस्पर मैत्री तथा विरोध की विवेचना कर रसाभास के विशिष्ट रूप के निर्धारण के साथ यह ग्रन्थ समाप्त होता है। स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ **भक्तिरस** का महनीय विश्वकोश है। ग्रन्थ का रचनाकाल है १४६३ शक संवत् = १५४१ ईस्वी।

उज्ज्वलनीलमणि—यह ग्रन्थ पूर्व ग्रन्थ का पूरक है। 'उज्ज्वल' का अर्थ है शृंगार; अतः मधुरशृंगार रस की विस्तृत विवेचना के लिए इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ है। इसमे क्रमशः नायक, नायक के सहायक, हरिप्रिया, राधा, नायिका, यूथेश्वरी भेद, दूती के प्रकार, सखी के वर्णन के अनन्तर कृष्ण

१—जीवगोस्वामी की टीका (दुर्गमसंगमनी) से युक्त इसका एक सुन्दर संस्करण पण्डित दामोदरलाल गोस्वामी की सम्पादकता में अच्युतग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ है। काशी, १९८८ वि० सं०।

के सखा का वर्णन है। पश्चात् मधुर रस के उद्दीपन, अनुभाव, सात्त्विक, व्यभिचारी तथा स्थायी का विस्तृत वर्णन कर श्रृंगार-संयोग तथा विप्रलम्भ की नाना दशाओं का रहस्य समझाया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थराज रसराज भक्ति-रस का विवेचनात्मक विशाल ग्रन्थ है जो भक्तिदृष्टि से भी उतना ही माननीय है जितना साहित्यदृष्टि से श्लाघनीय है।

रूप गोस्वामी के अन्तिम दोनों ग्रन्थों मे भक्ति की रसरूपता का बड़ा ही प्राञ्जल, प्रामाणिक तथा प्रशस्त विवेचन किया गया है। ग्रन्थकार की ये दोनों अमर कृतियाँ हैं, इसमे तनिक भी सन्देह नहीं।

'उज्ज्वल नीलमणि' की दो टीकायें प्रकाशित[1] हुई हैं और दोनों ही बड़ी प्रसिद्ध हैं। (१) पहली टीका का नाम है लोचन-रोचनी जिसकी रचना रूप गोस्वामी के भाई वल्लभ के पुत्र जीव गोस्वामी ने की थी। जीव गोस्वामी बहुत ही बड़े विद्वान् थे। दर्शन तथा साहित्य का, भक्ति तथा साधना का जितना सामञ्जस्य जीव गोस्वामी के जीवन में था उतना अन्यत्र मिलना दुष्कर है। इनका जन्म शक १४४५ (१५२३ ई०) में तथा मृत्यु शक १५४० (१६१८ ई०) मे हुई थी। इससे स्पष्ट है कि इनका कार्यकाल १६वी शताब्दी का उत्तरार्ध था। (२) दूसरी टीका का नाम आनन्द-चन्द्रिका या 'उज्ज्वल नीलमणि किरण' है। इसके रचयिता विश्वनाथ चक्रवर्ती गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय के अत्यन्त पूजनीय ग्रन्थकार हैं। इनका स्थितिकाल १७वीं शताब्दी का अन्त तथा १८वीं का आदिम काल है। इस आनन्दचन्द्रिका की रचना १६१८ शक (१६९६ ई०) मे हुई थी। इन्होंने भागवत के ऊपर "सारार्थदर्शिनी" नामक टीका की रचना १६२६ शक (१७०४ ई०) मे की थी। इस प्रकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भक्ति तथा साहित्य दोनों प्रकार के शास्त्रों पर अपने पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थों को लिखा है।

३८—कवि कर्णपूर

कवि कर्णपूर का वास्तविक नाम परमानन्ददास सेन था। ये शिवानन्द सेन के पुत्र तथा श्रीनाथ के शिष्य थे। ये बंगाल के सुप्रसिद्ध वैष्णव ग्रन्थकार थे। ये जीव गोस्वामी के समकालीन ग्रन्थकर्ता थे। इनके पिता शिवानन्द चैतन्य-देव के साक्षात् शिष्यों में से थे। कवि कर्णपूर का जन्म बंगाल के नदिया जिले

१—काव्यमाला ९५, बम्बई १९१३।

मे १५२४ ई० में हुआ था। चैतन्य के जीवनचरित को नाटक रूप से प्रदर्शित करने के लिए इन्होंने १५७२ ई० में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नामक सुप्रसिद्ध नाटक लिखा।

अलंकार शास्त्र पर इनका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है **अलंकार-कौस्तुभ**। यह ग्रन्थ दश किरणों या अध्यायों मे समाप्त हुआ है। इसमें काव्य-लक्षण, शब्दार्थ, ध्वनि, गुणीभूत व्यंग्य, रसभावभेद, गुण, शब्दालंकार, अर्थालंकार, रीति तथा दोष का क्रमशः वर्णन किया गया है। इस प्रकार रूप गोस्वामी के ग्रन्थ से इसका विस्तार विषय की दृष्टि से अधिक है। यद्यपि इसके अधिकांश उदाहरण कृष्णचन्द्र की स्तुति मे ही निबद्ध किये गये हैं तथापि इसमें उतनी वैष्णवता का पुट नहीं है जितनी रूप गोस्वामी के ग्रन्थ मे मिलती है। बंगाल मे यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। इसके ऊपर तीन टीकाओं का पता चलता है जिनमे वृन्दावनचन्द्र तर्कालंकार चक्रवर्ती की 'दीधितिप्रकाशिका' टीका तथा लोकनाथ चक्रवर्ती की टीका अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। केवल विश्वनाथ चक्रवर्ती की सारबोधिनी टीका मूल ग्रन्थ के साथ प्रकाशित हुई है[1]।

कविचन्द्र कवि कर्णपूर तथा कौशल्या के पुत्र बतलाये जाते हैं। ये कवि कर्णपूर ऊपर निर्दिष्ट आलंकारिक ही हैं यह कहना प्रमाणसिद्ध नहीं है। अलंकारविषयक इनका ग्रन्थ काव्यचन्द्रिका है जो अभी तक प्रकाशित नहीं हुई है। इसमें १६ प्रकाश हैं जिनमे साहित्यशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन है। इसमे ग्रन्थकार ने सारलहरी तथा धातुचन्द्रिका नामक अपने अन्य ग्रन्थों का भी निर्देश किया है। इनका समय १६वीं शताब्दी का अन्त और १७वीं का प्रारम्भकाल है।

३९—अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दक्षिण भारत के मान्य ग्रन्थकारों में अग्रणी हैं। इनका अपना विशिष्ट विषय दर्शनशास्त्र है जिसके विभिन्न अंगों पर इन्होंने अनेक विद्वत्तापूर्ण, प्रामाणिक ग्रन्थों की रचना की है। अद्वैत वेदान्त मे इनका कल्पतरुपरिमल (अमलानन्द कृत कल्पतरु-व्याख्या की टीका) तथा सिद्धान्तलेश-संग्रह प्रख्यात ग्रन्थ हैं। सिद्धान्तलेश अद्वैतवेदान्त के आचार्यों के महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का न

1—विश्वनाथ चक्रवर्ती की टीका के साथ इसके दो संस्करण मुर्शिदाबाद तथा राजशाही (बंगाल) से प्रकाशित हुए हैं।

केवल सारभूत संग्रह है प्रत्युत ऐतिहासिक दृष्टि से भी उपादेय है। इन्होंने शैवाचार्य श्रीकण्ठ के ब्रह्मसूत्र भाष्य पर 'शिवार्कमणिदीपिका' नामक उच्च कोटि की टीका लिखी है। कर्म मीमासा मे भी 'विधिरसायन', 'उपक्रम पराक्रम', 'वादनक्षत्रावली' तथा 'चित्रकूट' इनके मान्य ग्रन्थ हैं। इस प्रकार ये दर्शन के एक अलौकिक विद्वान् ही न थे प्रत्युत एक उच्च कोटि के साधक थे।

अलंकार शास्त्र मे इनके तीन ग्रन्थ हैं—(१) कुवलयानन्द, (२) चित्र-मीमासा और (३) वृत्तिवार्तिक। इनमे वृत्तिवार्तिक सबसे पहला ग्रन्थ है, तदनन्तर चित्रमीमासा तथा सबके पीछे कुवलयानन्द की रचना की गई क्योंकि कुवलयानन्द मे चित्र-मीमासा का उल्लेख पाया जाता है।

(१) वृत्तिवार्तिक[1]—यह शब्द-वृत्तियों की विवेचना मे लिखा गया एक छोटा ग्रन्थ है। इसमे केवल दो ही परिच्छेद हैं जिसमे अभिधा और लक्षणा का ही वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ अधूरा ही दीख पड़ता है।

(२) कुवलयानन्द अलंकारों के निरूपण के लिए बहुत ही सुन्दर और उपादेय ग्रन्थ है। यह पूरा ग्रन्थ जयदेव के 'चन्द्रालोक' पर आश्रित है। अन्त में चौबीस नये अलंकारों की कल्पना तथा उनका निरूपण ग्रन्थकार ने स्वयं किया है। इस प्रकार यद्यपि यह ग्रन्थ मौलिक नहीं है तथापि अलंकारों की रूपरेखा जानने के लिए अतीव उपादेय है। इसकी लोकप्रियता का यही कारण है। इसके ऊपर लगभग नौ टीकाये मिलती हैं, जिनमे आशाधर की दीपिका तथा वैद्यनाथ तत्सत् की अलंकारचन्द्रिका टीका अनेक बार प्रकाशित हुई हैं। काशी के विश्वरूप यति के शिष्य तथा वाधूलवंशी देव सिंह सुमति के पुत्र गंगाधर वाजपेयी की टीका रसिकरंजिनी, जो कुम्भकोणम् से प्रकाशित हुई है, इन दोनों की अपेक्षा अप्पय दीक्षित के मूल ग्रन्थ की विशुद्धि की जॉच के लिए अधिक उपयोगी है, क्योंकि इन टीकाकार के कथनानुसार अप्पय दीक्षित इनके पितामह के भाई के गुरु थे तथा इन्होंने स्वयं ग्रन्थ का पाठ ठीक करने में बहुत ही परिश्रम किया था। ये तंजौर के राजा शाहजी (१६८४ से १७११ ई०) के दरबार के सभा-पण्डित थे। अतः इनका समय १७वीं शताब्दी का अन्त तथा १८वी का आदिकाल है।

(३) चित्रमीमांसा—यह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है और ग्रन्थकार की यह प्रौढ़ रचना है। यह ग्रन्थ अतिशयोक्ति अलंकार तक वर्णन कर बीच ही में

१—काव्यमाला में प्रकाशित।

समाप्त हो जाता है। इस ग्रन्थ के अन्त में एक कारिका मिलती है[1], जिससे पता चलता है कि ग्रन्थकार ने जान-बूझकर इस ग्रन्थ को अधूरा छोड़ दिया है। अप्पयदीक्षित ने अपने कुवलयानन्द में चित्रमीमासा का जो उल्लेख किया है (पृ० ७८, ८६, १३३) वह श्लेष, प्रस्तुताकुर और अर्थान्तरन्यास अलंकारों के विवेचन से संबंध रखता है परन्तु वर्तमान उपलब्ध ग्रन्थ में यह अंश त्रुटित है। इस ग्रन्थ में अलकारों का विशिष्ट विवेचन ही ग्रन्थकार को अभीष्ट है। अप्पय दीक्षित उपमा को सबसे अधिक मौलिक तथा महत्त्वपूर्ण अलंकार मानते हैं और इसके ऊपर अवलम्बित होनेवाले २२ अलंकारों का निर्देश करते हैं। परन्तु केवल एकादश अलंकारों का निरूपण मिलता है। इससे स्पष्ट है कि किसी प्रकार ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक यह ग्रन्थ अधूरा ही रह गया है। इसके ऊपर भी कतिपय टीकाये मिलती हैं जिनमें बालकृष्ण पायगुण्ड की टीका प्रसिद्ध है। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसके ऊपर **'चित्रमीमांसा-खण्डन'** नामक एक पूरा ग्रन्थ ही लिखा है जिसमें अप्पय दीक्षित के सिद्धान्तों का विशिष्ट खण्डन किया गया है।

अप्पय दीक्षित ने कुवलयानन्द की रचना बेकट नामक राजा के आदेश से की, इसका उल्लेख इन्होंने स्वयं किया है[2]। ये बेकट विजयनगर के राजा बेकट प्रथम से अभिन्न माने जाते हैं। इनके एक दान-पत्र का समय १५८३ शक (१६०१ ई०) है। इससे स्पष्ट है कि अप्पय दीक्षित १६वीं शताब्दी के अन्त तथा १७वीं के आरम्भ में थे। इस समय की पुष्टि इस घटना से भी होती है कि कमलाकर भट्ट ने १७ वीं शताब्दी के प्रथमार्ध में अप्पय दीक्षित का उल्लेख किया है तथा इसी काल के आस-पास पण्डितराज जगन्नाथ ने इनका खण्डन किया है।

४०—पण्डितराज जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ अलकारशास्त्र के इतिहास मे सबसे प्रसिद्ध अन्तिम प्रौढ़ आलंकारिक हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पेरुभट्ट तथा माता का लक्ष्मीदेवी था। पण्डितराज अप्पय दीक्षित के समकालीन थे। इनके पिता ने वेदान्त की शिक्षा ज्ञानेन्द्रभिक्षु से, न्याय वैशेषिक की

१—अप्यर्ध-चित्रमीमांसा न मुदे कस्य मांसला।

महेन्द्र पण्डित से, पूर्वमीमासा की खण्डदेव से तथा व्याकरण की शिक्षा शेष वीरेश्वर से ली थी। जगन्नाथ ने इन विषयों का अध्ययन अपने पिता से तथा अपने पिता के एक गुरु वीरेश्वर से किया था। इनके जीवन के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ सुनी जाती हैं। दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया था। ये कुछ दिनों तक शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दाराशिकोह को संस्कृत पढाते थे। जगदाभरण काव्य मे इन्होंने दाराशिकोह की प्रशंसा की है। सुनते हैं कि इन्होंने किसी यवनी से विवाह-संबंध कर लिया था और इसी कारण समाज से बहिष्कृत किये जाने पर इन्होंने एक अलौकिक घटना से अपनी निर्दोषता सिद्ध की। कहा जाता है कि गंगालहरी के पाठ करने से स्वयं गंगा बढ़ती चली गई और स्वयं इन्हे अपनी गोद मे लेकर इनकी निर्दोषता को सिद्ध कर दिया।

यह किंवदन्ती भले ही अक्षरशः सत्य न हो, परन्तु इतना तो निश्चित है कि इन्होंने अपना यौवनकाल दिल्ली के बादशाह शाहजहाँ की छत्रछाया मे बिताया[1]। दिल्लीश्वर की प्रशंसा इन्होंने अपने ग्रन्थ मे की है[2]। अपने जीवन के अन्तिम काल मे ये मथुरा मे निवास करते थे[3]। ये परम वैष्णव थे। भगवान् विष्णु की स्तुति मे इनके सरस पद्यों को पढकर कोई भी आलोचक इनकी अहैतुकी भक्ति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। काशी इनक जन्मभूमि न होते हुए भी कर्मभूमि थो।

समय

शाहजहाँ तथा दाराशिकोह के समकालीन होने के कारण पण्डितराज का समय भली भाँति निश्चित किया जा सकता है। इन्होंने शाहजहाँ की प्रशंसा में अपना एक पद्य रसगंगाधर मे दिया है[4]। दाराशिकोह की प्रशंसा मे इनका

१—दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः।

२—दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः।
अन्येन केनापि नृपेण दत्तं शाकाय वा स्यात् लवणाय वा स्यात्॥

३—मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते।

४—भूमीनाथ-शहाबुदीन-भवतस्तुल्यो गुणानां गणै-
रेतद्भूतभवप्रपञ्चविषये नास्तीति किं ब्रूमहे।
[illegible] नवा भावयं-
न स्यादेव तथापि तावकतुलालेशं दधानो नरः॥

—रसगंगाधर पृ० २१०।

'जगदाभरण' नामक पूरा काव्य ही है। शाहजहाँ के दरबार के सरदार नवाब आसफ खाँ के आश्रय में भी ये कुछ दिन रहे थे, ऐसा प्रतीत होता है। आसफ खाँ की मृत्यु १६४१ ई० में हुई थी। उसी के दुःख में इन्होंने 'आसफ-विलास' नामक ग्रन्थ लिखा है। इसलिये इनका समय १७वीं शताब्दी का मध्यभाग है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने बहुत से काव्यग्रन्थों की रचना की है जिनमें भामिनीविलास, गंगालहरी, करुणालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, आसफविलास, जगदाभरण, प्राणाभरण, सुधालहरी, यमुना-वर्णन चम्पू प्रसिद्ध हैं। भट्टोजि दीक्षित की मनोरमा के खण्डन के लिए इन्होंने 'मनोरमाकुचमर्दन' नामक व्याकरण-ग्रन्थ भी लिखा है।

रसगंगाधर

अलंकार-जगत् मे इनका सबसे श्रेष्ठ ग्रन्थ **रसगंगाधर** है। यह ध्वन्यालोक तथा काव्यप्रकाश के समान महत्त्वपूर्ण प्रामाणिक ग्रन्थ है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में जो उदाहरण दिये हैं वे सब इन्हीं की रचना हैं[1]। पण्डितराज केवल आलंकारिक ही नही थे प्रत्युत एक उत्कृष्ट कवि भी थे। रसगंगाधर के अधूरा होने पर भी यह ग्रन्थ नितान्त महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में केवल दो आनन या अध्याय हैं। प्रथम आनन मे काव्य का लक्षण 'रमणीयार्थप्रतिपादक शब्द' किया गया है। इसकी पुष्टि करते समय इन्होंने प्राचीन आलंकारिकों के काव्य-लक्षण की पूरी समीक्षा की है। प्रतिभा को ही काव्य का मुख्य हेतु बतलाकर इन्होंने काव्य के चार विभाग या प्रकार निश्चित किये हैं— (१) उत्तमोत्तम, (२) उत्तम, (३) मध्यम, (४) अधम। तदनन्तर रस का सागोपाग विवेचन ग्रन्थकार ने किया है। द्वितीय आनन के आरम्भ में ध्वनि के प्रभेदों का विवेचन कर अभिधा और लक्षणा की समीक्षा है। तदनन्तर अलंकारों का निरूपण किया गया है। इन्होंने केवल ७० अलंकारों का वर्णन किया है। उत्तरालंकार के वर्णन से यह ग्रन्थ समाप्त होता है।

१—निर्माय नूतनमुदाहरणस्वरूपं,
काव्यं मयात्र निहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसापि गन्धः,
कस्तूरिका - जनन - शक्तिभृता मृगेण ॥

—रसगंगाधर पृ० ३।

रसगंगाधर के अधूरे लिखे जाने के कारण यह नहीं समझना चाहिये कि इस ग्रन्थ के लिखते समय लेखक का देहावसान हो गया था। क्योंकि 'चित्रमीमासा-खण्डन' नामक ग्रंथ के उल्लेख से पता चलता है कि पण्डितराज जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ की रचना रसगंगाधर के निर्माण के अनन्तर की।

पण्डितराज जगन्नाथ ने अप्पय दीक्षित के चित्रमीमांसा नामक अलंकार ग्रन्थ के खण्डन करने के लिए ही 'चित्रमीमासा खण्डन' का प्रणयन किया था। अप्पय दीक्षित ने अलंकारों के निरूपण के लिए रुय्यक के 'अलंकार सर्वस्व' तथा जयरथ की 'विमर्शिणी' टीका से विपुल सामग्री ग्रहण की थी। अप्पय दीक्षित के खण्डन के अवसर पर पण्डितराज ने इन ग्रन्थकारों की भी कटु आलोचना की है। यह आलोचना कटु होते हुए भी यथार्थ है।

रसगंगाधर पाण्डित्य का निकषग्रावा समझा जाता है। जगन्नाथ ने इस ग्रन्थ में पाण्डित्य तथा वैदग्ध्य का अद्भुत संमिश्रण प्रस्तुत किया है। इनके लिखने की शैली बड़ी ही उदात्त तथा ओजस्विनी है। अपने प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करने मे इनकी बुद्धि बड़ी ही तीव्रता से चलती थी। इनकी आलोचना निष्पक्ष होती थी और खण्डन के अवसर पर विलक्षण तीव्रता दिखलाती थी। इन्होंने मम्मट और आनन्दवर्धन की भी आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया है। परन्तु विशेष खण्डन इन्होंने अप्पय दीक्षित के मत का किया है। इस आलोचना मे इतना व्यक्तिगत आक्षेप तथा कटुता है कि अनेक आलोचक इसे जातिगत विद्वेष समझते हैं। अप्पय दीक्षित अत्यन्त सुप्रसिद्ध द्रविड़ पण्डित थे और पण्डितराज तैलंग ब्राह्मण थे। अप्पय दीक्षित की विशेष कीर्ति को दबाने के लिए ही पण्डितराज ने यह अनुचित प्रहार किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ में मम्मट, रुय्यक, जयरथ को अधिकता से उद्धृत किया है। विद्याधर, विद्यानाथ तथा विश्वनाथ के निर्देश के अनन्तर इन्होंने **अलंकार-भाष्यकार का** उल्लेख किया है (पृ० २३९, ३६५)। इसके लेखक रुय्यक के टीकाकार जयरथ ही हैं। जयरथ ने स्पष्ट ही लिखा है कि उन्होंने **'अलंकार भाष्य'** नामक ग्रन्थ बनाया था। इन्होंने **'अलंकार-रत्नाकर'** ग्रन्थ का भी निर्देश किया है (पृ० १६३, १६९) जो शोभाकरमित्र-रचित अलंकाररत्नाकर प्रतीत होता है।

टीका

रसगंगाधर की केवल दो टीकायें उपलब्ध हैं जिनमें नागेश भट्ट कृत 'गुरुमर्म-प्रकाशिका' ही अब तक प्रकाशित हुई है। नागेश भट्ट का अपना

विषय व्याकरण है जिसमें इन्होंने अनेक सुन्दर ग्रन्थों की रचना की है। ये काशी के महाराष्ट्र ब्राह्मण थे और इनका उपनाम काले था। ये शिवभट्ट और सतीदेवी के पुत्र थे। भट्टोजी दीक्षित के पौत्र तथा वीरेश्वर दीक्षित के पुत्र हरि दीक्षित के ये शिष्य थे। भट्टोजी दीक्षित स्वयं शेष श्रीकृष्ण के शिष्य थे, जिनके पुत्र शेष वीरेश्वर पण्डितराज जगन्नाथ के गुरुओं में अन्यतम थे। इस प्रकार नागोजी भट्ट पण्डितराज जगन्नाथ से केवल दो पीढ़ी बाद में हुए थे। भानुदत्त की रस-मंजरी पर नागेश की टीका की एक हस्तलिखित प्रति १७१२ ई० में लिखी गई थी। इस प्रकार नागेश का समय १८वी शताब्दी का आरम्भकाल है।

अलंकार-शास्त्र पर लिखे गये इनके ग्रन्थों का नाम इस प्रकार है—

(१) गुरुमर्म-प्रकाशिका—यह जगन्नाथ के रस-गंगाधर पर टीका है[1]। (२) बृहत् तथा लघु उद्योत—यह गोविन्द ठक्कुर के काव्यप्रदीप की टीका है। (३) उदाहरण दीपिका—यह मम्मट के ग्रन्थ का विवरण है। (४) अलंकार सुधा और विषमपदव्याख्यान षट्पदानन्द—यह अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द की टीका है। (५) प्रकाश—यह भानुदत्त की रसमंजरी की टीका है। (६) भानुदत्त की रसतरंगिणी की व्याख्या है।

रसगंगाधर की एक दूसरी टीका का भी पता चला है जिसका नाम 'विषमपदी' है परन्तु यह अब तक अप्रकाशित है। और इसके ग्रन्थकार का भी पता नहीं चलता।

४१—आशाधर भट्ट

दो आशाधर—उनकी एकता मानने में भ्रान्ति

हमें अनेक कठिनाइयों का सामना आशाधर भट्ट के जीवनचरित्र लिखते समय अधिक मात्रा मे करना पड़ा है। संस्कृत अलंकार-साहित्य मे आशाधर नामवाले दो व्यक्तियों का पता लगता है। इसमें से प्रथम आशाधर का पता डाक्टर पीटरसन ने १८८३ ईसवी मे लगाया था; और दूसरे आशाधर के ग्रन्थ का पता डाक्टर बूलर के अनुग्रह से १८७१ ईसवी में लगा। इस नाम-सादृश्य के

१—यह ग्रन्थ मूल के साथ काव्यमाला, बम्बई तथा बनारस संस्कृत सीरीज से प्रकाशित हुआ है।

कारण अनेक लेखकों को इनके पार्थक्य के विषय मे सन्देह उत्पन्न हो गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने दोनों आशाधरों का साथ ही साथ उल्लेख किया है अवश्य, परन्तु फिर भी उनके एक व्यक्ति मानने मे उन्होंने सन्देह प्रकट किया है। आश्चर्य तो यह है कि औफ्रेक्ट के बहुत वर्षों के अनन्तर जब सस्कृत साहित्य के विषय मे अनेक प्रामाणिक सिद्धान्तों की उद्भावना हो गई है तथा अनेक नवीन आविष्कार हो चुके हैं, डाक्टर हरिचन्द शास्त्री ने भी इन दोनो लेखकों की एकता स्वीकृत की है। यदि इन दोनों लेखकों के चरित तथा ग्रन्थों का कुछ भी अध्ययन किया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि नाम-सादृश्य के अतिरिक्त इनको एक व्यक्ति मानने का और कोई यथार्थ प्रमाण या कारण नहीं है।

प्राचीन आशाधर का संक्षिप्त परिचय

प्राचीन आशाधर जैन थे। व्याघ्रेरवाल वंश मे इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम सल्लक्षण था। अजमेर प्रदेश मे इनका जन्म हुआ। अनन्तर किसी कारण से ये मालवा की प्रधान नगरी धारा मे आकर रहने लग गये थे। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ बनाये थे। इनके 'त्रिषष्टि-स्मृति-चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ के बनने का समय ईसवी सन् १२३६ दिया हुआ है जिससे इनका तेरहवीं सदी मे होना सिद्ध होता है। अनेक जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त इस आशाधर ने 'रुद्रट' के 'काव्यालंकार' पर एक टीका का भी निर्माण किया है। यह तो हुई प्राचीन आशाधर के समय की चर्चा। परन्तु ये आशाधर भट्ट जैन आशाधर से बहुत पीछे के हैं—लगभग चार सौ वर्ष पीछे के हैं। इसका यथेष्ट प्रमाण आगे चलकर दिया जायगा।

जीवन-चरित

ऊपर कहा जा चुका है कि आशाधर भट्ट के वंश, देश, समय आदि ऐतिहासिक विवरण के उपयुक्त बातों का पता अभी तक नहीं चला है। इनके ग्रन्थ मे सौभाग्यवश इनके पिता तथा गुरु के नाम उल्लिखित हैं[1]। इनके

१—शिवयोरतनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजी भट्टसूनुना।

—अलंकारदीपिका पृ० १।

धरणीधरपादाब्जप्रसादासादितस्मृतेः।
आशाधरस्य वागेषा तनोतु विदुषां मुदम्॥

—अलंकारदीपिका पृ० ९४।

पिता का माम 'रामजी भट्ट' तथा गुरु का 'धरणीधर' था। इन्होंने अपने पिता को 'पद-वाक्य-प्रमाण-पारावारीण' लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि रामजी भट्ट व्याकरण, न्याय तथा मीमासा के उत्कृष्ट पण्डित थे। आशाधर ने यद्यपि अपने को 'कवि' कहा है, तथापि व्याकरणादि इतर शास्त्रों में इनकी व्युत्पत्ति खूब अच्छी थी। त्रिवेणिका मे वैयाकरणों तथा तार्किकों के शब्द-शक्ति विषयक मत का उल्लेख बड़ी खूबी से संक्षेप मे दिया गया है। संभवतः इन विषयों का अध्ययन इन्होंने पिता से किया था तथा अलंकारादि विषयों का अपने गुरु धरणीधर से। अनुमान है कि ये गुजरात प्रान्त के निवासी थे; क्योंकि इनके ग्रन्थों की उपलब्धि अधिकतर उसी प्रान्त मे हुई है। 'भट्ट' उपनाम से इनके ब्राह्मण होने की बात स्पष्ट प्रमाणित होती है।

समय

दुर्भाग्यवश आशाधर ने अपने किसी ग्रन्थ मे रचना-काल का उल्लेख नहीं किया है। अतः इनके समय का निरूपण करने में केवल भीतरी साधनों-पर ही सर्वथा अवलम्बित होना पड़ता है। आशाधर ने अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' नामक प्रसिद्ध अलंकार ग्रन्थ पर 'अलंकार-दीपिका' नामक टीका लिखी है। इससे इनका अप्पय दीक्षित के अनन्तर होना प्रमाणसिद्ध है। संस्कृत साहित्य के प्रेमी पाठक जानते होंगे कि दीक्षितजी दर्शन के प्रचण्ड व्याख्याता थे; तथा उनका समय १६वीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा १७वीं का आरम्भ माना जाता है। 'त्रिवेणिका' मे भट्टोजी दीक्षित का उल्लेख है। सिद्धान्तकौमुदी, मनोरमा आदि व्याकरण ग्रन्थों के रचयिता भट्टोजी दीक्षित का भी समय १६वीं सदी का अन्त तथा १७वीं का प्रारम्भ माना जाता है। सम्भवतः आशाधर भट्टोजी दीक्षित के भतीजे कोण्ड भट्ट से भी परिचित थे; क्योंकि 'त्रिवेणिका' मे वैयाकरणों के शब्द-शक्ति विषयक जिस मत का उल्लेख पाया जाता है, वह कोण्ड भट्ट रचित 'वैयाकरण-भूषण' के तद्विषयक मन्तव्य से पूरे तौर से मेल खाता है। कोण्ड भट्ट का काल १७वीं सदी का मध्यभाग माना जाता है। इन प्रमाणों से सिद्ध होगा कि आशाधर का समय १७वीं सदी के पहले कदापि नहीं हो सकता।

यह तो हुई ऊपरी सीमा। अब इनके समय की निम्नतम सीमा के विषय मे कुछ विचार करना चाहिए। इनके कोविदानन्द नामक ग्रन्थ की हस्त-लिखित प्रति का काल शक सं० १७८३ (१८६१ ई०) दिया हुआ है। इनकी 'अलंकारदीपिका' की प्रति का समय १७७५ शक (१८५३ ई०) लिखा हुआ है,

जिसमें १९वीं सदी में इनका प्रसिद्ध होना साफ तौर से जान पड़ता है। किसी लेखक के ग्रन्थों के लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी या इससे कुछ अधिक समय अनुमान से माना जा सकता है। यदि यही मानें, तो कह सकते हैं कि आशाधर का समय १७वीं सदी का अन्तिम काल अथवा १८वीं सदी का आरम्भिक भाग होगा। इस अनुमान के लिए त्रिवेणिका मे एक पर्याप्त प्रमाण भी है, जिसका यहाँ उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। वैयाकरणों मे नागेश भट्ट ने ही स्पष्ट शब्दों मे व्यंजना की सत्ता स्वीकार की है[1]। उनके पहले वाले वैयाकरण तो उसे अभिधा के दीर्घ व्यापार के अन्तर्गत ही मानते थे। परन्तु नागोजीका कहना है कि निपातों का द्योतकत्व तथा स्फोट का व्यंग्यत्व स्वीकार करनेवाले पतजलि भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने भी अस्पष्ट रूप से व्यंजना मानी है। वैयाकरणों के लिए व्यंजना का मानना अत्यावश्यक है—उसके बिना उनका काम चलना कठिन हो जायगा। अतएव नागेश ने स्पष्टतः व्यंजना को वृत्त्यन्तर माना है। परन्तु आशाधर को इस मत का बिल्कुल पता नहीं। यदि ऐसा होता तो वैयाकरणों के मत का खण्डन करके व्यंजना सिद्ध करने के लिये वे उद्योग ही न करते[2]। इस 'सिद्ध-साधन' से लाभ ही क्या होता? अतः कहना पडता है कि नागोजी के मत का आशाधर को कुछ भी पता नही था। नागेश का समय १७वीं सदी का अन्त तथा १८वीं का आरम्भ माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि कोण्डभट्ट और नागोजी भट्ट के समय के बीच मे आशाधर उत्पन्न हुए थे, अर्थात् आशाधर का समय अनुमानतः १७वीं सदी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

आशाधर के ग्रंथ

पूर्वोक्त समय-निरूपण के अनन्तर इनके ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इनके निम्नलिखित प्रकाशित ग्रन्थों का उल्लेख पाया जाता है—

(१) कोविदानन्द

(२) त्रिवेणिका

१—"अतएव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता। द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति।" वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।

—परमलघुमञ्जूषा पृ० २०।

२—त्रिवेणिका पृ० २७-२८।

(३) अलंकारदीपिका
(४) अद्वैतविवेक
(५) प्रभापटल

(१) कोविदानन्द

इस ग्रन्थ का उल्लेख 'त्रिवेणिका' में अनेक स्थलों पर आया है, जिससे ज्ञात होता है कि कोविदानन्द में 'वृत्ति' का विवेचन बडे विस्तार के साथ किया गया था। त्रिवेणिका के पहले ही श्लोक के 'पुनः'[1] शब्द से जान पडता है कि कोविदानन्द मे वृत्तियों का ही विशिष्ट वर्णन था, जिसका एक प्रकार का सारांश 'त्रिवेणिका' में उपस्थित किया गया है। इस अनुमान की पुष्टि भी यथेष्ट रीति से हो सकती है। डाक्टर भाण्डारकर ने 'कोविदानन्द' नामक एक हस्तलिखित ग्रन्थ का नामोलेख किया है[2]। उसके नीचे लिखे श्लोक से उपर्युक्त अनुमान की सर्वथा पुष्टि होती है—

प्राचां वाचां विचारेण शब्द-व्यापारनिर्णयम्।
करोमि कोविदानन्दं लक्ष्यलक्षणसंयुतम् ॥

भाडारकर ने यह भी पता दिया है कि ग्रन्थकार की लिखी हुई 'कादम्बिनी' नाम की एक टीका भी इस पर है। यदि यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय, तो सम्भवतः 'शब्दवृत्ति' विषयक ग्रन्थों में अत्युत्तम होगा।

(२) त्रिवेणिका

त्रिवेणिका या शब्द त्रिवेणिका आशाधर की महत्त्वपूर्ण रचना[3] है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने इसे व्याकरण ग्रन्थ लिखा था, जिससे भ्रम मे पड़कर अलंकार शास्त्र के इतिहास लिखनेवाले डाक्टर दे तथा श्रीयुत काणे ने इस ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं किया है। परन्तु है यह अलंकार-ग्रन्थ, जैसा कि इसके विषय-विदरण से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा।

इस ग्रन्थ का नामकरण भी बहुत ही उपयुक्त हुआ है। इसमे शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना नामक तीनों वृत्तियों का समुचित वर्णन दिया

१—**प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।**
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना ॥

2—List of Sanskrit Mss Part I, 1853, Bombay P 68.

३—'सरस्वती-भवन-टेक्स्ट्स' ग्रन्थमाला में काशी से प्रकाशित।

हुआ है। इस ग्रन्थ तथा प्रसिद्ध त्रिवेणी के साथ केवल संख्या मात्र की ही समानता नहीं है, बल्कि यह सादृश्य कई अंशों मे और भी सूक्ष्म है। अभिधा गंगा के समान है। जिस प्रकार प्रयाग मे प्रधान स्थान भागीरथी को ही दिया जा सकता है, उसी प्रकार शब्द की वृत्तियों मे अभिधा ही प्रधान है। यमुना जिस तरह गंगा के ही आश्रित रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी अपनी स्थिति के लिए अभिधा ही पर अवलम्बित है। सहृदय हृदय-संवेद्य व्यग्य अर्थों की प्रतिपादिका व्यंजना की समानता गुप्त सरस्वती के सिवा और किसके साथ उचित रीति से की जा सकती है? जिस प्रकार इस पवित्र संगम पर सरस्वती है अवश्य, परन्तु साधारणतया दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी प्रकार व्यंजना भी रसिक मनुष्यों के द्वारा ही जानी जा सकती है। यह तो इस ग्रन्थ के नामकरण के विषय में हुआ। अब इसके विषय की ओर ध्यान दीजिए।

अपने नाम के अनुसार यह ग्रन्थ तीन परिच्छेदों में बाँटा गया है। प्रथम परिच्छेद मे अभिधा का वर्णन बडी विशद रीति से किया गया है। सबसे पहले ग्रन्थकार ने अर्थज्ञान को चारु, चारुतर तथा चारुतम भाग मे विभक्त किया है। अभिधा-जन्य अर्थ चारु, लक्षणा से उत्पन्न चारुतर तथा व्यंजनागम्य चारुतम बतलाया गया है। शक्ति का लक्षण लिखकर उसे योग, रूढि तथा योगरूढि इन तीनों विभागों मे उदाहरण के साथ विभक्त किया है। इसके अनंतर उन साधनों का वर्णन किया है, जिनके द्वारा शक्ति का ग्रहण हुआ करता है। आशाधर ने शक्ति-ग्राहक साधनों के व्याकरण, कोश, निरुक्त, मुनिवचन, व्यवहार, व्याख्यान, वाक्यशेष, प्रसिद्ध अर्थवाले पद की सन्निधि तथा उपमान—ये नव विभाग किये हैं। प्रसंगवश अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण करनेवाले लिंग, प्रकरण, फल आदि प्रसिद्ध साधनों का भी उल्लेख उचित रीति से किया गया है। उनके छोटे-छोटे उदाहरण भी इतनी कुशलता से समझाये गये हैं कि साधारण बालक भी भली भाँति समझ जाय।

दूसरे परिच्छेद मे लक्षणा का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। प्रथमतः लक्षणा का लक्षण किया गया है। इसके अनन्तर समस्त भेदों का उल्लेख एक साथ ही कर दिया गया है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा—निरूढ़ा, फलवती—गूढा, अगूढ़ा, व्यधिकरणविषया तथा समानाधिकरणविषया—गौणी, शुद्धा तथा इनके और भी उपभेदों का सोदाहरण विवेचन बहुत ही सन्तोजनक है। इस परिच्छेद मे प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों से भी उदाहरण दिये गये हैं तथा वामन आदि आचार्यों के मत का भी उचित स्थान पर उल्लेख किया

गया है। लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों की सूक्ष्म विवेचना करके ग्रन्थकार ने अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी बुद्धि का अच्छा परिचय दिया है। यह परिच्छेद अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आकार मे भी बड़ा है। अन्त में ग्रन्थकार ने इन तीनों वृत्तियों के ग्राहक मनुष्यों मे भी क्या ही अच्छा भेद प्रदर्शन कराया है—

> शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः।
> व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः॥

अन्तिम प्रकरण में व्यंजना का विषय है। व्यंजना के लक्षण के अनन्तर उसके शक्तिमूलक तथा लक्षणामूलक भेदों का विवेचन उदाहरण के साथ उपयुक्त रीति से किया गया है। नैयायिकों ने अनुमान के अन्तर्गत व्यंजना मानने का जो प्रयास किया है, उसकी किंचित् सूचना देकर आशाधर ने इस मत का आलंकारिकों की शैली से खण्डन किया है। इसी प्रकार वैयाकरणों के शक्ति के अन्तर्गत व्यंजना मानने के सिद्धान्त का भी खण्डन किया गया है। बस इस प्रकरण का यही सार है। व्यंजना-प्रकरण जितने अच्छे ढंग से होना चाहिए, न तो उतने अच्छे ढंग से दिया गया है, न व्यंजना-स्थापन या व्यंजना के भेद-प्रभेदों का ही विशेष हाल है। सचमुच इस प्रकरण से निराश होना पडता है। सबके अन्त मे आशाधर ने 'प्रभापटल' से दो पद्य उद्धृत किये हैं, जो उनकी काव्य-कला के अच्छे निदर्शन माने जा सकते हैं। वे पद्य नीचे दिये जाते हैं—

> यदिह लिखतामव्युत्पत्त्या पतेल्लघु दूषणं
> निपुणधिषणैरुज्झित्वा तत् कृतिर्मम सेव्यताम्।
> सरसि विमले वातक्षिप्तं निवार्य तु शैवलं
> सलिलममृतप्रायं प्रायः पिबन्ति पिपासवः॥ १॥
>
> यदि मम सरस्वत्यां कश्चित्कथञ्चन दूषणं
> प्रलपति, तदा प्रौढप्रज्ञैः स किं कविभिः समः?
> रघुपतिकुटुम्बिन्यां सत्यामवद्यमुदाहरन्
> हतकरजकः साम्यं लेभे स किं सह राजभिः॥ २॥

'त्रिवेणिका' का जो साराश दिया गया है, उससे पाठकों को इसके महत्त्व का पता अवश्य लग गया होगा। शब्दवृत्ति-विषयक जितने ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, उन सब मे यह ग्रन्थ उत्तम है।

(३) अलंकार दीपिका

आशाधर भट्ट का यह तीसरा ग्रन्थ एक प्रकार से त्रिवेणिका की पूर्ति करता है। इस ग्रन्थ के विषय-विवेचन को ठीक रीति से समझने के लिए इसके आधार-ग्रन्थ कुवलयानन्द की संक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। ईसवी तेरहवी शती मे जयदेव नामक पण्डित ने अलंकार शास्त्रविषयक 'चन्द्रालोक' नामक अत्युत्तम ग्रन्थ की रचना की। इसमे अल्प परिमाण मे ही अलंकारशास्त्र की ज्ञातव्य बाते एकत्र कर दी गई हैं। अलकारों के लक्षण तथा उदाहरण देते समय जयदेव ने एक ही पद्य में दोनों का समावेश कर पाठकों के लिए बहुत ही उपकार किया है। १७वीं शती मे अप्पय दीक्षित ने इसी ग्रन्थ की सहायता से 'कुवलयानन्द' नामक एक लोकप्रिय ग्रन्थ की रचना की, जिसमें अर्थालंकारों के लक्षण तथा उदाहरण एक ही श्लोक मे समाविष्ट करने के अतिरिक्त प्राचीन काव्य-ग्रन्थों से तद्विषयक दृष्टान्त भी दिये गये हैं। स्थान-स्थान पर प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन भी उचित रीति से किया गया है। अपने कथनानुसार ही[1], अप्पय दीक्षित ने अनेक अर्थालकारों को चंद्रालोक से हूबहू अपने ग्रन्थ मे उद्धृत कर लिया है। भाविकसंधि, उदारसार आदि चंद्रालोक के कतिपय अलकारों को छोड़ दिया है तथा बहुत से नवीन अलंकारों की उद्भावना कारिका के रूप मे कर दी है। इस प्रकार १०० अलकारों का वर्णन तो ठीक ढंग पर कारिका के रूप मे किया गया है; परन्तु अन्त मे लगभग २४ अलकारों का नाम निर्देश किया गया है। प्राचीन ग्रन्थों से उदाहरण भी पेश किये गये हैं; परंतु उनके लक्षण तथा दृष्टात कारिकाओं में नहीं दिये गये हैं।

अब आशाधर के ग्रन्थ पर दृष्टिपात कीजिए। यह ग्रन्थ तीन प्रकरणों मे समाप्त हुआ है। पहले प्रकरण मे कुवलयानन्द मे लिखित कारिकाओं की सरल रीति से व्याख्या की गई है। मूल ग्रन्थ के अलंकार-विषयक सूक्ष्म विवेचन बालकों के लिये अनुपयोगी समझकर इसमे छोड़ दिये गये हैं—केवल मूल कारिका पर सरल व्याख्या ही दी गई है। आशाधर ने स्वयं ही इस प्रकरण के अन्त मे इन कारिकाओं को अप्पय दीक्षित-विरचित मूल कारिका बतलाया है।

१—येषां चंद्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यंते॥

दूसरे प्रकरण का नाम 'उद्दिष्टालंकार प्रकरण' है। कुवलयानन्द के अन्त में रसवत्, प्रेय आदि जिन अलंकारों के केवल नाम ही गिनाये गये हैं, उन-पर आशाधर ने तदनुरूप ही कारिकाएँ बनाई हैं। इस प्रकरण के अन्त में[1] उन्होंने इसे स्पष्ट प्रकार से अपनी रचना बतलाया है। इन कारिकाओं मे ठीक कुवलयानन्द की शैली पर प्रथमार्द्ध में लक्षण तथा उत्तरार्द्ध मे दृष्टात उपस्थित किये गये हैं। पश्चात् इनकी समुचित व्याख्या भी की गई है।

तीसरा 'परिशेष-प्रकरण' कहा गया है। इसमें संसृष्टि तथा संकर अलंकार के पाँच प्रकार के भेद सन्निविष्ट किये गये हैं। दूसरे प्रकरण के समान ही इस प्रकरण की भी समग्र कारिकाएँ आशाधर की खास अपनी रचना हैं[2]। व्याख्या भी उसी रीति से ऐसी सुगमता से की गई है कि साधारण विद्यार्थी भी यथेष्ट लाभ उठा सकता है।

आशाधर ने ग्रन्थ का नाम 'कुवलयानन्दकारिका' तथा अपनी टीका का नाम 'अलंकारदीपिका' रखा है। ऊपर के वर्णन से पाठकों ने इनका संक्षिप्त परिचय अवश्य पा लिया होगा। इसमें जितने अलकार माने गये हैं उतने सम्भवतः किसी अन्य अलंकारग्रन्थ मे नहीं हैं। अलकारों की संख्या लगभग १२५ के है। अलंकारशास्त्र मे प्रवेश करने के लिए—विशेषतः अलकारों के लक्षण सुगमता से याद करने के लिए—यह ग्रन्थ अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परन्तु इसका जितना प्रचार अपेक्षित है, दुर्दैववश उतना इस समय नहीं है।

(४) अद्वैत-विवेक

त्रिवेणिका के ११वे पृष्ठ मे इसका उल्लेख पाया जाता है। इस ग्रन्थ से एक पद्य भी उद्धृत किया गया है। यह ग्रन्थ अभी तक नहीं मिला है। इसके नाम से अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः यह कोई वेदान्त ग्रन्थ होगा।

(५) प्रभापटल

'प्रभापटल' का नाम अभी तक किसी को मालूम नहीं था। जहाँ तक जान पड़ता है, सबसे पहले श्री बटुकनाथ जी शर्मा ने ही अपनी बृहत् भूमिका में इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

१—आशाधरभट्टकृतमुद्दिष्टनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।

२—इति····आशाधरभट्टविरचितं तृतीयं परिशेषप्रकरणं समाप्तम्।

इस ग्रन्थ से हरिणी छंद में दो पद्य त्रिवेणिका के अन्त मे उद्धृत किये गये हैं। ये दोनों श्लोक पहले दिये जा चुके हैं।

स्पष्ट है कि अलकार-शास्त्र को सर्वसाधारण के लिए सुगम कर देने के ही विचार से प्रेरित होकर इन्होंने अपने अधिकाश ग्रन्थों की रचना की है। ग्रन्थों की उपादेयता के विषय में सन्देह करने की तनिक भी जगह नहीं है। जिस उद्देश्य को सामने रखकर इन प्रारम्भिक ग्रन्थों की रचना की है, लेखक की विनीत सम्मति मे उसकी पूर्ति उचित मात्रा मे हुई है। इस गये-गुजरे समय मे, जब पाठक प्राचीन आलकारिकों को यथोचित समझने का कष्ट उठाना नहीं चाहते, इन पुस्तकों के पठन-पाठन से उचित लाभ उठाया जा सकता है।

४२—विश्वेश्वर पण्डित

ये अल्मोडा जिला के अन्तर्गत पाटिया ग्राम के पाण्डेय थे। पर्वतीय ब्राह्मणों में 'पाटिया के पाण्डे' लोगों का कुल आज भी अपनी विद्वत्ता तथा सच्चरित्रता के लिए प्रसिद्ध है। इनका समय १८वीं शताब्दी का आरम्भ प्रतीत होता है। ये अपने समय के बडे ही मूर्धन्य विद्वान् थे। इनके पिता का नाम 'लक्ष्मीधर' था जिनका उल्लेख इन्होंने अपने ग्रन्थों के अन्त में किया है। अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज जगन्नाथ का खण्डन इन्होंने यत्र-तत्र किया है। इन्होंने दण्डी के किसी टीकाकार मल्लिनाथ (पृ० ७३), चण्डीदास (पृ० १२५, १६६), महेश्वर (पृ० ४९) तथा काव्यडाकिनी का उल्लेख अलंकार-कौस्तुभ मे किया है। इनके जेठे भाई का नाम उमापति था। (पृ० ३८७)। ये साहित्य के अतिरिक्त व्याकरण तथा न्याय के भी प्रकाण्ड पण्डित थे। वैयाकरण सिद्धान्त-सुधानिधि (चौ० सं० सी०) इनका भाष्यानुसारी विशाल ग्रन्थराज है। तर्ककुतूहल तथा दीधितिप्रवेश इनके तर्कशास्त्र-संबंधी ग्रन्थ हैं।

इनके साहित्यशास्त्र विषयक ग्रन्थ नीचे दिये जाते हैं—

(१) अलंकार कौस्तुभ[1]—विश्वेश्वर पण्डित का सबसे मूर्धन्य ग्रन्थ यही है। अलंकार-कौस्तुभ हमारी दृष्टि मे पण्डितराज की शैली मे निबद्ध

१—ग्रन्थकार की व्याख्या के साथ प्रकाशित 'काव्यमाला' संख्या ६६, सं० १९९८।

साहित्य-शास्त्र का अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसकी महती विशेषता है अलंकारों के स्वरूप का प्रामाणिक विवेचन जिसमें स्थान-स्थान पर अप्पय दीक्षित तथा पण्डितराज के मत का खण्डन बड़ी युक्तिमत्ता के साथ किया है। उपमा के रूप तथा प्रभेदों का विवेचन डेढ़ सौ पृष्ठों मे किया गया है। विश्वेश्वर का पाण्डित्य बडा ही व्यापक था। वे साहित्य के अतिरिक्त न्याय तथा व्याकरण के अप्रतिम पण्डित प्रतीत होते हैं। पूरा ग्रन्थ नव्यन्याय की रीति से रचा गया है। अतः इनकी उत्कृष्टता तथा प्रामाणिकता में किसी प्रकार का वैमत्य नहीं हो सकता। अलकार-कौस्तुभ को 'नानापक्षविभावन-कुतुकं' कहते हैं जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने अलकार के विषय मे विभिन्न मतों की आलोचना के लिए ही इस ग्रन्थ का निर्माण किया था।

(२) **अलंकार-मुक्तावलि**[1]—यह बालकों को अलकारों के सुगम बोध के निमित्त रचा गया था। विवेचन बहुत ही कम है। लक्षण तथा उदाहरण का निर्देश ही मुख्य है।

(३) **रस-चन्द्रिका**[2]—रस का सामान्य विवेचनात्मक ग्रन्थ।

(४) **अलंकार-प्रदीप**[3]—इसमें अर्थालंकार का सुगम विवेचन है।

(५) **कवीन्द्र-कण्ठाभरण**—इस ग्रन्थ में चार परिच्छेद हैं और चित्रकाव्य का बड़ा ही सुन्दर और प्रामाणिक विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। यह ग्रन्थ 'विदग्धमुखमण्डन' की शैली पर लिखा गया है, परंतु विवेचन मे उससे कहीं अधिक रोचक तथा प्रामाणिक है। प्रहेलिका तथा नाना प्रकार की चित्र-जातियों के ज्ञान के लिए यह हमारे शास्त्र का सर्वोत्तम ग्रन्थ है।

४३—नरसिंह कवि

इस कवि की उपाधि थी—अभिनव कालिदास। कवि ने यह ग्रन्थ अपने आश्रयदाता 'नञ्जराज' की प्रशंसा मे लिखा है। पुस्तक तो है अलकार-शास्त्र की, परन्तु समग्र उदाहरण 'नञ्जराज' के विषय में ही दिये गये हैं। ये नञ्जराज महीसूर के अधिपति के मन्त्री थे तथा १८वीं शताब्दी मे उस देश पर शासन

१—काशी संस्कृत सीरीज, सं० ५४; काशी १९८४ सं०।

२—काशी संस्कृत सीरीज, सं० ५३; काशी १९८३ सं०।

३—काव्यमाला, अष्टम गच्छक में प्रकाशित पृ० ५१—१०८; १९११।

कर रहे थे। भारी प्रतापी थे और महाराष्ट्रों तथा मुसलमानों के आक्रमण से देश की रक्षा करने मे समर्थ थे। महाराजा तो नाममात्र के शासक थे। शासन का समग्र कार्य नञ्जराज के ही हाथों सिद्ध होता था। नरसिंह कवि भी मैसूर के ही निवासी थे तथा नञ्जराज के आश्रित थे। समय १८ शतक।

'नञ्जराज यशोभूषण'[1] ठीक शिवराजभूषण के समान ही ग्रन्थ है। इसमे ७ विलास हैं—जिनमे (१) नायक, (२) काव्य, (३) ध्वनि, (४) रस, (५) दोष, (६) नाटक, (७) अलंकार का क्रमशः निरूपण किया गया है। इस प्रकार यहां काव्य तथा नाट्य का एक साथ ही सरल विवेचन प्रस्तुत किया गया है। षष्ठ विलास मे कवि ने अपने आश्रयदाता की स्तुति मे एक पूरा नाटक ही बना रखा है जिसमे 'नाटक' के समस्त लक्षणो का समावेश किया गया है। यह ग्रन्थ विद्यानाथ-रचित 'प्रतापरुद्रयशोभूषण' के अनुकरण पर लिखा गया है जिसकी विशेष छाया—ग्रन्थ की योजना तथा उदाहरणों पर—स्पष्ट रूप से पडी है। दक्षिण नायक के उदाहरणों मे दिया गया यह पद्य कवि की काव्यशैली का पर्याप्त द्योतक है—

> धम्मिल्ले नवमल्लिकाः स्तनतटे पाटीरचर्चां गले,
> हारं मध्यतले दुकूलममलं दत्त्वा यशः कैतवात्।
> यः प्राक् दक्षिण पश्चिमोत्तरदिशाः कान्ताः समं लालयन्,
> आस्ते निस्तुलचातुरीकृतपदः श्रीनञ्जराजाग्रणी:॥
>
> (पृ० ७)

१—गा० ओ० सी० ग्रन्थसंख्या ४७।

उपसंहार

अलंकार-शास्त्र का यही क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवरण है। इसके अनुशीलन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह हमारा साहित्य शास्त्र ६०० ई० से १८०० ई० तक अर्थात् १२०० वर्षों के सुदीर्घ काल मे फैला हुआ था। इसका आरम्भ-काल ६०० ई० से भी प्राचीन है। भरत के नाट्यशास्त्र (२०० ई०) में भी अलंकार-शास्त्र का विवरण उपलब्ध होता है परन्तु उस समय हमारा शास्त्र नाट्यशास्त्र का एक सामान्य अंग-मात्र ही था। इस शास्त्र का उद्गम भारत के किस प्रान्त में हुआ? इसका यथार्थ विवरण हम नहीं दे सकते। परन्तु इसकी विकासभूमि से हम पूर्णतः परिचित हैं। शारदा-देश कश्मीर ही साहित्य शास्त्र के विकास की पवित्र भूमि है। भरत के निवास-स्थान का हमें ज्ञान नही है परन्तु भामह, उद्भट, रुद्रट, मुकुल भट्ट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, रुय्यक, मम्मट, भट्टनायक, कुन्तक, महिमभट्ट जैसे महनीय आलोचकों की जन्मभूमि कश्मीर देश ही थी यह हम निश्चित रूप से कह सकते हैं। बिल्हण शारदा देश (कश्मीर) को कविता-विलास तथा केशर-प्ररोह की जननी मानते हैं। इनमे हम अलंकार-शास्त्र के नाम को भी जोड़कर यह भली भाँति उद्घोषित कर सकते हैं कि जिस कश्मीर में कवियों ने अपनी कमनीय काव्यकला का प्रदर्शन किया उसी देश मे काव्य के मर्मज्ञों ने काव्य की यथार्थ समीक्षा की। अतः यह भूमि संस्कृत के महाकवियो की ही नहीं प्रत्युत संस्कृत के महनीय आलोचकों की भी जन्मदात्री है। हमारे आलोचनाशास्त्र का जो सारभूत मौलिक अंश है उसका विवेचन और विवरण इसी कश्मीर देश मे किया गया। प्राचीन आलंकारिकों मे दण्डी ही ऐसे हैं जो कश्मीरी न होकर दक्षिण देश के निवासी थे। पिछले युग में मध्यभारत, गुजरात, दक्षिण (महाराष्ट्र) तथा बंगाल में भी साहित्य-शास्त्र के ग्रन्थों का प्रणयन किया गया। इन प्रान्तों के ग्रन्थकार विशेषतः 'व्याख्याकाल' से सम्बन्ध रखते हैं। फलतः उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्या लिखकर सिद्धान्तों का परिबृंहण किया। मौलिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया, परन्तु कश्मीरी आलोचकों की देन के सामने उनकी देन परिमाण में न्यून है। परन्तु हमारा शास्त्र कभी भी स्थावर नहीं रहा—एकदम जड़ तथा गतिशून्य।

यह क्रमशः विकासशील शास्त्र है जिसका परिचय प्रत्येक शताब्दी मे आलोचक को पदे-पदे प्राप्त होता है।

भारतीय अलंकार-शास्त्र के इतिहास को मोटे तौर से हम चार भागों में विभक्त कर सकते हैं—

१. प्रारंभिक काल (अज्ञात काल से भामह तक)।

२. रचनात्मक काल (भामह से आनन्दवर्धन तक)।
६५० ई० से ८५० ई० तक

(क भामह, उद्भट और रुद्रक (अलंकार सम्प्रदाय)।

(ख) दण्डी और वामन (रीति सम्प्रदाय)।

(ग) लोल्लट, शकुक, भट्टनायक आदि (रस-सम्प्रदाय)।

(घ) आनन्दवर्धन (ध्वनि-सम्प्रदाय)।

३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट तक
८५० ई० से १०५० ई०)।

(क) अभिनवगुप्त ।
(ख) कुन्तक।
(ग) महिमभट्ट।
(घ) रुद्रभट्ट।
(ङ) धनञ्जय।
(च) भोजराज।

४. व्याख्या-काल (मम्मट से जगन्नाथ तक
१०५० ई० से १७५० ई०)।

(क) मम्मट, रुय्यक, विश्वनाथ, हेमचन्द्र, विद्याधर, विद्यानाथ, जयदेव, अप्पयदीक्षित आदि (ध्वनि मत)।

(ख) शारदातनय, शिगभूपाल, भानुदत्त, रूपगोस्वामी आदि (रसमत)।

(ग) राजशेखर, क्षेमेन्द्र, अरिसिह और अमरचन्द्र, देवेश्वर आदि। (कविशिक्षा)

(घ) जगन्नाथ पण्डितराज; विश्वेश्वर भट्ट।

जैसा कि पहले कहा गया है, साहित्य-शास्त्र के आरम्भ का पता नहीं चलता कि कौन-सा ग्रन्थ सबसे पहिले लिखा गया था और उसका समय

क्या था? भरत नाट्य-शास्त्र मे चार अलंकार, दश गुण और दश दोषों का वर्णन कर ही अलंकार-शास्त्र की इतिश्री मानी गई है। भामह के काव्यालंकार से स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके पहिले अनेक ग्रन्थ साहित्य-शास्त्र पर निर्मित हो चुके थे, परन्तु न तो इनके ग्रन्थो का ही पता है और न ग्रन्थकारों का। भरत और भामह के बीच का युग हमारे शास्त्र के इतिहास में अन्धकार-युग है। इस युग के केवल एक आलोचक का पता चलता है और वे हैं मेधावी। भामह का काव्यालकार इस प्रथम युग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और इसी पुस्तक के आधार पर भट्टि ने अपने भट्टिकाव्य मे अलंकारों का विधान प्रस्तुत किया है। इन्होंने ३८ स्वतन्त्र अलंकारों का सन्निवेश अपने ग्रन्थ मे किया है। इस युग मे नाट्यरस की विस्तृत व्याख्या भरत ने की थी। परन्तु काव्य मे रस की महत्ता की ओर अभी विशेष ध्यान नहीं गया था।

साहित्य-शास्त्र का रचनात्मक युग भामह से आरम्भ होकर आनन्दवर्धन तक चला जाता है। यह दो सौ वर्षों का काल (६५० से ८५० ई०) हमारे शास्त्र के इतिहास मे इसीलिए महत्त्वपूर्ण माना जाता है कि इसी समय काव्य के मौलिक तत्त्वों की उद्भावना हमारे आलोचकों ने की। एक ओर भामह, उद्भट तथा रुद्रट काव्य के उन बाह्य आभूषणों की रूपरेखा का निर्माण कर रहे थे जो अलंकार के नाम से अभिहित होते हैं और जिनकी ओर काव्य के पाठकों का ध्यान सर्वप्रथम आकृष्ट होता है। इसी सम्प्रदाय के नाम पर इस शास्त्र का नाम अलंकार-शास्त्र पड़ा। दूसरी ओर दण्डी और वामन कविता की रीति तथा तत् संबद्ध दश गुणों की परीक्षा में संलग्न थे। इनकी दृष्टि मे काव्य का सौन्दर्य गुणों के द्वारा ही अभिव्यक्त होता है। अलंकार तो केवल उसके अतिशय करनेवाले धर्म हैं। इन आचार्यों के उद्योग के फल-स्वरूप रीति-सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा इसी युग मे हुई। इन ग्रन्थकारों की रचना के साथ ही साथ भरत के नाट्य शास्त्र की गहरी छानबीन इसी युग मे आरम्भ हुई। भट्ट लोल्लट तथा शकुक ने अपने दृष्टिकोण से भरत के ग्रन्थ पर टीकाएँ लिखीं तथा उनके रस-सिद्धान्त को समझाने का बडा उद्योग किया। परन्तु यह रसवाद अभी तक नाट्य के सबंध में ही था। काव्य मे रसवाद का महत्त्वपूर्ण विवेचन आनन्दवर्धन से आरम्भ होता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र के सर्वश्रेष्ठ आलोचक **आनन्दवर्धन** इसी युग की विभूति हैं। इन्होंने रस-सिद्धान्त की व्यवस्था काव्य में की तथा उसकी पूर्ण व्याख्या के लिए ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना की। इतने से ही वे सन्तुष्ट

न हुए प्रत्युत उन्होंने अलंकार और रीति के सिद्धान्तों को भी अपनी काव्य-पद्धति में समुचित स्थान दिया। इसका फल यह हुआ कि आनन्दवर्धन ने काव्य का सर्वांगीण वर्णन सर्वप्रथम अपने ग्रन्थ मे उपस्थित किया। अलंकार-शास्त्र के इतिहास मे यह काल सुवर्ण-युग माना जाता है क्योंकि साहित्य-शास्त्र के भिन्न-भिन्न मौलिक सम्प्रदाय इसी युग मे उत्पन्न हुए और फूले-फले।

तीसरा काल निर्णयात्मक काल कहा जा सकता है। यह आनन्दवर्धन से आरम्भ होकर मम्मट तक (अर्थात् ८५० ई० से १०५० ई०) जाता है। आनन्दवर्धन के द्वारा प्रतिपादित ध्वनि के सिद्धान्त को सुप्रतिष्ठित होने में दो सौ वर्ष का समय लगा। एक तरफ तो अभिनवगुप्त इसकी शास्त्रीय व्याख्या करने मे लगे थे और दूसरी ओर अनेक आलंकारिक इसके प्रबल विरोध करने मे संलग्न थे। भट्टनायक, कुन्तक तथा महिमभट्ट की साहित्यिक कृतियों का यही युग है। अपने दृष्टिकोण से इन्होंने ध्वनि के खण्डन करने का बड़ा ही उग्र प्रयत्न किया परन्तु मम्मट ने इन विरोधी मतों की व्यर्थता दिखलाकर ध्वनि के मत को ही सर्वतः पुष्ट किया और उसे इतने दृढ़ आधारों पर सुव्यवस्थित कर दिया कि बाद के आलकारिकों को उसे खण्डन करने का साहस ही नहीं हुआ।

इस शास्त्र का अन्तिम काल व्याख्या-काल कहलाता है जो मम्मट से आरम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ तक (१०५० ई० से १७५० ई०) अर्थात् ७०० वर्षों तक फैला रहा। इस युग मे कुछ आचार्यों ने (हेमचन्द्र, विश्वनाथ और जयदेव आदि) पूरी काव्य-पद्धति की समीक्षा के लिए महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की। कुछ लोगों ने काव्य के विविध अंगों—विशेषतः अलंकार तथा रस पर—पृथक् ग्रन्थों का निर्माण किया। रुय्यक और अप्पयदीक्षित ने अलंकारों का विशेष वर्णन किया है। शारदातनय तथा शिंगभूपाल ने अपने नाट्य-विषयक ग्रन्थों मे रस का बडा ही सुन्दर विवेचन उपस्थित किया है। भानुदत्त ने भी इस कार्य में विशेष सहयोग दिया है। रूपगोस्वामी ने गौडीय वैष्णव मत के अनुसार मधुर रस की व्याख्या कर रस-साधना का मार्ग प्रशस्त बनाया। कुछ आलोचकों ने काव्य के व्यावहारिक रूप को बतलाने के लिए कवि-शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थों का निर्माण किया। राजशेखर की काव्य-मीमासा यद्यपि इसके पूर्व युग से संबद्ध है तथापि इसमे कवि-शिक्षा का ही विषय विशेष रूप से वर्णित है। क्षेमेन्द्र ने इसी युग में औचित्य के सिद्धान्त का व्यवस्थापन किया। अरिसिंह और अमरचन्द्र तथा देवेश्वर ने 'कवि-कल्पलता' के द्वारा कविशिक्षा के विषय को व्यवस्थित तथा बहुत लोकप्रिय बनाया। प्राचीन

युग में मान्य अलंकार-ग्रन्थो पर सैकड़ों टीकाएँ तथा व्याख्याएँ इस काल मे लिखी गईं जिनमें मौलिकता की अपेक्षा विद्वत्ता ही अधिक है।

इस युग के अन्त में दो बहुत बड़े प्रौढ़ आलंकारिक उत्पन्न हुए जिनके नाम पण्डितराज जगन्नाथ और वीरेश्वर पाण्डेय हैं। वीरेश्वर पाण्डेय ने 'अलंकार-कौस्तुभ' लिखकर अपने प्रकृष्ट पाण्डित्य का परिचय दिया। इनकी तुलना में पण्डितराज जगन्नाथ का कार्य विशेष मौलिक तथा उपादेय है। खण्डित होने पर इनका ग्रन्थ 'रसगंगाधर' युक्तिमत्ता और विवेचनशैली की दृष्टि से अलंकार-शास्त्र में अद्वितीय ग्रन्थ है। अलकार-शास्त्र की गोधूलि-वेला में लिखे जाने पर भी यह प्रौढ़ता, गम्भीरता तथा विद्वत्ता में उसके मध्याह्न-काल मे लिखे गये ग्रन्थों से टक्कर लेता है।

भारतीय साहित्य-शास्त्र मे ध्वनि का सिद्धान्त ही सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। अतः इसको दृष्टि में रखकर हम साहित्यशास्त्र के इतिहास को निम्नाकित तीन श्रेणियों मे बिभक्त कर सकते हैं—(१) पूर्व-ध्वनिकाल, (२) ध्वनिकाल और (३) पश्चात्-ध्वनिकाल। आनन्दवर्धन ध्वनि सम्प्रदाय के उद्भावक हैं। अतः आरम्भ से लेकर आनन्दवर्धन तक का काल पूर्वध्वनिकाल कहलाता है। इस काल मे रस-मत, अलकार मत तथा रीति मत का विवेचन प्रस्तुत किया गया था। आनन्दवर्धन से मम्मट तक का काल ध्वनिकाल कहलायेगा, जिसमे ध्वनि-विरोधी आचार्यों के मतों का खण्डन कर ध्वनि-सिद्धान्त का व्यवस्थापन प्रबल प्रमाणों के आधार पर किया गया था। ध्वनिपश्चात् काल मम्मट से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक है जिसमे ध्वनिमत को अक्षुण्ण मानकर काव्य के विविध अंगों पर ग्रन्थों का प्रणयन किया गया तथा प्राचीन ग्रन्थों को सुबोध बनाने के लिए लोकप्रिय टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी गईं। अलंकार-शास्त्र के विस्तृत इतिहास का यही परिचय है।

भामह—
एक अध्ययन

[भामह अलंकारशास्त्र के आद्य ग्रन्थकार हैं। इस शास्त्र के इतिहास मे उन्हें वही गौरव प्राप्त है जो व्याकरणशास्त्र मे पाणिनि को तथा नाट्यशास्त्र में भरत को। ऐसे मान्य ग्रन्थकार के महत्त्व के विषय में दो मत नहीं हो सकते। परन्तु अभी तक इनके समय की गुत्थी ठीक रूप से सुलझाई नहीं गई है। यह उद्योग यहाँ किया गया है। पाठकों को ज्ञातव्य है कि ग्रन्थकार का यह मत आलोचकों को सर्वथा मान्य है। रोम विश्वविद्यालय के प्रख्यात संस्कृतज्ञ डॉ० तुशी ने स्वतन्त्र निबन्ध के द्वारा इस मत का प्रामाण्य अंगीकार किया है।]

प्रत्येक देश और प्रत्येक काल मे यह बात सर्वत्र चली आ रही है कि किसी ग्रन्थकर्ता का महत्त्व भविष्य मे उसकी उपयोगिता पर निर्भर होता है। जितना ही अधिक किसी ग्रन्थकर्ता का ग्रन्थ भविष्य में उपयोग मे लाया जायगा उतना ही अधिक उसका महत्त्व बढ़ता है। आज भी जब सर्वत्र सभ्यता का झण्डा फहरा रहा है और सभी अपनी संस्कृति को ऊँचे शिखर पर पहुँचाते चले जा रहे हैं, अरस्तू और अफ़लातून के नाम कम आदर से नहीं देखे जाते। इसका क्या कारण है? अवश्य उनके ग्रन्थ उच्च कोटि के साहित्य हैं, पर इतना ही नहीं। उनके ग्रन्थों का उपयोग जितना भविष्य मे हुआ है उतना शायद ही किसी और का हुआ हो। इसलिए यह आवश्यक प्रतीत होता है कि किसी ग्रन्थ का महत्त्व जानने के लिए यह देखना होगा कि कहाँ तक भविष्य में उसका उपयोग किया गया है और कहाँ तक उसकी कीर्ति विराजमान रही है।

भामह का महत्त्व

यदि अब हम अपने मान्य लेखक की ओर थोड़ी भी दृष्टि डाले तो यह बात स्पष्ट विदित हो जायगी कि भामह उन थोडे ही गिनती के ग्रन्थकारों मे से हैं जिनका नाम भविष्य मे संस्कृत लक्षण-ग्रन्थों के लेखकों ने लिया है। जहाँ तक हम जानते हैं शायद ही कोई लक्षण-ग्रन्थ किसी महत्त्व का होगा जिसमे भामह का नाम किसी न किसी प्रकार न लिया गया हो। प्रायः सभी लक्षण-ग्रन्थों मे उनके वचन दिखाई पड़ते हैं। कुछ ने तो उनके विचारों को अपना बना लिया और कुछ ने उनके उन्हीं शब्दों का समावेश कर लिया। शास्त्रार्थ में भी उनके लिए एक महत्त्व का स्थान दिया गया और मत की समानता न होने पर भी उनको उचित सम्मान दिया गया। ऐसा सम्मान उनको एक-दो

शताब्दी तक ही नहीं आजतक भी मलता चला आ रहा है। और यदि सस्कृत लक्षण-ग्रन्थो के इतिहास में किसी का नाम प्राचीन समय से चला आ रहा है तो वह भरत को छोड़कर भामह का ही है। सचमुच वे प्राचीनतम लक्षण ग्रन्थ के लेखक है जिनका महत्त्व हम आज भी देखते हैं।

भारतवर्ष के प्राचीन ही लेखक नही, आजकल के सर्वत्र कीर्ति-प्राप्त विद्वान् भी उनकी ओर दृष्टि डाल रहे हैं। एक समय था जब भामह के समय और चरित्र पर बडे वाद उठ खडे हुए थे। इसमे केवल पूर्वीय शोधक-गण ही नही, बडे-बडे पाश्चात्य विद्वानो ने भी पूर्णतया भाग लिया था। यद्यपि आज भी कोई सिद्धान्त नहीं निकल सका है तथापि इस खोज ने सस्कृत-साहित्य के इतिहास पर नवीन प्रकाश डाल रक्खा है।

भामह की खोज

यहाँ पर भामह के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्नों का, जो विद्वानों ने उठाये हैं और जिनका विचार किया गया है, संक्षिप्त संग्रह दे देना अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि भामह का नाम सर्वत्र सुनाई पडता था पर उनका ग्रन्थ पहले उपलब्ध न था। भामह के ग्रन्थ का कोई सूत्र न पाकर ब्यूलर निराश हो गये और उन्होंने अनुमान किया कि उनका ग्रन्थ सदा के लिए लुप्त हो गया[१]। सन् १८८० ई० मे सर्वप्रथम यह ग्रन्थ गुस्टेव ओर्पेट को मिला पर उनके वर्णन से किसी विशेष बात का पता नही लगता[२]। संस्कृत लक्षणग्रन्थों की सूची मे जेकब ने भामह के काव्यालंकार[३] का भी नाम दिया है पर यह नाम देना भी किसी उपयोग का न हुआ। एक कन्नड ग्रन्थ की एक प्रति मे[४] के० बी० पाठक ने केवल इसका नाम दिया है। भामह के ग्रन्थ का कुछ ठीक-ठीक वर्णन सर्वप्रथम बैंगलोर के आर० नरसिंहाचार ने दिया। एक कन्नडी ग्रन्थ की भूमिका मे[५] उन्होंने लिखा है कि उनके (भरत के) अनन्तर भामह का समय है जो कि अवश्य दण्डी के पूर्वकालीन हैं, क्योंकि दण्डी ने अपने काव्यादर्श मे उनके मत की समालोचना की है। लक्षण-ग्रन्थों मे वे एक

---

१ Buhler's Kashmir Report, 1877.

२. List of Sanskrit Mss in Private Libraries of Southern India, Vol 1, No 3731

३ J R A S 1897-98

४ कविराज Edited by K B. Pathak, 1898

५. काव्यावलोकनम् by नागवर्मा Edited by R Narsimhachar 1903

सम्मानित व्यक्ति हैं। उनके मत उस-उस स्थल पर सभी ग्रन्थकारों ने उनके अनन्तर दिये हैं। मद्रास प्रेसीडेन्सी कालेज के प्रो० रंगाचार्य को उनकी बहुमूल्य हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई। वह लिखते हैं कि ग्रन्थ मे कोई समय नही दिया है, पर शायद छटी शताब्दी के पूर्वभाग मे वह रखा जा सकता है। कन्नडी ग्रन्थ की भूमिका मे लिखे जाने के कारण संस्कृत विद्वानों की दृष्टि मे यह बात पहले नहीं आई।

एम० टी० नरसिह आयंगर के भामह पर लेख के अनन्तर सस्कृत विद्वानों की दृष्टि इस आलंकारिक की ओर गई[1]। उन्होने उनके सम्बन्ध मे प्रायः सभी प्रश्नों पर अपना विचार प्रकट किया। उनका विचार था कि भामह बोद्ध थे और दण्डो के अनन्तर उनका समय था। बार्नेट ने उसी वर्ष एक टिप्पणी लिखकर उनके मत का अनुमोदन किया और लिखा कि भामह आठवी शताब्दि के पूर्वभाग मे थे[2]। काणे ने इस मत का खण्डन करने का अवश्य प्रयत्न किया कि भामह बौद्ध थे पर उनका भी मत यही था कि वे दण्डी के अनन्तर हुए[3]। सन् १९०६ मे के० पी० त्रिवेदी ने विद्यानाथ का प्रतापरुद्रयशोभूषण बंबई-संस्कृत-ग्रन्थावलि मे प्रकाशित किया और उसी के परिशिष्ट मे भामह का काव्यालंकार पहिले-पहिल प्रकाशित हुआ। त्रिवेदीजी ने एक विद्वत्तापूर्ण भूमिका लिखी और उसमे भामह के सम्बन्ध मे अनेक प्रश्नो पर विचार किया। उनकी युक्तियाँ प्रायः सभी नरसिहाचार के मत को खण्डन करती थी। इसके अनन्तर डा० याकोबी और प्रो० रंगाचार्य ने १९१० मे[4] और अनन्ताचार्य[5] ने १९११ मे लेख लिखा जिसमें उन्होंने त्रिवेदी के मत का ही समर्थन किया। नरसिहाचार ने कुछ और नई युक्तियाँ देकर भामह को दण्डी के पूर्वकालीन होना सिद्ध किया[6]। उसी वर्ष के० बी० पाठक ने एक विद्वत्तापूर्ण लेख लिखकर अपने विरुद्ध दी हुई युक्तियो के खण्डन करने का प्रयत्न किया[7]। परन्तु दूसरे ही वर्ष त्रिवेदी ने दिखा दिया कि खण्डन

१—J. R. A S. 1905 P 535 ff.

२—J. R. A S 1905 P 841

३—J. R A. S. 1908 .P 543.

४—Introduction to काव्यादर्श 1910

५—Brahmawadin 1911

६—Ind Ant. 1912 P 90 ff

७—Ind. Ant. 1912 P 232 ff.

विद्वत्तापूर्ण होते हुए भी हृदयग्राही नहीं थे[1]। त्रिवेदी के लेख से सब विरोधी चुप हो गये और कुछ वर्षों तक कोई नई युक्तियाँ नहीं दिखाई दी। डा० याकोबी ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि द्वारा एक नया मार्ग भामह के काल-निर्णय के लिए निकाला। वही मार्ग काणे ने भी स्वतन्त्र रूप से अवलम्बन किया। डा० याकोबी ने यह सिद्ध करना चाहा कि भामह ने बहुत कुछ विचार धर्मकीर्ति से लिये हैं और इसलिए वह धर्मकीर्ति के अनन्तर ही रखे जा सकते हैं। बहुतों को तो यह युक्ति भामह के काल-निर्णय के लिए अन्तिम युक्ति प्रतीत हुई। डा० दे[2], नोबुल[3] आदि ने इसी मार्ग का अवलम्बन किया।

संस्कृत अलंकार-शास्त्र का विवेचन पिछले कुछ वर्षों से बडे जोरों के साथ चल रहा है और कुछ नवीन ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए हैं। काणे का नाम तो इस ओर अगाध पाण्डित्य और विस्तृत खोज के लिए प्रसिद्ध ही है[4]। डा० एस० के० दे ने सस्कृत अलंकार-शास्त्र का इतिहास लिखकर एक मार्के का काम किया है[5]। डा० नोबुल ने हाल ही मे एक नई पुस्तक प्रकाशित की है[6] और बटुकनाथ भट्टाचार्य ने भी एक लेख कलकत्ता जर्नल आफ लेटर्स मे लिखा है[7]।

इतने ग्रन्थ और लेख प्रकाशित होने पर भी पूर्वलिखित मतों का एक स्थान पर संग्रह करने की कोई चेष्टा नहीं की गई। भामह का काव्यालंकार भी प्रतापरुद्रयशोभूषण के एक कोने मे अभी तक पड़ा हुआ है। यहाँ पर इसलिए यह चेष्टा की जाती है कि भामह और उनके ग्रन्थ के सम्बन्ध मे जितनी अधिक बातें ज्ञात हो सके एकत्र संग्रह की जायँ और साथ ही साथ आधुनिक मतों की परीक्षा करके यह देखा जाय कि कहाँ तक नवीन मत ग्राह्य हो सकता है। आशा है, भामह में रुचि रखनेवाले विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित होगा।

१—Ind. Ant 1913.

२—History of Sanskrit Poetics Vol. I. P. 48

३—Nobel—Foundations of Indian Poetry P 17.

४—साहित्यदर्पण की अंग्रेजी भूमिका Bombay, 1923.

५—History of Sanskrit Poetics, 2 Vols. 1923.

६—Foundation of Indian Poetry, Calcutta 1935.

७—Calcutta Journal of Letters Vol. IX.

भामह का व्यक्तित्व

भामह के बारे में काव्यालंकार को छोड़कर और किसी ग्रंथ से हम लोग बहुत कम जानते हैं। पूर्व परम्परा से यही पता चलता है कि वे कश्मीर के रहनेवाले थे और ब्यूलर[१] आदि[२] भी इसी को मानते हैं। यद्यपि इसके पक्ष में परम्परा को छोड़कर कोई प्रबल युक्ति नहीं है पर इसके विरुद्ध भी मानने के लिए कोई कारण नहीं है। काव्यालंकार के अन्तिम श्लोक से[३] यह बात विदित होती है कि इनका नाम भामह था और यह रक्रिल गोमिन् के पुत्र थे। रक्रिल शब्द राहुल, पोत्तल, सोमिल और दूसरे इसी प्रकार के बौद्ध नामों से मिलता-जुलता है, और इससे मालूम होता है कि इस नाम का सम्बन्ध कुछ बौद्ध लोगों से है और यह विचार इस बात से और पुष्ट होता है कि गोमिन् बुद्ध के एक शिष्य का नाम था[४]। पाठक ने यह भी लिखा है कि गोमिन् पूज्य अर्थ में लिया जाता था[५]। चान्द्र व्याकरण के एक सूत्र से[६] यह सिद्ध है कि गोमिन् का पूज्य अर्थ था। एवं यह भी कहा जाता है कि भामह के ग्रन्थ के आरम्भ के श्लोकों मे[७] प्रयुक्त सार्व सर्वज्ञ शब्द स्वयं बुद्ध ही का द्योतक है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ मे 'सार्व' शब्द बुद्ध के व्यापक प्रेम की शिक्षा से मिलता-जुलता है। हेमचन्द्र ने[८] तो जिन का एक नाम सार्व भी दिया है। जिन देव-मुनीश्वर[९] ने यही नहीं, 'सर्वार्य' भी उनका नाम दिया है। इस विचार से कि बहुत से बौद्ध नाम

१—Buhler's Kashmir Report, P. 64.

२—Narsimhachar in his Introduction to नागवर्मा—काव्यालोकनम्. Ind. Ant 1912. Krishnamacharya : History of Classical Sanskrit Literature.

३—अवलोक्य मतानि सत्कवीनामवगम्य स्वधिया च काव्यलक्ष्म।
सुजनावगमाय भामहेन ग्रथितं रक्रिल गोमिसूनुनेदम्॥

—काव्या० ६।६४

४—J. R. A. S 1905,

५—Ind. Ant. 1912

६—गोमिन् पूज्ये 4. 11. 144.

७—प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञं मनोवाक्कायकर्मभिः।
काव्यालंकार इत्येष यथाबुद्धि विधास्यते॥ काव्या० १।१।

८—अभिधानचिन्तामणि 1. 1. 25.

९—अभिधानचिन्ताशिलोञ्छ।

जैनों ने अपने में मिला लिये थे, यह अनुमान किया जा सकता है कि सार्व प्रारम्भ में बुद्ध का नाम था। बुद्ध का सर्वज्ञ नाम तो प्रसिद्ध ही है[1]।

अब इन सब बातों का विचार करते हुए यह कहा जाता है कि भामह को बौद्ध सिद्ध करने की उपर्युक्त युक्तियाँ इन्हीं कारणों से बिल्कुल ठीक नहीं हैं। काणे ने भी कहा है कि नाम का सादृश्य होना किसी बात के सिद्ध करने के लिए कोई महत्त्व का प्रमाण नहीं है[2]। जब हिन्दू और बौद्ध सैकड़ों वर्षों से एक साथ एक ही देश में रहते आ रहे थे, तब यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि एक ने दूसरे का नाम रख लिया हो। आज भी जब हम यह देखते हैं कि परस्पर भिन्न हिन्दू और मुसलमानों के नाम एक दूसरे से मिल जाते हैं तो संभव है कि ऐसा ही हिन्दू और बौद्धों के बारे मे भी हो सकता है। यह बात भी हमे याद रखनी चाहिये कि बुद्ध स्वय बिष्णु के अवतार ग्यारहवीं शताब्दी के पूर्व से ही समझे जाते थे। त्रिवेदी की युक्ति के साथ-साथ हम यह कह सकते हैं कि गोमिन् बौद्धों के लिए ही केवल नहीं प्रयोग किया जाता था। निघण्टुकारों ने यह दिखाया है कि यह शब्द गोस्वामिन् का अपभ्रंश है। यह पदवी उत्तरी भारत में कश्मीरी ब्राह्मणों के नाम से जोड़ी जाती है और यह दक्षिण के आचार्य की द्योतक है।

किसी ग्रन्थकार के धार्मिक विचार उसके ग्रन्थ से समझने चाहिये, उसके नाम से नहीं। काव्यालंकार ग्रन्थ मे समाप्ति पर्यन्त कोई बौद्ध विषयक बात नहीं है और न बुद्ध का जीवन या बुद्ध सम्बन्धी कथाओं का दिग्दर्शन है। पहले श्लोक मे अवश्य सार्व सर्वज्ञ को अभिवादन किया गया है। पर सार्व का अर्थ केवल "सर्वस्मै हित" ही है[3] :—किसी कोश ने भी इसे केवल बुद्ध ही का नाम नहीं लिखा है। 'सर्वज्ञ' शब्द बुद्ध और शिव[4] दोनों के लिए समान रूप से कोशों में आया है। कुमारिल ने तो 'श्लोक वार्तिक' मे सर्वज्ञ शब्द का पूर्ण विवेचन किया है। उसमे उन्होंने इसका अर्थ बुद्ध नहीं, सर्वज्ञ ईश्वर लिया है। यह देखने योग्य बात है कि अमरसिंह ने जो स्वयं बौद्ध थे किसी भी स्थान

१—सर्वज्ञः सुगतो बुद्धः—अमरकोश।

२—Intr साहित्यदर्पण, p XVIII

३—हितप्रकरणे णं च सर्वशब्दात् प्रयुज्यते।
ततश्छमिष्टया च यथा सार्वं सार्वीय इत्यपि ॥ काव्या० ६।५३

४—कृशानुरेताः सर्वज्ञो धूर्जटिर्नीललोहितः—अमरकोश।

पर अमरकोश मे सार्व शब्द बुद्ध के लिए नहीं रक्खा है। बौद्धों के अपोहवाद का खडन भामह ने ऐसी भाषा मे किया है जो एक बौद्ध ग्रन्थकार[1] करने का साहस नहीं कर सकता।

इन प्रमाणो से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भामह को बौद्ध मानना नितान्त तर्कहीन है। 'सार्व' की बात जाने दीजिए; कोई भी बौद्ध 'अपोहवाद' का खण्डन नहीं कर सकता, क्योंकि यह उसका अपना प्रख्यात सिद्धान्त है—बौद्धों का संकेत-विषयक मत जिसके प्रति सिर झुकाना प्रत्येक बौद्ध का कर्तव्य है।

उन्होंने वैदिक विधि और संस्कारों का वर्णन बडे आदर के भाव से किया है। सोमपान करनेवाले राजा लोग ऊँची दृष्टि से सम्मानित किये गये हैं[2]। अनेक उदाहरणों में वैदिक देवताओं[3] का वर्णन है। शिव के द्वारा काम के भस्म करने की पौराणिक गाथा स्पष्ट रीति से कही गई है[4]। उन्होंने बहुत स्थानों पर रामायण के पुरुषों और कथाओं का वर्णन किया है। राम और परशुराम की भेट[5], पिता की आज्ञा मानकर रामचन्द्र का दण्डकारण्य मे

१—अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृतिः किल॥
यदि गौरित्ययं शब्दः कृतार्थोऽन्यनिराकृतौ।
जनको गवि गोबुद्धेर्मृग्यतामपरो ध्वनिः॥ काव्या० ६।१६-१७

२—भूभृतां पीतसोमानां न्याय्ये वर्त्मनि तिष्ठताम्।
अलंकरिष्णुना वंशं गुरौ सति जिगीषुणा॥ काव्या० ४।४८

३—युगादौ भगवान् ब्रह्मा विनिर्मित्सुरिव प्रजाः। काव्या० २।२५
समग्र गगनायाम-मानदण्डो रथांगिनः।
पादो जयति सिद्ध-स्त्री-मुखेन्दुर्नव दर्पणः॥ काव्या० ३।३६
विदधानौ किरीटेन्दू श्यामाभ्रहिमसच्छवी।
रथांगशूले बिभ्राणौ पातां वः शम्भुशार्ङ्गिणौ॥ काव्या० ४।२१
कान्ते इन्दु शिरोरत्ने आदधाने उदंशुनी।
पातां वः शम्भुशर्वाण्यौ··················॥ काव्या० ४।२७

४—स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम्॥ काव्या० ३।२५

५—अत्याजयद्यथा रामः सर्वक्षत्र-वधाश्रयाम्।
जामदग्न्यं युधा जित्वा सा ज्ञेया कोपबाधिनी॥ काव्या० ५,४४

निवास[१], सात ताल वृक्षों को एक ही बाण मे मारना[२], हनुमान् का सीता अन्वेषण[३]—आदि अनेक रामायण की प्रसिद्ध घटनाओं का वर्णन भामह के काव्यालंकार मे आया है।

रामायण से भी बढकर महाभारत के पुरुषों और कथाओं का वर्णन[४] आया है। भामह ने भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिज्ञाओं के उदाहरण मे पुरु[५] और भीष्म की[६] प्रतिज्ञाओं का वर्णन किया है। उसी प्रकार युधिष्ठिर और शकुनि की द्यूतक्रीड़ा[७], दुःशासन के रक्तपान की प्रतिज्ञा[८] आदि भी वहाँ[९] वर्णित हैं। एक बहुत ही सुन्दर श्लोक मे भामह ने घर पर कृष्ण के आगमन के साथ विदुर का हर्ष-वर्णन किया[१०] है। एक दूसरे श्लोक मे कृष्ण के बेटे प्रद्युम्न का नाम ऐल पुरूरवा[११] के साथ आया है।

१—उदात्त शक्तिमान् रामो गुरुवाक्यानुरोधकः।
विहायोपनतं राज्यं यथा वनमुपागमत् ॥ काव्या० ६,११

२—रामः सप्ताभिनत् तालान्। काव्या० ३,३२

३—उपलप्स्ये स्वयं सीतामिति भर्तृनिदेशतः।
हनूमता प्रतिज्ञाय सा ज्ञातेत्यर्थसंश्रया ॥ काव्या० ४,३७

४—भामह का काव्यालंकार ३,७।५,३१।५,४१

५—जरामेष बिभर्मीति प्रतिज्ञाय पितुर्यथा।
तथैव पुरुणाभारि सा स्याद्धर्मनिबन्धनी ॥ ५, ३६

६—अद्यारभ्य निवत्स्यामि मुनिवद् वचनादिति।
पितुः प्रियाय यां भीष्मश्चक्रे सा कामबाधिनी ५,३७

७—आहूतो न निवर्तेय द्यूतायेति युधिष्ठिर।
कृत्वा सन्धां शकुनिना दिदेवेत्यर्थबाधिनी ॥ ५,४२

८—भ्रातुर्भ्रातृव्यमुन्मथ्य यास्याम्यस्यासृगाहवे।
प्रतिज्ञाय यथा भीमस्तच्चकारावशो रुषा ॥ ५,३९

९—काव्यालंकार २.४१.५.४१

१०—... ....गृहागतं कृष्णमवादीद्विदुरो यथा।
अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते ॥
कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात् पुनः ॥ ३,५

११—भरतस्त्वं दिलीपस्त्वं त्वमेवैलः पुरूरवाः।
त्वमेव वीर प्रद्युम्नस्त्वमेष नरवाहनः ॥ ५,५९.

इन रामायण और महाभारत की कथाओं के साथ-साथ गुणाढ्य-निर्मित बृहत्कथा[1] मे वर्णित उदयन और उसके पुत्र नरवाहन दत्त की कथा भी वर्णन की गई है। चन्द्रगुप्त के प्रसिद्ध मंत्री चाणक्य का नन्द के घर में रात्रि के समय जाना वर्णित किया गया है।

इन सब उपर्युक्त बातों को जब हम ध्यान में रखते हैं तो हमे आश्चर्य होता है कि किस प्रकार एक मनुष्य लिखने के समय अपने धर्म को एकदम भूल जायगा और दूसरे धर्म के ग्रन्थों से उदाहरण लेना प्रारम्भ कर देगा। बौद्ध ग्रंथों मे गाथाओं की कमी नही है। यदि भामह की इच्छा होती तो एक नहीं अनेक गाथाएँ मिल जातीं। यही बात नमिसाधु आदि के ग्रन्थों के देखने से स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने किस प्रकार अपने ही धर्मग्रथों से गाथाओं का संग्रह किया है। इतना ही नहीं, कभी-कभी तो अपोहवाद आदि के खण्डन मे भामह बौद्धों के विचारों पर एकदम बिगड़ जाते हैं। शंकराचार्य के पूर्व बौद्धों का समय यदि हम याद करे और विचारे कि किस प्रकार राजा लोग बौद्धों की रक्षा करते थे, तो यह बात समझनी और भी कठिन हो जाती है कि किस प्रकार एक बौद्ध हिन्दू-धर्म की ओर प्रवृत्त हो जाता है। हम यह बात स्वीकार करते हैं कि हमारे पास भामह को हिन्दू सिद्ध करने के लिए अकाट्य प्रमाण नहीं हैं, पर उनको बौद्ध बनाने की युक्तियाँ तो और भी खेल-सी मालूम होती हैं। इस प्रश्न पर तब तक कोई सिद्धान्त निकाला नहीं जा सकता तब तक कोई स्पष्ट युक्ति और भी न मिल जाय। वर्त्तमान समय मे हम इतना ही कह सकते हैं कि वे बौद्ध की अपेक्षा ब्राह्मण ही थे।

काल-निर्णय

भामह के सम्बन्ध मे सबसे अधिक महत्त्व का प्रश्न उनके काल का निर्णय करना है। इसी प्रश्न को लेकर इतने वर्षों तक घोर उत्तर-प्रत्युत्तर हो रहे थे। परन्तु इतने वर्षों तक निःस्वार्थ वाद के अनन्तर कुछ सिद्धान्त अवश्य निकल आना था। पर दुर्भाग्यवश फल उल्टा ही हुआ। सभी बातें सन्देह-ग्रस्त रह गईं। इसलिए यहाँ पर यथाशक्ति स्पष्ट रीति से भिन्न-भिन्न युक्तियाँ थोडे में नीचे दी जाती हैं जिससे उनकी परीक्षा करके कुछ निष्कर्ष निकल आवे।

अनेक संस्कृत के ग्रंथकारों की भाँति भामह ने भी अपना समय सूचित करने के लिए कोई मार्ग नही दिखाया है। अन्तः या बाह्य कोई भी मार्ग

१—काव्यालंकार ४,३९ आदि।

नहीं है, जिससे समय का ठीक-ठीक पता लग जाय। अधिक से अधिक हम इतना ही इस समय कर सकते हैं कि जहाँ तक हो सके भामह का काल-निर्णय करने के लिए पूर्व अवधि और चरम अवधि निकाल ले।

इतने पर भी हम लोग दृढ भित्ति पर नहीं स्थित हैं। किसी प्रकार भामह के काल की चरम अवधि तो दूसरे ग्रन्थकारों के वचनों से और उद्धृत कथादि से मिल सकती है, पर पूर्व के अवधि-निर्धारण करने के समय कठिनाइयाँ आ उठती हैं। इसी स्थान पर तो विद्वानों के सघर्ष भी हुए हैं। पहिले तो हम लोग भामह के काल की चरम अवधि निश्चय कर ले।

भामह की चरम अवधि

सर्वप्रथम आनन्दवर्द्धनाचार्य ने ही भामह का नाम अपने ग्रन्थ मे लिया है। इसके पूर्ववर्ती आलंकारिकों मे उद्भट ने भामह के काव्यालकार के ऊपर एक टीका लिखी थी। इस टीका का नाम था—**भामह विवरण** जिसमे भामह के 'काव्यालङ्कार' की प्रामाणिक व्याख्या प्रस्तुत की गई थी। दुर्भाग्यवश यह टीका ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता, परन्तु इसके अस्तित्व का पूरा परिचय हमे मान्य आलंकारिकों के निःसन्दिग्ध निर्देशों से चलता है। प्रतिहारेन्दुराज, अभिनवगुप्त और हेमचन्द्र ने स्पष्टतः इस ग्रन्थ के वचनों तथा मतों को उद्धृत किया है[1]।

उद्भट के मौलिक ग्रंथ **काव्यालंकारसंग्रह** और भामह के **काव्यालंकार** की तुलनात्मक समीक्षा करने से भी मालूम होगा कि उद्भट को केवल

१—विशेषोक्ति लक्षणं च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन—प्रतिहारेन्दुराज की उद्भट के काव्यालंकार-संग्रह पर टीका पृ० १४।
"भामहोक्तं शब्दच्छन्दोभिधानार्थः" इत्यभिधानस्य शब्दाद् भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे—अभिनवगुप्ताचार्य का ध्वन्यालोक-लोचन पृ० १०।
"तस्माद् गड्डलिकाप्रवाहेन गुणालंकारभेद इति भामहविवरणे यद् भट्टोद्भटोऽभ्यधात् तन्निरस्तम्"—हेमचन्द्र—अलकार चूड़ामणि, पृ० १७।
"अपि च शब्दानाकुलिता चेति तस्य हेतून् प्रचक्षते इति भामहीये 'वाचामनाकुलत्वेनापि भाविकम्' इति चोद्भटलक्षणे"—अलंकार-सर्वस्व पृ० १८३ (निर्णयसागर)।

टीका ही लिखकर संतोष नहीं हुआ। उन्होंने भामह के पदार्थों को जहाँ तक हो सका है अपना लिया है जैसा कि आगे दिखाया जायगा। उद्भट ने भामह के वाक्य-लक्षणों की नकल ही नहीं की है उनको शब्दशः वैसा ही उतार भी लिया है।

वामन की अलकार सूत्र-वृत्ति से ठीक-ठीक पता चलता है कि वामन-को भामह के ग्रन्थ का पूरा पता था। यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि वामन ने कितने ही स्थानों पर[1] भामह के श्लोकों[2] को सूत्र का रूप दे दिया है और कहीं-कहीं पर[3] उन्होंने भामह के वही विचार[4] दे दिये हैं। एक स्थान पर वामन ने भामह का एक श्लोक वैसा का वैसा ही लिख दिया है[5] जो कि भामह ने शाखवर्द्धन[6] के नाम से उद्धृत किया था। और दूसरे स्थान पर[7] उन्होंने भामह के श्लोक[8] का कुछ भाग अशुद्ध उद्धृत कर दिया है और उसके एक शब्द के प्रयोग पर टिप्पणी लिखी है। भाषा मे इतनी समानता, विचार में सादृश्य अकस्मात् ही नहीं आ सकता, यह अवश्य किसी प्रसिद्ध ग्रन्थ के तथ्यों के समावेश करने ही से हो सकता है।

ऊपर लिखे हुए वचनों से यह तो स्पष्ट है कि भामह उद्भट और वामन के पूर्वकालीन थे। सौभाग्य से उद्भट का काल ठीक-ठीक निश्चित हो सकता है। आनन्दवर्द्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक मे[9] कई स्थानों पर

१—वामन काव्यालंकार सूत्र ४।२।१

२—भामह का काव्यालंकार २।३०

३—वामन ४।२।२०-२१

४—भामह २।५०

५—वामन ४।२।१०

६—भामह २।४६

७—वामन ५।२।३८

८—भामह २।२७

९—ध्वन्यलंकारान्तर प्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेश्यो भवतीति दर्शितं भट्टोद्-भटेन–ध्वन्यालोक (निर्णयसागर) पृ० ७६।
अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलंकारः सोऽन्यत्रप्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिः भट्टोद्भटादिभिः।
—ध्वन्यालोक पृ० १०८।

उद्‌भट का नाम दिया है और कल्हण का कथन है कि उद्‌भट जयापीड़ की सभा के सभापति थे। जयापीड का काश्मीर मे राज्यकाल सन् ७७९ से सन् ८१३ ई० तक था। कुप्रबन्ध के कारण पण्डितों ने जयापीड़ का उसके राज्यकाल के अन्तिम भाग मे कुछ अपमान किया। इसलिए उद्‌भट उनके दरबार मे सन् ८०० ई० के लगभग अवश्य रहे होंगे। और इसी कारण सम्भवतः इनकी साहित्य-चर्चा आठवीं शताब्दी के अन्तिम भाग मे हुई होगी। उद्भट का काल सम्भवतः लगभग ८०० ई० माना जा सकता है।

इसी प्रकार वामन का काल भी निश्चित हो सकता है। राजशेखर सन् ९०० ई० के लगभग थे और उन्होंने वामन के मत का[1] उल्लेख किया है। वामन अवश्य इस प्रकार ९०० ई० के पूर्व रहे होंगे।

वामन ने अनेक श्लोक भवभूति[2] के नाटकों से लिये हैं। भवभूति का समय ७०० और ७५० के मध्य मे ही है। वामन इसलिए ७५० के अनन्तर ही रहे होंगे। राजतरंगिणी[3] के अनुसार कोई वामन काश्मीर के जयापीड़ राजा के मंत्री थे और काश्मीरी पण्डितों मे यह बात प्रचलित है कि काव्यालंकार-सूत्रवृत्ति के रचयिता और यह मंत्री महोदय एक ही थे। इस प्रकार उद्भट और वामन समकालीन प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि उन दोनों मे प्रतिद्वन्द्विता थी। पर आश्चर्य यह है कि ये दोनों अपने ग्रन्थों मे एक दूसरे का नाम भी नहीं लेते। तथापि यह मानने मे आपत्ति नहीं कि उद्भट और वामन का समय सन् ८०० ई० के लगभग अवश्यमेव था।

शान्तरक्षित ने भामह के काव्यालंकार[4] से तीन श्लोक[5] लिये हैं और कमलशील[6] टीकाकार ने स्पष्टतया उनको भामह का कहा है। शान्तरक्षित

१—"कवयोऽपि भवन्तीति वामनीया।"—काव्यमीमांसा पृ० १४।
"आग्रह परिग्रहादपि पदस्थैय पर्यवसायस्तस्माद् पदानां परिवृत्तिवैमुख्यं पाकः" इति वामनीयाः— वही, पृ० २०।

२—इय गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्त्तिर्नयनयोः उत्तररामचरित = वामन ४।३।६।
'पिंगालीपक्ष्मलिम्नः' मालतीमाधव = वामन ५।२।१८

३—"मनोरथः शंखदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥"—५।४९७।

४—तत्त्वसंग्रह श्लोक ९१२—१४ (G O. S No XXX)

५—काव्या० ६।१७–१९

६—तत्त्वसंग्रह पृ० २१९

का समय ७०५ से ७६२ ई० तक था। इन्हीं सब कारणों से भामहका परकाल सन् ७०० ई० मानने में कोई आपत्ति नहीं मालूम होती।

अब भामह के पूर्वकाल का निश्चय करना चाहिए। यहीं पर कठिन आपत्तियाँ सामने आती हैं। विद्वानों ने इस विषय मे अनेक मतों का उपन्यास किया है। उनमे से प्रधान-प्रधान मत विषय के सांगोपाग अध्ययन के लिए यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

भामह और न्यासकार

एक स्थान पर भामह ने न्यासकार का नाम लिया है। कुछ विद्वानों का विचार हुआ है कि इससे बहुत कुछ भामह के सम्बन्ध मे निश्चित हो जायगा। इसी बात को लेकर वाद प्रारम्भ हुआ और बहुत काल तक चलता रहा। इस प्रश्न के उठाने का सम्पूर्ण श्रेय प्रो० के० बी० पाठक पर है जिन्होंने इस प्रश्न को उठाया और विद्वत्तापूर्ण युक्तियों द्वारा अपना मत मडन करने की चेष्टा अकेले करते गये। उन्होने समझा कि न्यासकार के नाम से भामह का निर्देश **जिनेन्द्रबुद्धि** से है जो काशिका-विवरण-पंजिका के बौद्ध रचयिता हैं और जिनको हम चीनी यात्री इत्सिंग के आधार पर सातवीं शताब्दी मे रख सकते हैं। इसी अनुमान पर पाठक ने भामह को आठवीं शताब्दि[1] मे रखने का प्रयत्न किया। पाठक का सामना करनेवाले के० पी० त्रिवेदी निकले जिन्होंने आखिर दम तक यही कहा कि पाठक का अनुमान बालू की भित्ति पर स्थित है[2] और कभी भी ठहर नही सकता। त्रिवेदी की युक्तियाँ प्रबल थीं और उनके मत का लगभग सभी ने अनुमोदन किया और आखिर मे शायद पाठक को मानना भी पडा।

वे श्लोक जिनमे भामह के काव्यालंकार में न्यासकार का नाम आया है इस प्रकार हैं—

> **शिष्टप्रयोग—मात्रेण न्यासकारमतेन वा।**
> **तृचा समस्तषष्ठीकं न कथञ्चिदुदाहरेत्॥**
> **सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः।**
> **अकेन च न कुर्वीत वृत्तिं तद्गमको यथा॥**

उपर्युक्त श्लोकों का साधारण अर्थ यह है कि शिष्ट विद्वानों के प्रयोग के अनुसार और न्यासकार के मत से कवियों को ऐसा समास न प्रयोग करना

१—J. R A. S Bombay Vol. XXLII, Ind. Ant Vol. XLI, 1912

२—Intro. to प्रतापरुद्रयशोभूषण PP XXXV ff, Ind Ant. XLII 1913

चाहिए जिसमे एक पद षष्ठी विभक्ति का हो और दूसरा तृच् प्रत्यय युक्त हो। यह दिखलाकर कि पाणिनि का सूत्र वृत्रहन्ता आदि उदाहरणों मे ज्ञापक है वृत्रहन्ता आदि समास ग्राह्य नही हैं। इसी प्रकार ऐसा समास भी प्रयोगार्ह नहीं है जिसका एक पद षष्ठी विभक्तियुक्त हो और दूसरे मे अक् प्रत्यय लगा हो। उदाहरणार्थ तद्गमक आदि।

भामह का इससे इतना ही मतलब है कि पाणिनि का सूत्र 'तृजकाभ्या कर्तरि' सब अवस्था मे माननीय हैं और षष्ठी तत्पुरुष समास तृच् और अक् प्रत्ययवाले पदों के साथ न करना चाहिए। इसी कारण अपा स्रष्टा, वज्रस्य भर्ता, ओदनस्य पाचकः आदि मे कोई समास नही हो सकता। अब हमे यह देखना चाहिए कि जिनेंद्रबुद्धि की काशिकाविवरणपजिका मे जिसको साधारण रीति से न्यास कहते हैं इस विषय का कैसा वर्णन है जिनेन्द्रबुद्धि ने वह प्रकरण इस प्रकार लिखा है—

> "अथ किमर्थं तृच सानुबन्धस्योच्चारणम् ? तृनो निवृत्त्यर्थम्।
> नैतदस्ति तद्योगे न लोकाव्ययेत्यादिना षष्ठीप्रतिषेधात्।
> एवं तर्हि एतदेव ज्ञापकं भवति तद्योगेऽपि क्वचित् षष्ठी भवतीति।
> तेन भीष्म कुरूणा भयशोक-हन्तेत्येवमादि सिद्ध भवति ॥"

उपर्युक्त वाक्य पाणिनि के 'तृजकाभ्या कर्तरि' (२।२।१५) सूत्र के सम्बन्ध मे आया है और इसमे न्यासकार तृच् प्रत्यय मे 'च' अनुबन्ध की सार्थकता दिखा रहे हैं। पाणिनि ने 'त्रकाभ्यान्' न कहकर 'तृजकाभ्या' कहा है। इस च् जोडने का क्या प्रयोजन है ? जिनेन्द्रबुद्धि ने यही उत्तर दिया है कि तृच् प्रत्यय से षष्ठी समास नहीं बन सकता है, पर तृन् मे कोई आपत्ति नहीं है। पर दूसरी और कठिनाई आ जाती है। 'न लोकाव्यय निष्ठाखलर्थ-तृनाम्' (पा० २।३।६९) सूत्र से तृन् प्रत्ययवाले शब्दों के साथ षष्ठी का प्रयोग नहीं होता। षष्ठी समास का इससे कोई सम्बन्ध नहीं है। आपत्ति का यही उत्तर देकर निराकरण हो जाता है कि यह सूत्र इस बात का ज्ञापक है कि षष्ठी तृजन्त पदों के साथ आ सकती है। इसलिए यह सिद्धान्त निकला कि जिन-जिन स्थानों पर एक समास मे एक पद षष्ठी-विभक्तिक है और दूसरे में तृ लगा है तो उसे तृन् समझना चाहिए, तृच् नहीं। अब इन दोनों वाक्यों की तुलना करने से यह बात स्पष्ट है कि भामह तृच् और अक् प्रत्ययान्त पदों के साथ षष्ठी समास का निषेध करते हैं। भामह के हृदय मे पाणिनि का बडा

आदर था।[1] इस विशेष स्थल पर भी भामह पाणिनि को अक्षरशः मान रहे हैं। भामह ने तो न्यासकार का नाम देकर यह दिखाना चाहा कि न्यासकार ने भी पाणिनि के इस सूत्र को ज्ञापक कहकर ऐसे समास प्रयोग करने की अनुमति दे दी है। यह भी मालूम होता है कि न्यासकार ने 'वृत्रहन्ता' और 'तद्गमक' दो उदाहरण दिये थे। साधारण दृष्टि मे भामह के शब्द स्पष्ट हैं और उसमें अर्थ का अनर्थ करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

प्रोफेसर पाठक ने एक स्थान पर[2] इस वाक्य के समझाने की चेष्टा अपने ही तरीके से की है और अन्यत्र[3] अपना विचार संक्षेप मे दिया है। हम पिछले स्थान से कुछ वाक्य यह दिखाने के लिए उद्धृत करते हैं कि किस प्रकार का विचार प्रोफेसर साहब का था। वह लिखते हैं—हमारा इस समय इतना ही कहना पर्याप्त है कि भामह ने उपर्युक्त श्लोकों मे 'वृत्रहन्ता' और 'तद्गमक' के समान षष्ठी समास की निन्दा की है और यह कहा है कि वे व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध हैं। यह भी कहा है कि ऐसे समास नवीन ग्रन्थ-कारों को न प्रयोग करने चाहिएँ। न्यासकार के मत से शिष्ट प्रयोग मात्र की तुलना करने पर भामह का यह कहना नहीं है कि वृत्रहन्ता को शिष्टों ने या न्यासकार ने ठीक कहा है। भामह ने वृत्रहन्ता को लिखकर केवल इतना ही कहा है कि इस प्रकार के षष्ठी तत्पुरुष समास न्यासकार की दृष्टि से ठीक थे। यह प्रमाण 'भीष्मः कुरूणा भयशोक-हन्तेत्येवमादि' वाक्य में इत्येवमादि पद से सिद्ध होता है और तृच् और तृन् की समीक्षा करनेवाले ज्ञापक से भी सिद्ध होता है जिसका प्रयोग वृत्रहन्ता के ऐसे सब षष्ठी समासों मे आता है।

इस प्रकार प्रो० पाठक इस बात का हम लोगों को विश्वास दिलाना चाहते हैं कि भेद रहते हुए भी भामह और जिनेन्द्रबुद्धि एक ही बात कह रहे हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है भामह और न्यासकार पाणिनि के ज्ञापक सूत्र से तृजन्त समास को निन्दनीय नहीं समझते। शायद तृन् का उस स्थान पर कोई वर्णन नहीं आया है। परन्तु जिनेन्द्रबुद्धि ने तृन् के बारे मे भी कुछ कहा है कि जहाँ पर ऐसे समास आवे वहाँ उन्हें तृजन्त नही तृन्नन्त समझना चाहिए।

१—श्रद्धेयं जगति मतं हि पाणिनीयम्—भामह ६।६३।
२—J. R A S. Bombay Vol XXIII, p. 138
३—Ind. Ant. XLI, 1912, p 234.

इन सब ऊपर दी हुई बातों को और स्पष्ट करे तो अच्छा हो। पाणिनि का यह नियम है कि षष्ठी विभक्तिक शब्दों का समास तृजन्त और अक्-प्रत्ययान्त शब्दों के साथ कभी न हो। पर जब ऐसे समास बड़े-बड़े ग्रंथकारों के ग्रंथों में आने लगे तो कठिनाई बढ़ने लगी। वैयाकरणों को तो किसी न किसी प्रकार से उसे सिद्ध करना पड़ा और जब पाणिनि के सूत्रों मे ही 'जनिकर्त्तुः प्रकृतिः' आदि समास आने लगे तो सिद्ध करने के लिए वे बाध्य हुए। इस प्रश्न पर निम्नलिखित विचार की कल्पना की जा सकती है—

(१) कुछ लोगों का कहना है कि जब पाणिनि ने ही अपने सूत्रों में 'जनिकर्त्तुः प्रकृति' 'तत्प्रयोजको हेतुश्च' आदि मे ऐसे प्रयोग किये हैं, तो 'तृजकाभ्या कर्तरि' सूत्र अनित्य और सर्वमान्य नहीं है। कुछ स्थानों पर ऐसे समास हो सकते हैं।

(२) काशिकान्यास के रचयिता जिनेन्द्रबुद्धि शायद कहना चाहेंगे कि यह तृन् प्रत्यय का विषय है, तृच् का नहीं और 'न लोकाव्यय' इत्यादि सूत्र से तृन् प्रत्यय के सम्बन्ध में षष्ठी-निषेध अनित्य है।

(३) कैयट आदि का यह कहना है कि ऐसी अवस्था में षष्ठी 'शेष षष्ठी' से सिद्ध हो सकती है। भट्टोजिदीक्षित ने यह प्रश्न सिद्धान्त-कौमुदी[1] में उठाया है और प्रौढ़ मनोरमा[2] मे अपने विचारों का साराश दिया है। वे शब्द कैयट ही का अनुसरण करते हैं।

(४) दूसरे शायद और होंगे जिनको व्याकरण की शुद्धि का बहुत अधिक विचार हो और ऐसे प्रयोग सर्वथा निषिद्ध मानते हों।

यह कहने की आवश्यकता नही है कि भामह का अधिकतर अन्तिम ही मत होगा जैसा कि सचमुच उनके काव्यालकार मे है। अलंकार-शास्त्रों के जाननेवाले शायद सबका विदित है कि व्याकरण की अशुद्धि और काव्य के

१—शेष षष्ठ्या इति। केचित्तु जनिकर्तुः प्रकृतिस्तत्प्रयोजको हेतुश्चेति निर्देशादनित्योऽयं निषेध इत्याहुः। न्यासकारस्त्वाह। तृन्नन्तमेतत्। न लोकेति षष्ठी-निषेधस्त्वनित्यः। त्रकाभ्यामिति वक्तव्ये तृचः सानुबन्धस्य ग्रहणाज् ज्ञापकमिति।

२—कथं तर्हि "घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन-विधातुश्च कलहः" इति शेषषष्ठ्या समासः इति कैयटः।

दोष समान नहीं हैं। एक पद व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध होने पर भी काव्य के नियमानुसार अच्छा पद नहीं होता। काव्य में वस्तु के साथ-साथ कहने का ढंग भी अधिक महत्त्व का है। कहने का ढंग यदि कुछ खटकता हो तो वह अच्छी कविता नहीं कहला सकती और न अच्छे कवि को वह रुचिकर होगी। भामह का यही विचार था। उन्होंने न्यासकार के मत का जिस प्रकार उल्लेख किया है उससे यही प्रतीत होता है कि उनके समय मे भी व्याकरण की ऐसी अशुद्धियाँ हो जाती थीं जिन पर विद्वानों की दृष्टि पड़ जाती थी। शायद इस विषय पर सबसे अधिक महत्त्व का विचार यही है जो काव्यालंकार में दिया गया है कि पाणिनि के सूत्र ज्ञापक माने जाते थे और तृजकाभ्या का निषेध सूत्र अनित्य माना गया था।

अब हम ऊपर दिये हुए चारों विचारों की भामह के विचार से तुलना करें और देखे कि किस विचार से भामह का विचार मिलता-जुलता है। यह तुरन्त ही पता लग जायगा कि भामह का विचार पहिले विचार के समान है और पहिला विचार दूसरे विचार से एकदम भिन्न है। यह दूसरा विचार जिनेन्द्र-बुद्धि का है।

उदाहरणों की ओर यदि हम लक्ष्य दे तो मालूम होगा कि भामह ने अपने काव्यालंकार मे वृत्रहन्ता उदाहरण दिया है पर जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास मे 'भीष्मः कुरूणा भयशोकहन्ता' है। प्रो० पाठक कहते हैं कि 'न्यासकार के विचार से समस्त षष्ठी समास का उदाहरण भामह ने वृत्रहन्ता दिया है।' हमे समझ मे नहीं आता कि क्यों भामह ने दूसरे उदाहरण का प्रयोग किया और न्यासकार के ही उदाहरणों को नहीं लिया? विशेष कर उस अवस्था मे जब कि उन्होंने न्यासकार के मत का इतना घोर विरोध किया है। अच्छे लेखकों मे यह साधारण रीति है कि जब उनको किसी विषय का विचार करना होता है या सामान्यतः किसी बात का उल्लेख ही करना होता है तो वे उन्हीं उदाहरणों को दिया करते हैं। उदाहरण के लिए शरणदेव[1] को ही लीजिए। उन्होंने जब ऊपर दिये हुए वाक्यों को संक्षेप मे देना चाहा तो उन्हीं जिनेन्द्रबुद्धि के उसी उदाहरण का उल्लेख किया। भट्टोजिदीक्षित ने[2] सचमुच अपना शास्त्रार्थ भिन्न रीति से

१—कथं भीष्मः कुरूणां भयशोकहन्तेत्युच्यते। तृन्नन्तमेतत्। न च लोकाव्यय-निष्ठेति (२।३।६९) षष्ठी निषेधः। यतस्तृजकाभ्यामित्यत्र तृचः सानुबन्धक-स्योपादानं तृनो निवृत्त्यर्थं ज्ञापयति तृनो योगे क्वचित् षष्ठीति न्यासः।

२—कथं तर्हि घटानां निर्मातुस्त्रिभुवन विधातुश्च कलहः इति।

प्रारम्भ किया है पर उनका विचार जिनेन्द्रबुद्धि या शरणदेव से भिन्न था। उन्होंने न्यासकार के मत का न खण्डन ही किया है और न वैसा प्रतिपादन किया है। उन्होंने अपना शास्त्रार्थ एक बहुत साधारण श्लोक[1] के एक पाद से प्रारम्भ किया है जिसके विषय मे कहा जाता है कि भवभूति ने बनाया था जब उनका शास्त्रार्थ किसी विद्वान् से हो रहा था।

जब एक विद्वान् दूसरे विद्वान् से शास्त्रार्थ करता है तब उसे अपनी भाषा का बहुत अधिक विचार रखना पड़ता है। जिनेन्द्रबुद्धि ने भी महाभारत के एक साधारण श्लोक को अपना उदाहरण दिया है। पर भामह की अवस्था एकदम भिन्न है। जब उन्होंने न्यासकार के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया, तब उन्हें उसी उदाहरण को रखना था और शायद उन्होंने वैसा किया भी है, पर वह उदाहरण प्रसिद्ध न्यासकार का नहीं, किसी दूसरे न्यायकार का होगा। 'सूत्रज्ञापकमात्रेण वृत्रहन्ता यथोदितः' मे 'उदितः' स्पष्ट सिद्ध करता है कि प्रसिद्ध न्यासकार ने 'वृत्रहन्ता' ही को उदाहरण दिया था। भामह अपने लेख मे 'उदितः' कभी न कहते यदि वे अकस्मात् ही अपना उदाहरण चुन लेते।

प्रो॰ पाठक का यह कहना कि जिनेन्द्रबुद्धि ही यहाँ न्यासकार हैं, सत्य नहीं मालूम होता। यद्यपि यह प्रो॰ पाठक ने दिखाना चाहा है कि और दूसरे न्यासकार नहीं थे, पर यह बात सिद्ध है कि जिनेन्द्रबुद्धि के न्यास को छोडकर अनेक न्यास पूर्वकाल मे थे। त्रिवेदी[2] ने ठीक ही उल्लेख किया है कि माधवाचार्य के धातुवृत्ति[3] मे क्षेमेन्द्रन्यास, न्यासोद्योत, बोधिन्यास, शाकटायनन्यास

१—भोज प्रबन्ध (निर्णयसागर)।

२—Ind Ant Vol XLII, 1913, p 261.

३—स्पष्टं चैवं गुपधूप इत्यत्र न्यासपदमञ्जर्यादिषु। अज क्षेमेन्द्रन्यासे पणतेः सार्वधातुकेऽप्यायविकल्प उक्तः—धातुवृत्ति (मैसूर सं॰) भाग १, पृ॰ २६६।

अकथितं च इत्यत्र न्यासे, निर्वहि हरि जिदण्डीन् प्रस्तुत्य…न्यासोद्योते च अजादीनां ग्रामादीना चेप्सिततमत्वाविशिष्टमित्युक्तम्—भाग २, पृ॰ ५२९

बोधिन्यासेऽपि सातिः सुखे वर्तते सोत्र इति। जिनेन्द्र-हरदत्तौ सातिर्हेतुमण्णयन्तः इति। शाकटायनन्यास कृतोऽप्ययमेव पक्षोऽभिमतः—भाग १, पृ॰ ९४।

इन सब वचनों में जिनेन्द्रबुद्धि विशेषकर उल्लिखित है।

आदि न्यास उल्लिखित किये गये हैं। प्रो० पाठक को यह कहकर बात को उड़ा देना, कि न्यास से प्रायः अर्थ व्याकरण की टीका[१] लिया जाता है, ठीक नहीं है और न इससे उनके मत मे कोई बल ही आता है। काणे[२] ने सर्वप्रथम इस बात का उल्लेख किया है कि बाण के हर्षचरित मे 'न्यास' पद आया हुआ है। वहाँ उन्होंने "कृतगुरुपदन्यासाः" लिखा है। शंकर टीकाकार उसकी व्याख्या इस प्रकार करते हैं—**कृतोऽभ्यस्तो गुरुपदे दुर्बोधशब्दे न्यासो वृत्तिर्विवरणं यैः**[३]—पर किसी ने यह दिखलाने का प्रयत्न अभी तक नहीं किया है कि जिनेन्द्रबुद्धि हर्षवर्धन के समय के पूर्व थे। आर० नरसिहाचार का कहना है कि एक न्यास 'पूज्यपाद' ने लिखा है जो राइस के मतानुसार सन् ५०० ई० के लगभग थे।

यदि यह सम्भव भी हो (जो नहीं है) कि भामह ने जिनेन्द्रबुद्धि ही न्यासकार का उल्लेख किया है, यह सिद्ध करना सरल नहीं है कि भामह जिनेन्द्रबुद्धि के अनन्तर थे। ई० सन् ७०० के लगभग प्रो० पाठक का भामह को रखने के लिए एक ही आधार चीनी यात्री इत्सिग की समझ मे न पडनेवाले उस समय के वैयाकरणों के बारे मे कथन है। यह सब कहना ठीक नही माना जा सकता। डा० याकोबी[४] ने इसलिए ठीक ही, जिनेन्द्रबुद्धि के समय पर जो प्रो० पाठक ने लिखी है, शंका उठाई है। पूना मे जिनेन्द्रबुद्धि के ग्रंथों का कुछ भाग देखते हुए किलहार्न ने कहा कि मेरा विचार सचमुच यह है कि जिनेन्द्रबुद्धि ने हरदत्त की पदमंजरी से पूरी नकल की है। भविष्योत्तर पुराण के आधार पर डा० याकोबी[५] ने लिखा है कि हरदत्त ८७८ ई० मे मर गये। जिनेन्द्रबुद्धि इस प्रकार कम से कम दसवीं शताब्दि मे आते हैं। पर हमने पहले ही दिखाया है कि भामह का समय ७०० ई० के अनन्तर नही हो सकता। जिनेन्द्रबुद्धि के लिए हरदत्त की पदमंजरी से नकल करना और फिर भी भामह के पूर्व आना असम्भव है।

हम अब इस शास्त्रार्थ को यहीं समाप्त करते हैं। प्रो० पाठक के कथनानुसार भामह ने जिस न्यासकार का उल्लेख किया है वह जिनेन्द्रबुद्धि नही हैं।

---

१. Ind Ant Vol XLI, 1912, P. 233
२. J. R. A S Bomb. 1909 p. 94.
३. हर्षचरित पृ० १३३।
४. J R. A S. 1908 p 499
५. J. R. A. S Bomb Vol. XXIII p. 31

वह कोई प्राचीन ग्रंथकार होंगे जिनका ग्रंथ अब उपलब्ध नही है और जिनको हम बिलकुल नहीं जानते । इसलिए **न्यासकार** के उल्लेख की सहायता से भामह का पूर्वकाल निश्चय करना कठिन है । हम लोगों को इसके निश्चय के लिए किसी दूसरी ओर दृष्टि डालनी चाहिए ।

भामह और माघ

भामह का समय निश्चय करने के निमित्त प्रो० पाठक के लेख की जब हम विवेचना कर रहे हैं, तो विद्वान् प्रोफेसर[१] की एक अन्य बात पर जरा हम लोग ध्यान दे । प्रो० पाठक ने भामह का समय निकालने के लिए कुछ माघ-काव्य का विचार किया है और उससे समय निकालने की चेष्टा की है जो बिल्कुल समझ मे नहीं आती । भामह ने एक स्थान पर[२] काव्य का लक्षण 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यं' लिखा है जिस लक्षण पर प्रायः सभी प्रसिद्ध आलंकारिकों का ध्यान गया है । माघ-काव्य मे एक सुन्दर श्लोक इस प्रकार का है—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥

(शिशुपाल-वध २।८६)

अब यह कहा जाता है कि माघ को अवश्य ही भामह का लक्षण मालूम था और तभी इस प्रकार माघ ने लिखा है । यह बात यहाँ कोई आवश्यक नहीं है, इसीलिए हमलोग इस प्रश्न पर अधिक यहाँ विचार न करेंगे । जिनकी इच्छा हो वे काणे[३] का लेख पढे जिसमे इसके खण्डन की युक्तियाँ दी हैं ।

डा० जे० नोबुल लिखते हैं[४]—ऐसा कहा जाता है कि माघ ने भामह के काव्य के लक्षण का हवाला दिया है । यदि यह एक युक्ति भामह को माघ से पूर्व रखने की हो, तो मै यह भी कहूँगा कि कालिदास ने भी भामह का लक्षण अपने काव्य रघुवंश मे दिया है जब वे कहते हैं—**वागर्थाविव सम्पृक्तौ** । इसलिए भामह को कालिदास के भी पूर्व ले जाया जाय । यहाँ इतना ही कहना है कि वागर्थ की उपमा से माघ शायद कालिदास को ही लक्ष्य कर रहे हैं या किसी और विचार को । भामह के लक्षण से इससे कोई सम्बन्ध नहीं है । यह युक्ति

---

१ J. R A S. Bomb. Vol. XXIII, p 91 ff

२. काव्यालंकार १।१६.

३. J. R. A. S. Bombay Vol. XXIII, p 1918.

४. The Foundations of Indian Poetry p. 15-16.

किसी मतलब की नहीं है, क्योंकि इस प्रकार का काव्य का लक्षण कुछ प्राचीन आलंकारिकों ने भी शायद दिया है।

भामह और कालिदास

ऊपर के विचार से भी अधिक रोचक और आवश्यक वह विचार है जिससे कालिदास भामह के पूर्व रखे जाते हैं। भामह ने काव्यालकार (१।४२–४४) में लिखा है—

> अयुक्तिमद् यथा दूता जलभृन्-मारुतेन्दवः ।
> तथा भ्रमर - हारीत - चक्रवाक - शुकादयः ॥
> अवाचोऽव्यक्त-वाचश्च दूरदेशविचारिणः ।
> कथं दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥
> यदि चोत्कण्ठया यत्तदुन्मत्त इव भाषते ।
> तथा भवतु भूम्नेदं सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥

भामह ने वहाँपर उन कवियों की आलोचना की है जो अपने ग्रंथों मे मेघ, वायु, चन्द्र और उसी प्रकार कुछ पक्षियों को दूत बनाते हैं। उन्होंने इसको 'अयुक्तिमद्दोष' कहा है। वह लिखते हैं कि यह सब बुद्धि के एकदम विपरीत पड़ता है कि ऐसी वस्तुएँ दूतों के कर्त्तव्यों को कर सके। क्योंकि इन वस्तुओं मे दो दोष लक्षित होते हैं। कुछ पदार्थ तो एकदम वचनहीन हैं—बोलने की शक्ति से नितान्त रहित (अवाचः)। और अन्य पदार्थों की वाणी अव्यक्त है (अव्यक्तवाचः)। इन दोनों दोषों से दूषित होने के कारण ये दौत्यकर्म नही कर सकते। परन्तु इस आक्षेप का स्वयं समाधान भी किया—सुमेधा (विद्वान्) का प्रयोग मान्य होता है। इन श्लोकों की समीक्षा से स्पष्ट है कि यहाँ भामह 'मेघदूत' को लक्ष्य कर आलोचना कर रहे हैं।

अब कुछ विद्वानों[१] का कहना है कि यहाँ कालिदास का मेघदूत भामह के हृदय मे अवश्य होगा। यह भी दिखाया गया है कि भामह के एक

---

१ Haricand—L'Art Poetique de L' Indes p. 77.
V. V. Sovani–Pre-dhwani Schools, Bhandarkar Comm. Volume P 373.
S. K. De—History of Sanskrit Poetics Vol. I. p. 48.

श्लोक[1] मे कालिदास के दो श्लोकों[2] के विचार और शब्द आये हुए हैं। इससे सिद्ध होता है कि कालिदास भामह के पूर्व थे।

दूसरी ओर दूसरे लोगों का विचार एकदम विरुद्ध है। डा० टी० गणपति शास्त्री लिखते है[3]—"मैं समझता हूँ कि भामहाचार्य कालिदास के बहुत पूर्व रहे होंगे। भामह ने मेधावि, रामशर्मा, अश्मकवश, रत्नहरण, अच्युतोत्तर आदि संस्कृत कवियों और कविताओ का नाम लिया है जिनको हम बिलकुल ही नही जानते, पर जगत्प्रसिद्ध कालिदास या उनके इतने प्रसिद्ध किसी एक काव्य का नाम भी नहीं लिया है। यदि भामह कालिदास की एक भी कविता को जानते तो प्रतिज्ञा नाटिका की तरह उसकी कुछ न कुछ अवश्य आलोचना किये होते"। इसके अनन्तर इस विद्वान् पण्डित ने भामह की वही तीन कविताएँ[4] उद्धृत कीं जो हम ऊपर लिख आये और लिखा है कि—"इससे हम यह सिद्धान्त नहीं निकाल सकते कि भामह को मेघदूत काव्य मालूम था। यदि ऐसा हो तो यह भी कहना पडेगा कि भामह शुकसन्देश को भी जानते थे जो अभी कल लिखी गई है। इसलिए इन श्लोकों से मैं समझता हूँ कि हमारे आचार्य इस बात की साधारणतः शिक्षा देते हैं कि काव्यों मे प्रेमियों की वायु, मेघ, चन्द्र ऐसे अप्राणियों द्वारा अथवा भ्रमर, चक्रवाक, शुक आदि न बोल सकनेवाले प्राणियों के द्वारा सन्देश भेजने की रीति ऐसे अवसरों पर निन्दनीय है जब तक सन्देश का भेजनेवाला अपनी साधारण अवस्था मे हो। हमारे आचार्य का उपदेश मन मे रखकर ही कालिदास ने कविता का

---

१. अस्मिन् जहीहि सुहृदि प्रणयाभ्यसूया-
माश्लिष्य गाढमगुमानतमादरेण ।
विन्ध्यं महानिव घनः समयेऽभिवर्षन्
आनन्दजैर्नयन-वारिभिरुक्षतु त्वाम् ॥

२. अथाभिषेको रघुवशकेतोः प्रारब्धमानन्दजलैर्जनन्योः ।
निर्वतयामासुरमात्यवृद्धास्तीर्थाहृतैः कांचनकुम्भतोयैः ॥
सरित् समुद्रान् सरसीश्च गत्वा रक्षः कपीन्द्रैरुपपादितानि ।
तस्यापतन् मूर्ध्नि जलानि जिष्णोर्विन्ध्यस्य मेघप्रभया इवापः ॥

रघुवंश १४।७-८

३. 'स्वप्न वासवदत्ता' की भूमिका (अनन्तशयन ग्रन्थमाला)

४. काव्यालंकार १।४२-४४

औचित्य समझते हुए, मेघदूत के प्रारम्भ में मेघ द्वारा सन्देश भेजने का पक्ष लेकर यह श्लोक कहा है—

धूमज्योतिः-सलिल मरुतां सन्निपातः क मेघः
सन्देशार्था क पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥

मेघदूत, श्लोक ५

इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि भामह कालिदास के बहुत पूर्व थे।

यह जानना भी हृदयग्राही होगा कि डा० नोबुल[१] भी पहिले भामह को कालिदास के पूर्व माननेवाले थे। अब भी उनके मत मे थोडा ही अन्तर पड़ा है क्योंकि इस प्रश्न मे युक्ति कोई ठीक नहीं है, पर उनकी प्रवृत्ति अधिकतर कालिदास को भामह के पूर्व रखने की अपेक्षा भामह को ही कालिदास के पूर्व रखने की है।

दोनों पक्षों की युक्तियों का विचार करने से हम यह कह सकते हैं कि दोनों ओर से बहुत कुछ कहा जा सकता है और अब भी सचमुच कुछ निश्चित नहीं है। नहीं समझ में आता कि भामह के समक्ष बिना किसी सन्देश-काव्य के रहे, उन्होंने कैसे यह आलोचना कर दी। पर यह भी कहना उपयुक्त है कि भामह को कालिदास की और उनकी कविताओं की जानकारी क्यों नहीं हुई ?

जो कुछ भी हो, इस शास्त्रार्थ को बहुत दूर तक ले जाना अनावश्यक है, क्योंकि यदि किसी पक्ष मे भी यह निश्चय कर ले तो हमे भामह के समय निकालने मे कोई सहायता न मिलेगी। कालिदास का ही समय अभी विचारास्पद है और इसीलिए उनके सहारे दूसरे का समय हम नहीं निकाल सकते।

भामह और भास

भामह के समय का विवेचन करने के निमित्त भामह और भास के भी सम्बन्ध की बातें उसी प्रकार की हैं जैसी ऊपर कही गई हैं यद्यपि इस सम्बन्ध मे किसी ने यह नहीं कहा है कि भामह उस ग्रन्थ के रचयिता के अनन्तर हुए हैं जिनकी वे समालोचना कर रहे हैं। इस स्थान पर कठिनाई इस

---

१. Nobel—The Foundations of Indian Poetry pp. 14-15.

बात की है कि हम नही जानते कि किस ग्रथ की समालोचना वे कर रहे हैं। भामह के काव्यालकार के वे श्लोक जो इस समालोचना को सूचित करते हैं इस प्रकार हैं—

विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चरशून्यताम्।

अन्तर्योधशताकीर्णं सालंकायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत् स स्वभूगतम्॥

यदि वोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मन्दिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि॥

शरा दृढधनुर्मुक्ता मन्युमद्भिररातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति काऽनुमा॥

हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतस.॥

अस्यन्तो विविधान्याजावायुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यानां न हन्युर्बहव. कथम्॥

नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येऽभिप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैव नयन्ति नयवेदिनः॥

सचेतसो-वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
विशेषं वेद बालोऽपि कष्टं किन्तु कथं नु तत्॥४।३९-४६

वत्सदेश के राजा उदयन की कथाएँ प्राचीन भारत मे सर्वत्र प्रचलित थीं। ऐसी भी कथाएँ हैं जिनका साक्षात् सम्बन्ध उदयन से नही है पर वे उदयन का नाम यत्र-तत्र ले लेती हैं। इसलिए जब हम ऐसी समालोचना भामह के ग्रन्थ मे पाते हैं तो हम ठीक नहीं कह सकते कि यह समालोचना किस पर की गई है। डा० टी० गणपति शास्त्री का यह कथन है कि यह समालोचना प्रतिज्ञायौगन्धरायण पर ही की गई है। शास्त्रीजी कहते हैं—"ऊपर दिया हुआ विषय जिसकी समालोचना भामह ने की है प्रतिज्ञा नाटिका मे पूरी तरह मिलता है। एवञ्च 'अणेण मम भादा हदो अनेन मम पिदा, अनेण मम सुदो' यह प्राकृत जो प्रतिज्ञा नाटिका के प्रथम अंक मे है भामह ने श्लोक के रूप मे 'हतोऽनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम' न्यायविरोध की परीक्षा मे दिया है।"

विद्वान् शास्त्री के इस विचार के होते हुए भी हमारा विचार है कि इस समीक्षा मे अनेक सन्देह हैं। भामह ने भास का या प्रतिज्ञायौगन्धरायण का नाम कहीं नहीं लिया है। वे गुणाढ्य की बृहत्कथा की ही समालोचना करते होंगे जो सबसे प्राचीन ऐसी कथाओं का संग्रह है। वह प्राकृत जिसका अनुवाद भामह अपने श्लोक में देते हैं वहीं पर मिलता हो एवं विद्वान् शास्त्री का यह सिद्धान्त जैसा कि काणे ने कहा है "बहुत जर्जर नींव पर ठहरा हुआ है।" यदि हम भामह के श्लोकों की परीक्षा अच्छी तरह करे, तो यह मालूम होगा कि वह कथा जिसकी समालोचना की गई है ठीक-ठीक प्रतिज्ञायौगन्धरायण में नहीं मिलती। अधिकतर तो वह कथा बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर मे मिलती है और वे बृहत्कथा के सक्षेप रूप हैं। पर यदि यही सिद्ध हो जाय कि भास ही की समालोचना की गई है तो भी उससे अपना कोई मतलब नहीं निकलता। चौदह वर्षों तक पूरा विवाद न केवल भास के समय-निर्णय पर ही चल रहा है, पर उनके नाम पर छपे हुए ग्रन्थों की सत्यता पर भी। भास के समय का कोई निश्चित सिद्धान्त न होने के कारण भामह का पूर्वकाल निश्चय करने के लिए उसका प्रमाण देना निरर्थक है।

भामह और भट्टि

भट्टि और भामह के सम्बन्ध में थोड़ा-सा विवेचन करना यहाँ शायद अनुपयुक्त न होगा। भारत के पण्डितों मे यह परम्परागत विचार चला आ रहा है कि रावणवध या केवल भट्टिकाव्य के रचयिता भट्टि ने काव्यालंकार के उदाहरणों के लिए ही दशम से त्रयोदश सर्ग तक काव्य लिखा है, जैसा कि दूसरा सर्ग पाणिनि के सूत्रों के लिए। टीकाकारों की उक्तियों से भी ऐसा ही प्रतीत होता है। भट्टि ने दशम सर्ग शब्दालंकार और अर्थालंकार के उदाहरणों के लिए, एकादश माधुर्यगुण, द्वादश भाविक, त्रयोदश संस्कृत और प्राकृत काव्य के लिए लिखा ऐसा मालूम होता है। प्रसाद गुण चारों सर्गों मे बराबर है। दशम सर्ग मे अलकारों के उदाहरणों के श्लोकों को यदि देखे, तो श्लोकों के क्रम और ढंग से यही मालूम होगा कि भट्टि के लिखने के समय भामह का काव्यालकार उनके सामने था। जयमंगल और मल्लिनाथ अपनी टीकाओं मे[1] अलंकारों के लक्षण देने के लिए भामह ही के काव्या-

---

1. शब्द-लक्षण-प्रधानेऽप्यस्मिन् काव्ये काव्यलक्षणत्वादधिकार-काण्डान्त-

लंकार को काम में लाये हैं। वे यदि चाहते तो आधुनिक और सर्वांग-सम्पूर्ण अलंकारशास्त्रों को काम मे ला सकते थे, पर तब श्लोक लक्षणों से इतने मिलते जुलते हुए न होते। भामह के काव्यालंकार में एक श्लोक है, जो थोड़ा ही परिवर्तन करने पर भट्टिकाव्य के श्लोक से मिलता है। भामह का श्लोक इस प्रकार है—

काव्यान्यपि यदीमानि व्याख्यागम्यानि शास्त्रवत्।
उत्सवः सुधियामेव हन्त दुर्मेधसो हताः ॥२।२०

भट्टि में श्लोक इस प्रकार है—

व्याख्यागम्यमिदं काव्यमुत्सवः सुधियामलम्।
हता दुर्मेधसश्चास्मिन् विद्वत्-प्रियतया मया ॥ २२।३४

यहाँ यह बात तो स्पष्ट है कि इन दोनों में से एक ने अवश्य दूसरे का ढंग चुराया है। श्रीवत्साक मिश्र कहते हैं कि पहला श्लोक भामह का है। इस प्रमाण पर यह सिद्ध है कि भट्टि ने अपने श्लोक लिखने में भामह की नकल की है। यह सब बाते जो ऊपर कही गई हैं यही सिद्ध करती हैं कि भामह भट्टि के पूर्व हुए। भट्टि के समय के लिए हमे एक ही प्रमाण मिलता है और वह भट्टि-काव्य का अन्तिम श्लोक है—

काव्यमिदं विहितं मया वलभ्यां,
श्रीधरसेन-नरेन्द्र-पालितायाम्।
कीर्तिरतो भवतान्नृपस्य तस्य,
प्रेयकरः क्षितिपो यतः प्रजानाम् ॥२२।३५

काठियावाड के इतिहास से पता लगता है कि धरसेन नाम के चार राजा वलभी में जिसे आजकल बल कहते हैं राज्य करते थे। यह स्पष्ट नहीं है कि किस धारसेन से यहाँ भट्टि का मतलब है। प्रो० बी० सी० मजुमदार ने सन् ४७३ ई० में—मन्दसोर सूर्य मन्दिर लेख में कहे हुए वत्सभट्टि और भट्टि-काव्य के रचयिता को इस आधार पर कि लेख के श्लोक और काव्य में शरद् ऋतु का वर्णन एक प्रकार का है एक समझा है। पर प्रो० कीथ ने इसे एक बहुत दुर्भाग्य का विचार कहा है। परन्तु दोनों विद्वान् प्रोफेसरों का मत है

रमलंकारमाधुर्य-भाविक-भाषासमाख्य-परिच्छेदचतुष्टयात्मकमारभमाणोऽस्मिन् सर्गे तावदलंकारपरिच्छेदं वदन्नादौ शब्दालकारान् लेशतो दर्शयति।
(दशम सर्ग के प्रारम्भ में भट्टिकाव्य पर मल्लिनाथ की टीका।)

कि भट्टि भारवि और दण्डी के पूर्व हुए हैं। मि० त्रिवेदी से सहमत होकर हम इतना ही कह सकते हैं कि भट्टि छठी शताब्दि के अपर भाग मे और सप्तम शताब्दि के पूर्व भाग मे हुए हैं परन्तु सबसे अच्छा मार्ग काणे का पक्ष लेकर यह कहना है कि भट्टि ५०० और ६०० ई० के मध्य मे किसी समय हुए थे। भट्टि के समय-निर्णय में कितना ही मतभेद क्यों न हो पर १९२२ तक किसी ने यह नहीं सुना था कि भट्टि भामह के पूर्व हुए थे। उसी वर्ष डा० याकोबी ने एक नये प्रकार से भामह का समय निकालना चाहा। उन्होंने यह सिद्ध करना चाहा कि भामह ने अपना पंचम अध्याय लिखने के लिए धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से सामग्री ली है। इससे आवश्यक हुआ कि भामह को ६५० ई० के अनन्तर रखा जाय। अब भट्टि जैसा कि ऊपर दिखाया गया है ६५० ई० के अनन्तर नहीं रखे जा सकते। इसीलिए विद्वानों ने भट्टि और भामह का सम्बन्ध दूसरे ढंग से देखना चाहा है। डा० एस० के० दे जो कि जहाँतक हम जानते हैं कभी भी याकोबी से भिन्न विचार नहीं रखते एक स्थान पर लिखते है—"एक समय था जब भट्टि की जयमंगला टीका के आधार पर यह विश्वास किया जाता था कि भट्टिकाव्य के अलंकार का अध्याय विशेष कर दशम सर्ग, भामह के अलंकारों के उदाहरण के लिए लिखा गया था, पर अब जो समय भामह के लिए निर्धारित किया जा रहा है उसमें यह माना गया है कि वे धर्मकीर्ति के अनन्तर हुए थे। इसलिए यह आवश्यक होगा कि भट्टि और भामह का सम्बन्ध फिर से ठीक किया जाय। दोनों विद्वान् डाक्टरों ने बडे परिश्रम के साथ इस सम्बन्ध को ठीक करने का प्रयत्न किया है। इस स्थान पर ठीक करने का मतलब पहिली अवस्था को बिलकुल उलट देना है। विस्तारपूर्वक इसे ठीक करने की परीक्षा करने से कोई फल सिद्ध न होगा क्योंकि इसमें केवल आवश्यकता के वश होकर ऐसा उलट-फेर किया गया है। यह काम बुद्धिपूर्वक नहीं हुआ है। यह तो ऐसा ही हुआ है जैसा एक बुद्धिमान् वकील ने किया ही था। उस वकील ने एक बार ऐसी बहस प्रारम्भ की जैसी कि प्रतिवादी की ओर से होनी चाहिए थी। तब उसे जैसे ही वह बहस समाप्त करने को था कि उसके एक साथी ने उसकी भूल सुझा दी। वह वैसे ही चलता रहा और तुरन्त जजों की ओर घूमकर कहने लगा कि इस प्रकार प्रतिवादी की ओर से कहा जाता। अब मैं उसका खंडन करता हूँ।

दण्डी और भामह

भामह के समय के विवेचन में महत्त्व का प्रश्न अब उपस्थित होता है।

काव्यादर्श के रचयिता दण्डी मध्य भारत के विद्वत् समाज मे बडे प्रसिद्ध थे। शायद उतनी प्रसिद्धि भामह को नहीं मिली क्योंकि उनके ग्रंथ का मिलना इतना सुलभ न था। अलकारों के इन दोनों ग्रंथों की अच्छी तरह परीक्षा करने पर यह भाव उत्पन्न हो ही जायगा कि इन दोनों का आपस मे सम्बन्ध है, चाहे किसी प्रकार से हो। कुछ तो ऐसे वाक्य हैं, जो दोनों मे समान हैं। केवल अर्थों मे नहीं, शब्दों मे भी । अन्य ऐसे वाक्य हैं जो एक दूसरे की समालोचना[२] प्रतीत होते हैं। कुछ तो ऐसे विचार हैं चाहे वे परस्पर समान हों या भिन्न हों पर जिससे यह स्पष्ट विदित होता है कि काव्यालंकार और काव्यादर्श के मध्य घनिष्ठ संबध है[३]।

दोनों ग्रंथों से चुने हुए विचारों से दोनों के समय का विवेचन प्रारम्भ हुआ। एक को दूसरे के पूर्व सिद्ध करने के निमित्त घोर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। सर्वप्रथम एम्० टी० नरसिंह आयंगर ने प्रश्न को उठाया और दण्डी को भामह के पूर्व रखने का उनका विचार हुआ[४]। उन्होंने देखा कि उनकी युक्तियाँ त्रिवेदी[५], डा० जेकोबी[६], प्रो० रंगाचार्य[७], डा० गणपति शास्त्री[८], प्रो० पाठक[९] आदि बडे-बडे विद्वानों द्वारा काट दी गईं। प्रो० पाठक ने तो पीछे से अपना मत बदल दिया[१०]। इस कारण कि भामह को ही पूर्व रखने के पक्ष मे अधिकतर विद्वान् हैं। हमे आवश्यक नहीं है कि हम इस छोटे से अपने लेख को पक्ष और विपक्ष की सब युक्तियाँ देकर उलझा दे। काणे ने दोनो ओर की युक्तियों का संग्रह किया है और जो चाहे उनका विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ देख सकता

१—**काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० २५।** De-History of Sanskrit Poetics Vol I pp 64 66

२—De The History of Sanskrit Poetics Vol I pp 65-66

३—**काणे—साहित्यदर्पण की भूमिका पृ० २५-३५।**

४—J. R A S 1905 pp 535 ff.

५—Intro to प्रतापरुद्रयशोभूषण pp XXIII ff, Ind. Ant XLII ff, Bhand Com Vol p 40

६—Z S. M G LXIV. pp 134 and 139.

७—Intro. to काव्यादर्श।

८—Intro to स्वप्नवासवदत्ता p. XXV.

९—Int. to कविराजमार्ग p XXV.

१०—J. B B R A S XXIII p 19, Ind. Ant. XLI p. 236. ff.

है[१]। मि० काणे ने निष्पक्ष भाव से दोनों पक्षों की युक्तियों को अच्छी तरह प्रतिपादन और परीक्षा करके यह सिद्धान्त निकाला कि किसी ओर भी इस प्रश्न पर अपना निश्चय देना संभव नहीं, यद्यपि युक्तियों के देखने से ऐसा मालूम होता है कि प्रवृत्ति दण्डी को ही भामह के पूर्व रखने की ओर जाती है। वह अपनी युक्ति थोडे मे इस प्रकार कहते हैं "यही सम्भव मालूम होता है कि भामह और दण्डी दोनों स्वतन्त्र विचारों को लेकर चलते हैं। भामह तो अलंकार दल की ओर अधिक झुके हैं और दण्डो भरत-दल की ओर। कोई भी पहले हुए हों, दोनों लगभग समकालीन हैं और ५०० ई० और ६३० ई० के मध्य मे आ जाते हैं[२]। डा० दे ने तो कुछ मार्के की युक्तियाँ बल से देकर यही सिद्ध किया है कि जिस पक्ष मे अधिक लोग हैं वही न्यायतः अधिक प्रबल है[३]।

हम केवल एक-दो बातें कह देना चाहते हैं जो हमारे विचार से सिद्ध करती हैं कि भामह दण्डी के अनन्तर नहीं लाये जा सकते। दण्डी ने अपनी 'अवन्तिसुन्दरीकथा'.के आरम्भ मे प्राचीन कवियों की प्रशस्ति में अनेक श्लोक लिखे हैं जिनमे बाण, मयूर और अनेक दूसरे कवियों की स्तुति है[४]। इन प्रारम्भिक श्लोकों से हम यह भी जानते हैं कि दण्डी भारवि के प्रपौत्र थे, जो दुर्विनीत और सिंहविष्णु के राजाओं के समकालीन थे। तब यह समझना बिलकुल न्याययुक्त मालूम होता है कि दण्डी भारवि से चौथी पीढ़ी मे आने के कारण सातवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में या आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुए होंगे। इस कथन के लिए एक प्रमाण यह है कि दण्डी ने न केवल बाणभट्ट ही की स्तुति की है पर अपनी कथा में कादम्बरी और उसकी अन्य अवान्तर कथाओं का वर्णन दिया है और यह कथन ठीक उसी प्रकार का है जैसा कि बाण ने अपनी पूर्वार्द्ध कादम्बरी में दिया है। यह प्रसिद्ध ही बात है कि बाण हर्षवर्धन के दरबार मे रहे थे जिन्होंने ६०६ से ६४८ ई० तक राज्य किया था। उत्तर देश का एक कवि दस-बीस ही वर्ष मे इतनी प्रसिद्धि नहीं

१—Intro. to साहित्यदर्पण pp. XXV—XXXV.

२—Ibid p. XXXV.

३—History of Sanskrit Poetics Vol I pp. 64-70

४—भिन्नस्तीक्ष्णमुखेनापि चित्रं बाणेन निर्व्यथः।
व्याहारेषु जहौ लीलां न मयूरः············॥

प्राप्त कर सकता जिस काल मे समाचार पहुँचाना कठिन था कि दक्षिण का एक समालोचक भी उनके लिए इतनी प्रशंसा लिखे।

बहुत ही विश्वस्त प्रमाणों से यह भी दिखाया जा सकता है कि भामह बाण के पूर्व हुए थे। ध्वन्यालोक मे[1] आनन्दवर्धन ने यह दिखाते हुए कि एक ही भाव चाहे उसे एक कवि ने प्रकट कर ही दिया हो नवीन सौन्दर्य ग्रहण कर सकता है यदि दूसरा उसी भाव को व्यंग्य रूप से प्रकट करे, यह सूचित किया है कि बाणभट्ट ने भामह के काव्यालंकार के एक श्लोक का भाव लेकर उसे अपने हर्षचरित मे गद्य मे वर्णन किया है। इससे यह बिलकुल स्पष्ट है कि आनन्द-वर्धन को उस समय के काश्मीरी पण्डितों के परम्परागत विचार के आधार पर यह पूरा विश्वास था कि भामह बाण से बहुत पूर्वकाल मे हुए थे जिससे वे उनके विचार को बडी होशियारी से ले सकते थे। इसलिए जब तक इस आनन्दवर्धन के कथन का खण्डन आज तक माने गये हुए समय सम्बन्धी निश्चय द्वारा न हो जाय जो कि असम्भव सा मालूम होता है तब तक भामह का दण्डी से पूर्वकाल मे रहना कट नहीं सकता। उन विद्वानों को जो भामह और दण्डी को समय की दृष्टि से सन्निकट समझते हैं, आदर के भाव से देखते हुए हम यहाँ कहना चाहते हैं कि हम लोगों को यह सत्य नहीं मालूम होता। भामह शायद काश्मीर के रहनेवाले थे और दण्डी निश्चयपूर्वक दक्षिण के थे। यह समझ मे नहीं आता कि इतने परस्पर भिन्न देश मे रहनेवाले विद्वान् उस समय मे एक दूसरे की प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए कैसे तैयार हो जाते। यह बात हटाई नहीं जा सकती कि दण्डी निश्चयपूर्वक समालोचना करने की दृष्टि से भामह के ग्रंथ को एकदम अन्तर्धान कर देना चाहते हैं। भारवि और माघ की भी कुछ ऐसी ही अवस्था थी। यद्यपि उनका समय एक दूसरे से बहुत भिन्न था प्रायः वे निकट ही रहते थे।

---

१. तथा विवक्षितान्यपर-वाच्यस्यैव शब्द-शक्त्युद्भवानुरणन रूप व्यङ्ग्य प्रकार समाश्रयेण नवत्वम्। तथा 'धरणी धारणायाधुना त्वं शेषः' (हर्षचरित VI Para 15 of Kane's Edition) इत्यादौ शेषो हिमगिरिस्त्व च महान्तो गुरवः स्थिराः। यदलंघित-मर्यादाश्चलन्ती बिभ्रते भुवम्। काव्यालकार ३।२७.
इत्यादौ सत्स्वपि तस्यैवार्थं शक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्।—ध्वन्यालोक, उद्योत ४, पृ० २३६.

यह बात भाषा की दृष्टि से भी प्रमाणित हो सकती है। भामह के समय में प्राकृत की इतनी चाल न थी जितनी दण्डी के समय मे थी। शायद सेतु-बन्ध, जिसकी इतनी प्रशंसा दण्डी के मुँह से सुनते हैं, लिखी ही न गई हो। यदि यह बात प्रमाणित हो जाय कि वररुचि के प्राकृत प्रकाश की सबसे प्राचीन टीका, प्राकृत-मनोरमा इन्हीं भामह ने लिखी है जो काव्यालंकार के रचयिता हैं, तो वह वररुचि के अनन्तर भामह ही का सबसे प्राचीन प्राकृत का व्याकरण होगा। यह भी यहाँ कहा जा सकता है, कि महाराष्ट्री—दूसरे प्राकृत नहीं—भामह के अर्थ के अनुसार वररुचि के नियमों का पालन नही करती। पीछे आये हुए टीकाकार वसंतराज आदि ने और विस्तृत रीति से सूत्रों को समझाने की चेष्टा की है। कुछ भी हो, यह निस्सन्देह स्पष्ट है कि समाज की अवस्था जैसी भामह ने अपने ग्रंथ मे दिखाई है वैसी दण्डी के काव्यादर्श मे नहीं है। भामह के समय का काव्य-लावण्य दण्डी के समय तक एकदम अन्तर्धान हो गया। सीधी सुन्दर रीति तब तक शब्द-काठिन्य मे परिवर्तित नहीं हुई थी। बौद्धों और हिन्दुओं के शास्त्रार्थ ने शब्द की शक्ति की विवेचना उत्पन्न कर दी और अलंकार शास्त्र भी तब तक वह पूरा नहीं समझा जाता था, जब तक उसका विवेचन न करे। पर दण्डी के समय तक बिलकुल परिवर्तन हो गये। अलकार-शास्त्रों मे भी दोनों ग्रंथकारों के ग्रंथों मे अनेक बातें समान और असमान मिलने लगीं। हम लोग समझते हैं कि दण्डी और भामह के समय मे अन्तर दहाई का नहीं सैकडों का था।

भामह और धर्मकीर्ति

हम लोगों ने ऊपर दिखाया है कि ध्वन्यालोक में आनन्दवर्धन के प्रमाण पर भामह बाण के अनन्तर, जो सप्तम शताब्दी के पूर्व भाग में थे, नहीं रखे जा सकते, लेकिन यह मत इस विचार से नहीं ठहर सकता कि भामह ने कुछ न्याय की बातें धर्मकीर्ति से ली हैं। डा० याकोबी ने इस बात का कुछ दूर तक विवेचन किया है और उसी सम्बन्ध में धर्मकीर्ति के समय का भी विचार किया है। ह्यून्त्सांग और इत्सिंग के भारत मे आगमन के मध्य काल में धर्मकीर्ति थे, यह वे कहते हैं। ह्यून्त्सांग जिन्होंने भारत की यात्रा ६३० ई० से ६४३ तक की है इस बौद्ध नैयायिक के बारे में कुछ नहीं कहते। इत्सिंग ने, जिन्होंने यात्रा ६७१ ई० से ६९५ ई० तक की है, अवश्य उनके बारे में सुना है।

तारानाथ[१] धर्मकीर्ति को तिब्बत के नृप सोनत्सन गम्पो का समकालीन समझते हैं जो ६२७ से ६९८ ई० तक राज्य करते थे। इसलिए धर्मकीर्ति का समय सप्तम शताब्दि का मध्य भाग कहा जा सकता है। यदि यह सिद्ध हो जाय–जैसा कि याकोबी सिद्ध करना चाहते हैं—कि भामह ने सचमुच धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, तो आनन्दवर्धन का कथन बहुत कुछ असत्य हो जाय और भामह को अष्टम शताब्दि तक कम से कम खींच लाया जाय। हम लोग इन युक्तियों का थोड़ा विवेचन करके देखेंगे।

भामहने धर्मकीर्ति के न्यायशास्त्र की सहायता ली है, इसके लिए जितनी युक्तियाँ हैं वे सब यही कहती हैं कि दोनों ग्रंथों मे कुछ समानता है। ये समानताएँ केवल तीन हैं। एक-एक का विचार किया जायगा।

अनुमान विचार

(१) भामह ने अनुमान के यह दो लक्षण दिये हैं—

> **त्रिरूपाल्लिङ्गतो ज्ञानमनुमानं च केचन।**
> **तद्विदो नान्तरीयार्थ दर्शनं चापरे विदुः॥ (काव्या० ५।११)**

हम लोग वाचस्पति मिश्र की न्यायवार्तिक की तात्पर्य-टीका से जानते हैं कि दूसरा लक्षण—जो यहाँ अनुमान का दिया है—दिङ्नाग का है। परन्तु पहिले लक्षण के बारे में क्या कहा जाय? डा० याकोबी लिखते हैं कि यह लक्षण किसी दूसरे दर्शनकार का है, पर यह दूसरे कौन हैं? डा० याकोबी कहते हैं कि वह धर्मकीर्ति हैं क्योंकि उनके न्यायबिन्दु मे एक स्थान पर लिखा है—

> **अनुमानं द्विधा स्वार्थं परार्थं च।**
> **तत्र स्वार्थं त्रिरूपाल्लिङ्गाद् यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानम्।**

यहाँ पर और दूसरे प्रश्न में भी हमे यही जानना है कि कोई विशेष विचार–जैसा लिंगस्य त्रैरूप्यम्—किसी विशेष व्यक्ति का है अथवा यह साधारण विचार कई व्यक्तियों का है। ऐसी युक्तियों का मान तभी हो सकता है, जब विचार मौलिक हो। दुर्भाग्य से यहाँ ऐसी कोई बात नहीं है। लिंगस्य त्रैरूप्यम्' यह एक साधारण लक्षण नैयायिकों का है, धर्मकीर्ति का निजी मौलिक नहीं। इस समय हमारा काम इसी से चल जाता है कि यह लक्षण दिङ्-नाग ने अपने 'प्रमाण समुच्चय' में इस प्रकार स्वार्थानुमान के विषय मे

---

१. विद्याभूषण History of Indian Logic pp 305-6.

लिखा है[१]—"तीन प्रकार के चिह्नों से जिसका ज्ञान मिले उसी को स्वार्थानुमान—अपने लिए अनुमान—कहते हैं। इसी के संस्कृत रूप से क्या कुछ ठीक ऐसी ही बात धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु से—जो ऊपर उद्धृत की है—नहीं मिलती ? इस सम्बन्ध मे एक बात और कहनी है। जिस प्रकार भामह ने और दिङ्नाग ने यह लक्षण दिया है, उससे क्या यह नहीं प्रतीत होता कि यह न केवल दूसरे किसी और मूलग्रंथ से लिया गया है, बल्कि यह भी कि यह एक प्राचीन और सर्वमान्य विचार है। प्रमाण-समुच्चय के साथ-साथ न्यायप्रवेश में[२] लिङ्गस्य त्रैरूप्यम् का पूरा वर्णन है। चाहे कोई भी इसका रचयिता हो, यह किसी ने अभी तक सिद्ध करने की चेष्टा नहीं की है कि यह ग्रंथ धर्मकीर्ति के अनन्तर लिखा गया है। इसलिए हम लोग कह सकते हैं कि भामह ने किसी प्रकार भी लिंगस्य त्रैरूप्यम् यह लक्षण धर्मकीर्ति से नहीं लिया है। हमारी तो प्रवृत्ति यहाँ तक लिखने की है कि भामह को इस मत में कम से कम दिङ्नाग का भी ऋणी न समझना चाहिए। बहुधा उन्हें यह ज्ञान किसी प्राचीन नैयायिक से मिला होगा।

(२) धर्मकीर्ति के कथन के समान भामह का दूसरा कथन 'दूषणं न्यूनताद्युक्तिः' है (काव्या० ५।२८) धर्मकीर्ति ने भी 'दूषणानि न्यूनताद्युक्तिः' लिखा है।[३] समानता अवश्य चित्त को आकर्षण करनेवाली है पर प्रश्न फिर यही है कि क्या यह धर्मकीर्ति का मौलिक विचार है ?

(३) यही प्रश्न तीसरी समानता पर भी किया जा सकता है। वह यह है—जातयो दूषणाभासाः[४] (काव्या० ५।२९) क्या धर्मकीर्ति ने कोई नया विचार "दूषणाभासास्तु जातयः" कहकर किया है ? ऊपर लिखे हुए दोनों उदाहरणों मे धर्मकीर्ति का कुछ भी मौलिक लिखा हुआ नहीं कहा जा

१—Dr Vidyabhushana's History of Indian Logic p. 280.

२—यह ग्रन्थ अभी तक केवल तिब्बती भाषा में था। सौभाग्य से अब वह गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज में प्रिंसिपल ए० बी० ध्रुव के सम्पादकत्व में प्रकाशित हुआ है।

३—न्यायबिन्दु (Peterson's edition) III 133, Benares Edn. में दूषणा न्यूनताद्युक्ति है, पृ० १३२।

४—न्यायबिन्दु (Peterson's Edn) III. 140, Benares Edn. PP 133

सकता। दूषण और जाति पहिले के ग्रंथकारों को भी मालूम थे[1]। न्यायप्रवेश मे ऐसे ही वर्णन दूषण जाति के अर्थ मे हुए हैं[2]।

काणे ने[3] स्वतन्त्र रूप से कुछ समानताएँ भामह और धर्मकीर्ति के ग्रंथों की दी हैं, उनमे एक यह भी है कि भामह के काव्यालंकार का एक श्लोक धर्मकीर्ति के न्यायबिन्दु के एक वाक्य से बहुत कुछ मिलता है। भामह का श्लोक इस प्रकार का है—

सत्त्वादयः प्रमाणाभ्यां प्रत्यक्षमनुमा च ते।
असाधारण-सामान्य-विषयत्वं तयोः किल ॥ काव्या० ५।५

धर्मकीर्ति ने इस प्रकार लिखा है—

द्विविधं सम्यग्ज्ञानं प्रत्यक्षमनुमानं च (पृ० १०) तस्य विषयः स्वलक्षणं (पृ० २१)...अन्यत् सामान्यलक्षणं (पृ० २४) सोऽनुमानस्य विषयः (पृ० २५) यहाँ पर भी फिर वही बात कही जा सकती है कि प्रमाणों का यह विभाग और लक्षण धर्मकीर्ति के अपने नहीं हैं। अक्षपाद के विरोधी प्रायः सभी नैयायिकों का अधिकतर यही विचार है। उदाहरण के लिए दिङ्नाग ने अपने प्रमाण-समुच्चय में कहा है कि दो ही प्रमाण हैं—प्रत्यक्ष और अनुमान। सब बाते उन्हीं से जानी जाती हैं इसलिए और कोई दूसरे प्रमाण नहीं हैं। डा० विद्याभूषण ने मूल संस्कृत इस प्रकार दिया है—

प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्।
प्रमेयं तच्च सिद्धं हि न प्रमाणान्तरं भवेत् ॥

उपर्युक्त बातों से यह प्रतीत होता है कि धर्मकीर्ति के वह सब वाक्य मौलिक न होने के कारण भामह के वे ही मूल हैं यह हम कह नहीं सकते। धर्मकीर्ति के वे ही सब विचार हैं जो प्रसिद्ध विचार थे और जो बौद्ध न्याय के

१—इस सम्बन्ध में गौतम का न्यायसूत्र और उस पर वात्स्यायनभाष्य इस प्रकार है।

"साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः" यह सूत्र १।२।१८ है। इसी पर वात्स्यायन लिखते हैं "प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसंगो जायते स जातिः। स च प्रसंग साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थामुपालम्भः प्रतिषेध इति। ....प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।

२—Vidyabhushan's History of Indian Logic P 298.

३—Intro to his edition of साहित्यदर्पण p. XL

पूर्व भी विद्यमान थे। ऐसी अवस्था में यह कहना कि भामह ने धर्मकीर्ति से ही अपने सब विचार लिये हैं और किसी से नहीं, यह सर्वथा ठीक नहीं है। डा० याकोबी ऐसे साधारण विद्वान् नहीं हैं कि केवल आकस्मिक विचारों की समानता से ही कह देते कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार ग्रहण किये हैं। हम यह अनुमान करते हैं कि विचारों के शब्दों की समानता से ही याकोबी ने ऐसा अपना मत स्वीकार किया है। पर हम लोगों की दृष्टि से शब्दों की समानता किसी महत्त्व की नहीं है। केवल दूषण और जाति के ही सम्बन्ध मे जो वाक्य आये हैं वे ही कुछ समान प्रतीत होते हैं। परन्तु वहाँ पर भी हम यह नहीं कह सकते कि धर्मकीर्ति ने सर्वप्रथम वे शब्द प्रयोग किये थे। जिस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि वे धर्मकीर्ति के शब्द हैं उसी प्रकार हम यह भी कह सकते हैं कि उनका भामह ही ने सर्वप्रथम प्रयोग किया। इसमे कोई आपत्ति नहीं मालूम होती। यदि शान्तरक्षित दर्शनशास्त्रकार होकर भी हमारे आलंकारिक के वचन ग्रहण कर सकता है, तो कोई कारण नही है कि धर्मकीर्ति भी वही न करे जब उसे कोई तैयार ग्रन्थ उसके मतलब के मिल जायँ।

हम बलपूर्वक इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्दों की समानता से ही निस्सन्देह कोई बात सिद्ध नही होती। ऐसी अवस्था मे तीन बराबर के विचार सम्भव हैं और प्रत्येक सत्य माने जा सकते हैं। अब उपस्थित प्रश्न पर जब तक कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलते यह कहना न्याययुक्त न होगा कि भामह ने धर्मकीर्ति के विचार और शब्द ग्रहण किये हैं। यह भी उसी प्रकार कहा जा सकता है कि धर्मकीर्ति ने भामह के शब्द ग्रहण किये हैं या दोनों ने किसी एक ही सूत्र से अपने-अपने विचार लिये हैं।

प्रत्यक्ष लक्षण

भामह ने धर्मकीर्ति के वाक्य ग्रहण किये हैं या नहीं? इसका सबसे अच्छा निश्चय करने का मार्ग यही होता कि धर्मकीर्ति के विशेष मतों के साथ भामह के मतों की तुलना की जाती। मध्यकाल के न्याय का कुछ भी हाल जो लोग जानते हैं उन सबको भले प्रकार विदित है कि धर्मकीर्ति ने दिङ्नाग के अनुयायी होते हुए भी एकदम उनका अनुकरण नहीं किया। धर्मकीर्ति की विशेषताऐं डा० विद्याभूषण ने[1] अच्छी तरह संग्रह की हैं और

१—Vidyabhushana's History of Indian Logic pp 315—318

इनके ऊपर थोडा भी विचार इस बात को सिद्ध कर देगा कि बौद्ध नैयायिक का कोई विशेष मत भामह ने ग्रहण नहीं किया है। ठीक इसके विरुद्ध प्रमाण हैं कि इससे बिलकुल उलटी बाते हुई हैं। यहाँ पर कुछ दी जा सकती हैं। दिङ्नाग का प्रत्यक्ष का लक्षण प्रत्यक्षं कल्पनाऽपोढम्[1] है। एक महत्त्व का योग धर्मकीर्ति ने प्रत्यक्षं कल्पनापोढमभ्रान्तम्[2] यह कर दिया है। 'अभ्रान्त' यह पद ऐसा नहीं है कि कोई भी उनके अनन्तर आनेवाला हटा सकता है। दिङ्नाग का लक्षण बहुत व्यापक था और इसलिए सर्वत्र लगाया जा सकता था। इससे सब वस्तुएँ प्रत्यक्ष हो सकती हैं। उद्योतकर ने सचमुच इसी प्रकार इसका अर्थ किया[3]। यह आपत्ति हटाने के लिए धर्मकीर्ति ने 'अभ्रान्तं' जोड़ दिया जिससे यह स्पष्ट हो गया कि प्रत्यक्ष से केवल प्रत्यक्ष ज्ञान लिया जा सकता है दूसरा कुछ नहीं। कौन ऐसा होगा कि एक बार दोष दिखाने पर भी इतना व्यापक लक्षण ग्रहण करेगा।

भामह ने प्रत्यक्ष के दो लक्षण एक ही पंक्ति मे दिये हैं। वह इस प्रकार है—प्रत्यक्ष कल्पनापोढं ततोऽर्थादिति केचन-काव्या० (५।६)। इन दो लक्षणों मे से पहिला वाचस्पति मिश्र के कथनानुसार दिङ्नाग का है और दूसरा उन्ही के कथनानुसार दिङ्नाग के गुरु वसुबन्धु का है[4]। अब क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि भामह यह लक्षण छोड देते यदि वे इसको जानते रहते। इसके साथ ही साथ धर्मकीर्ति ने कल्पना का जरा भिन्न मार्ग से लक्षण किया है। उनके अनुसार कल्पना का अर्थ "अभिलापसंसर्ग-

---

१—वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्य टीका में 'अपरे तु मन्यन्ते प्रत्यक्षं कल्पनापोढमिति' पर इस प्रकार लिखा है—सम्प्रति दिङ्नागस्य लक्षणमुपन्यस्यति अपर इति। Vidyabhushana's History of Indian Logic pp 376-377, Dr Randle's Fragments from Dinnaga pp 8-10 देखिए।

२—न्यायबिन्दु (काशी) पृ० ११।

३—उन्होंने 'स्वरूपतो न व्यपदेश्यम्' इस प्रकार लिया है।

४—वाचस्पति मिश्र 'अपरे पुनर्वर्णयन्ति ततोऽर्थाद् विज्ञेयं प्रत्यक्षम्' इस पर टीका लिखते हुए कहते हैं—तदेवं प्रत्यक्षलक्षणं समर्थ्य वासुबन्धवं तावत् प्रत्यक्षलक्षणं विकल्पयितुमुपन्यस्यति—Randle's Fragments from Dinnaga p 12-13 भी देखिए।

योग्यप्रतिभासप्रतीतिः" है[1]। परन्तु उद्योतकर दिङ्नाग के प्रत्यक्ष के लक्षण का विवेचन करते हुए कहते हैं[2]—"अथ केयं कल्पना। नाम जातियोजनेति। यत् किल न नाम्नाभिधीयते न च जात्यादिभिर्व्यपदिश्यते।" वाचस्पति मिश्र इसका लक्षण बादिनामुत्तरम् कहते हैं[3]। अब लक्षणवादी दिङ्नाग और दूसरे लोग होंगे जिनका ऐसा मत था। हम इस बात का अनुमान करते हैं कि भामह भी उनमें से एक थे, कम से कम उनको यह मत मालूम था, क्योंकि वह कहते हैं—'कल्पना नाम जात्यादियोजना प्रति जानते'—काव्या० (५।६) यह बात स्वीकार की जाती है कि धर्मकीर्ति की कल्पना का लक्षण शास्त्रीय ढंग से दिया गया है और उनके प्रत्यक्ष के लक्षण की भाषा बहुत शुद्ध है। यदि भामह एक महत्त्व के प्रश्न पर दो मत दे सकते तो हम समझते हैं कि यदि उपयोगी और उपयुक्त होता तो तीसरा मत भी देते, जैसे कि धर्मकीर्ति के लक्षण सचमुच हैं।

इस सम्बन्ध में एक बात और लिखनी चाहिए। जहाँ तक हम लोगों को मालूम है धर्मकीर्ति ने कहीं पर भी अपने ग्रंथों में वसुबन्धु के मतों का आदर नहीं किया है, यद्यपि उनके शिष्य दिङ्नाग प्रमाण-स्वरूप माने गये हैं। परन्तु भामह ने प्राचीन वसुबन्धु के मतों का आलोचन किया है। हम लोग यह अनुमान लगा सकते हैं कि धर्मकीर्ति के समय तक, शिष्य दिङ्नाग के सामने वसुबन्धु की कीर्ति लुप्त हो गई थी। यह बहुत सम्भव है कि भामह ऐसे समय मे थे जब वसुबन्धु भूले नहीं गये थे, प्रत्युत उनका विद्वान् लोग वैसा ही मान किया करते थे जैसा दिङ्नाग का।

भामह और दिङ्नाग

यहाँ पर इन ग्रंथों का सविस्तर तुलनात्मक विचार दे देना अवश्य लाभदायक होगा, पर इतने कम स्थान मे यह असम्भव है। थोड़ी सी बाते यहाँ दी जा सकती हैं। भामह ने छः पक्षाभास दिये हैं[4], धर्मकीर्ति ने केवल

---

१. न्यायबिन्दु पृ० १३।

२. न्यायवार्तिक पृ० ४४।

३. तात्पर्यटीका पृ० १०२।

४. काव्या० ५।१३–२०।

चार[1]। यदि न्यायप्रवेश को देखे तो नव[2] मिलते हैं। परन्तु बडी विचित्र बात यह है कि इनमे भामह के लक्षण और उदाहरण कुछ 'न्यायप्रवेश' से अधिक मिलते हैं। धर्मकीर्ति ने दृष्टान्त को त्रिरूप हेतु में[3] ले लिया है, परन्तु भामह ने उसको पृथक्[4] माना है जैसा कि न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय मे है। न्यायप्रवेश और प्रमाणसमुच्चय मे दृष्टान्त के दो विभाग साधर्म्य और वैधर्म्य[5] द्वारा किये गये हैं। भामह ने भी ऐसा ही किया है पर धर्मकीर्ति मे ऐसा कोई विभाग नहीं है। थोडी सी बाते जो यहाँ दी गई हैं वे यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि भामह का धर्मकीर्ति से कुछ भी ग्रहण करना सम्भव नहीं है।

यदि यह सब बाते न भी प्राप्त होतीं तो भी यह दिखाना सम्भव था कि धर्मकीर्ति के अनन्तर भामह का आना हो ही नहीं सकता। जैसा कि ऊपर दिखाया गया है, धर्मकीर्ति सन् ६५० ई० मे थे और दक्षिण भारत मे रहते थे। शान्तरक्षित बंग देश में अष्टम शताब्दि के पूर्वभाग में रहते थे। अब हम लोग किसी प्रकार से अनुमान नहीं कर सकते कि उन दिनों मे जब समाचार एक दूसरे देशों से मिलना कठिन था, पचास ही वर्ष में इतना काम हो गया—धर्मकीर्ति प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनका ग्रंथ काश्मीर जाता है, वहाँ भामह उससे अपना काम निकालते हैं, वह फिर प्रसिद्ध होकर बगदेश पहुँचता है और वहाँ शान्तरक्षित उसका पूरी तरह अपने ग्रंथ मे समावेश कर लेते हैं और यह सब काम पचास वर्ष मे हो जाता है। यह बिलकुल सम्भव नहीं है। इसलिए आनन्दवर्धन के कथन मे सन्देह करने के लिए कोई युक्ति नहीं है कि बाण को भामह के ग्रन्थ का पता था। इसलिए ६०० ई० भामह के काल की पर-सीमा मानना अनुपयुक्त नहीं है।

---

१. न्यायबिन्दु पृ० ८४-८५।
२. History of Indian Logic pp 290—291
३. त्रिरूपो हेतुरुक्तः। तावतैवार्थप्रतीतिरिति न पृथग् दृष्टान्तो नाम साधनावयवः कश्चित्। तेन नास्य लक्षणं पृथगुच्यते—न्यायबिन्दु पृ० ११७।
४. काव्यालंकार २।२१, ५।२६, २७।
५ History of Indian Logic pp 286—87, 295—96. शब्दों की समानता भी यहाँ ध्यान में रखनी चाहिए। धर्मकीर्ति के भी ऐसे ही विभाग दृष्टान्ताभास के हैं।

न्यायप्रवेश-कर्ता

परन्तु उनके काल की पूर्वसीमा क्या होनी चाहिए ? पिछले विवेचन से सिद्ध है कि भामह उन मतों से अभिज्ञ थे जो वाचस्पति मिश्र के वचन के आधार पर दिङ्नाग के कहे जाते हैं। हमने यह भी दिखलाया है कि उनके मत उन मतों से भी मिलते हैं जिनका वर्णन न्यायप्रवेश में है। ननजीओ[1] और तकाकसु[2] कहते हैं कि यह ग्रंथ नागार्जुन का है, पर विधुशेखर भट्टाचार्य का विचार है कि ननजीओ ने संस्कृत में नामान्तर करने की भूल की है। स्वयं चीनी भाषा मे नाम उसका 'यू लुग' है जिसका सस्कृत उल्था दिङ्नाग है[3]। परन्तु सुगिउरा[4] और उई[5] के अनुसार चीनी परम्परा के आधार पर न्याय-प्रवेश शंकरस्वामी का कहा जाता है। इस मत के अनुसार दिङ्नाग का ग्रंथ **न्यायद्वार है** जो न्यायप्रवेश से बिलकुल भिन्न है। डा० रेण्डेल[6] का विचार है कि चीनी लोगों के आधार पर न्यायद्वार दिङ्नाग का ग्रंथ है, इसमें सन्देह का कोई कारण नहीं है। इस अवस्था मे यह असम्भव है कि दिङ्नाग न्याय-प्रवेश के रचयिता हों। परन्तु तिब्बतियों के आधार पर न्यायप्रवेश को दिङ्नाग का ग्रंथ न मानने में कोई कारण नहीं है। पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने[7] कई अच्छी युक्तियाँ इस बात के सिद्ध करने के लिए दी हैं कि न्यायप्रवेश दिङ्नाग का ग्रंथ है। इसके साथ ही साथ एक बात प्रश्न मे बहुत दूर तक उलट-फेर कर देती है। यह एक आश्चर्यजनक बात है कि शंकरस्वामी को न ह्यूनत्संग और न इत्सिंग जानते थे। तिब्बत के मूल ग्रंथों में उनका नाम तक नहीं है। न्यायप्रवेश के चीनी अनुवाद से जो अनुवाद तिब्बत मे हुआ है स्पष्ट प्रतीत होता है कि उस समय चीनी भी शंकरस्वामी को नहीं जानते थे। यह सचमुच

१—Nanjio's Catalogue of the Chinese Tripitaka p 270, No 1123, 1224.

२—A Record of the Buddhist Religion by Itsing pp. 177, 186.

३—The Nyaya Pravesha of Dinnaga—Indian Historical Quarterly Vol III p. 154.

४—The Hindu Logic as Preserved in China and Japan pp. 36-37.

५—Vaisesika Philosophy p. 68

६—Fragments from Dinnaga p. 61.

७—Indian Historical Quarterly Vol. III, pp. 154-59.

समझ में नहीं आता कि कैसे उनके नाम का सम्बन्ध न्यायप्रवेश से हो गया। कहीं पर कुछ गडबड़ी इसमे छिपी हुई जरूर है। जब तक इस रहस्य का पता न लगे तब तक हम लोगों को सच्चा कारण न मालूम होगा कि कैसे चीनी लोग इसको शंकरस्वामी का कहते हैं। परन्तु जहाँ तक उस मूलग्रंथ से मालूम होता है—जो पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने छपवाया है[१]—यह सम्भव क्या, सत्य है कि यह दिङ्नाग का ग्रंथ है। विद्वान् सम्पादक ने उसे चीनी और संस्कृत ग्रंथों से मिलान किया है और शायद उनमे उन्हें विशेष भेद नहीं मालूम होता। इसलिए जो कुछ न्यायप्रवेश के तिब्बती पाठ-भेद के रचयिता के सम्बन्ध में कहा गया है वही अन्य पाठ-भेद के बारे मे भी कहा जा सकता है।

हम लोगों की दृष्टि मे इसमे कोई विशेष अन्तर नहीं आ जायगा यदि शंकरस्वामी ही न्यायप्रवेश के रचयिता सिद्ध हो जायँ। वह दिङ्नाग के शिष्य कहे जाते हैं और इसलिए अवस्था मे कम होते हुए भी उनके समकालीन होंगे। इसलिए जब हम दिङ्नाग के ग्रन्थ और न्यायप्रवेश से भामह के मत और वाक्यों की स्पष्ट समानता देखते हैं तो हम निस्सदेह कह सकते हैं कि दिङ्नाग का समय ही भामह के समय-निर्धारण के लिए पूर्वसीमा है।

दिङ्नाग का समय

दिङ्नाग का काल उनके गुरु वसुबन्धु के काल पर निर्भर है। ननजीओ कहते हैं कि कुमारजीव ने वसुबन्धु की[२] एक जीवनी ४०१ ई० से ४०९ ई० के मध्य मे लिखी है और परमार्थ ने जो ४९९ से ५६० ई० के मध्य में थे दूसरी जीवनी लिखी है[३]। परमार्थ से[४] हमे पता चलता है कि वसुबन्धु विक्रमादित्य के समकालीन थे जिसको कि विन्सेण्ट स्मिथ[५] गुप्तवंश के चन्द्रगुप्त प्रथम निर्धारित करते हैं। वसुबन्धु जिनका ८० वर्ष की अवस्था मे देहान्त हुआ २८० ई० और ३६० ई० के मध्य मे जीवित थे। पर दुर्भाग्यावश सब विद्वान् इसपर सहमत नहीं हैं। दूसरा महत्त्व का मत यह कहता है कि वे

१—Gaekwod Oriental Series XXXIX Part II.

२—Nanjio's Catalogue of the Tripitak app. I. 64.

३—Ibid No. 1463.

४—Takakusu J. R. A S 1905, p. 44.

५—Early History of India, 3rd Edn. P. 320.

४२०–५०० ई०[1] के मध्य में थे। परन्तु अधिकतर विद्वान्[2] पहिले ही मत के हैं। इसलिए निस्सन्देह पहिला मत अधिक सम्भव प्रतीत होता है। यदि हम दूसरा मत मानें तो आगे का सब समय गड़बड़ा जाता है। तब हमें कुमारजीव के वसुबन्धु की जीवनी को कल्पित कथा माननी होगी और यह परम्परा विश्वास करने योग्य न होगी कि वसुबन्धु एक वृद्ध थे और उनके ग्रन्थ का कुमारजीव ने चीनी भाषा में अनुवाद किया था।

इसलिए हम ऊपर कही हुई युक्ति से कह सकते हैं कि वसुबन्धु २८० से ३६० ई० के मध्य में थे। अब दिङ्नाग, जो उनके शिष्य थे, उनसे कम अवस्था के थे और उन्हीं के समकालीन थे। इसलिए वे ४०० ई० के पूर्व अवश्य ही किसी समय रहे होंगे। अब यदि दिङ्नाग का समय लगभग ४०० मान लिया जाय तो उसी काल को भामह के काल की पूर्वसीमा माननी होगी। हम इसलिये निस्सन्देह कह सकते हैं कि भामह का काल दिङ्नाग और बाण के काल के मध्य में है। अर्थात् वे ४०० ई० और ६०० ई० के मध्य में विद्यमान थे।

उपसंहार

यदि भामह के काल के विषय मे हम और ठीक कहना चाहें तो हमें यह देखना होगा कि वे दिङ्नाग के सन्निकट थे या धर्मकीर्ति के। हमने पहिले विवेचन मे कहा है कि भामह का मत धर्मकीर्ति की अपेक्षा दिङ्नाग से अधिक मिलता है। हमने यह भी दिखाया है कि भामह ऐसे काल में थे जब वृद्ध गुरुजनों की पूरी स्मृति थी। यह बात उन गुरुओं के बचे हुए ग्रन्थों की और भामह के ग्रन्थ की अच्छी तरह तुलना करने से मालूम हो जाती है। कुछ स्थानों पर उन्होंने पाठकों को विस्तारपूर्वक पढने के लिए दूसरे ग्रन्थों का नाम भी दिया है जो शायद दिङ्नाग के ग्रन्थों में नहीं पाये जाते। हमें यह भी विचार करना होगा कि भामह की कीर्ति को कन्नौज पहुँचने के लिए अवश्य समय लगा होगा जिससे कन्नौज के बाण ऐसे धुरन्धर कवि ने भी इतनी दूर काश्मीर के कवि की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है। यदि

१—Vidyabhusan's History of Indian Logic pp. 266-67.

२—Keith—Indian Logic and Atomism p. 98 Buddhist Philosophy P. 155. B. Bhattacharya's Foreword to तत्त्वसंग्रह pp. LXVI—LXXX.

इसके लिए एक शताब्दी का समय रख लिया जाय तो हम समझते हैं भामह को ५०० ई० के पूर्व रखने में बहुत क्षति न होगी। पर इतने से भी हम लोगों को सन्तोष नहीं होता। उनके लेख की शैली, विषय का प्रौढ़त्व आदि देखने से यही इच्छा होती है कि उनको और पूर्वकाल मे ले जाया जाय और दिङ्नाग के समीप रखा जाय, यद्यपि कोई साक्षात् प्रमाण इसके लिए नहीं मिलता। काव्यालकार का पंचम अध्याय दार्शनिक न्याय से भरा हुआ है। कहीं-कहीं तो शास्त्रार्थ की सी शैली प्रतीत होती है। इससे हमे विश्वास होता है कि भामह ऐसे समय मे विद्यमान थे जब चारों ओर शास्त्रार्थ और विचार का वातावरण फैला हुआ था। भारतीय इतिहास का ऐसा समय दिङ्नाग जैसे विद्वानों के समय में हो सकता है। इधर-उधर वर्णनों से भी हम जानते हैं कि इस महान् आचार्य ने अपना सम्पूर्ण जीवन शास्त्रार्थ में ही व्यतीत किया। वे अपने समय में 'तर्क-पुंगव'—तर्क में श्रेष्ठ—कहे जाते थे; परन्तु ऐसा काल बहुत समय तक न था। न्याय-निर्णय, जो भामह के अलंकार-शास्त्र में एक बहुत आवश्यक विषय समझा जाता था, दण्डी के समय में कर्कश विचार समझा जाने लगा[1]। बाण के समय में भी हमें दिङ्नाग के समय का घोर शास्त्रार्थ और वाद-विवाद नहीं मिलता। गुप्तों के पाँचवीं और छठी शताब्दी के शिलालेखों में भी इस बात का कोई चिह्न नहीं मिलता। इस प्रकार हमें यह विश्वास करने में कोई क्षति नहीं है कि शास्त्रार्थ का यह काल दिङ्नाग से ही समाप्त हो गया। इसलिए हम यह सिद्धान्त निकाल सकते हैं—**भामह दिङ्नाग के समकालीन थे या दिङ्नाग के कुछ ही अनन्तर** हुए थे। अन्त में इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भामह ४०० ई० के लगभग अवश्यमेव विद्यमान थे।

१—विचारः कर्कशप्रायस्तेनालीढेन किं फलम्।—काव्यादर्श।

सिद्धान्त
का
विकास

अलंकार शास्त्र के ग्रन्थों के अनुशीलन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसमे अनेक सम्प्रदाय विद्यमान थे। आलंकारिकों के सामने प्रधान विषय था काव्य की आत्मा का विवेचन। वह कौन सी वस्तु है जिसकी सत्ता रहने पर काव्य में काव्यत्व विद्यमान रहता है? वह कौनसा पदार्थ है जो काव्य के अगों में सबसे अधिक उपादेय तथा महत्त्वपूर्ण है। इस प्रश्न के उत्तर में नाना सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। कुछ लोग अलंकार को ही काव्य का प्राणभूत मानते हैं; कुछ गुण या रीति को, दूसरे लोग ध्वनि को। इस प्रकार काव्य की आत्मा के समीक्षण में भेद होने के कारण भिन्न-भिन्न शताब्दियों मे नये-नये सम्प्रदायों की उत्पत्ति होती गई। अलंकार सर्वस्व के टीकाकार समुद्रबन्ध ने इन सम्प्रदायों के उदय का जो कारण बतलाया है वह बहुत ही युक्तियुक्त है। उनका कहना है विशिष्ट शब्द और अर्थ मिलकर ही काव्य होते हैं। शब्द और अर्थ की यह विशिष्टता तीन प्रकार से सम्भव हो सकती है—

(१) धर्म से।

(२) व्यापार से।

(३) व्यंग्य से।

धर्म दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। अनित्य धर्म की सत्ता काव्य में उतनी अपेक्षित नही रहती जितनी नित्य धर्म की। अनित्य धर्म है अलंकार और नित्य धर्म का नाम है गुण। इस प्रकार धर्ममूलक वैशिष्ट्य प्रतिपादन करनेवाले दो सम्प्रदाय हुए—(१) अलंकार सम्प्रदाय; (२) गुण या रीति सम्प्रदाय। व्यापार-मूलक वैशिष्ट्य भी दो प्रकार का है—वक्रोक्ति तथा भोजकत्व। वक्रोक्ति उक्ति-वैचित्र्य का ही दूसरा नाम है और इस वक्रोक्ति के द्वारा काव्य में चमत्कार माननेवाले आचार्य कुन्तक हैं। अतः उनका मत 'वक्रोक्ति-सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध है। भोजकत्व व्यापार की कल्पना रस-निरूपण के अवसर पर भट्ट नायक ने की है। परन्तु इसे अलग न मानकर आचार्य भरत के रसमत के भीतर ही अन्तर्भुक्त मानना उचित है। क्योंकि भट्ट नायक ने विभाव, अनुभाव, संचारी भाव से रस की निष्पत्ति समझाने के लिए ही इस नवीन व्यापार की कल्पना की है। अतः इसे एक पृथक् सम्प्रदाय न मानकर भरत के रससम्प्रदाय का अंग मानना युक्तियुक्त है।

व्यंग्यमुख से शब्दार्थ में वैशिष्ट्य माननेवाले आचार्य आनन्दवर्धन हैं जिन्होंने ध्वनि को उत्तम काव्य स्वीकार किया है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक के आरम्भ मे ध्वनिविरोधी तीन मतों का उल्लेख किया है जो उनसे प्राचीन है तथा काव्य मे ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता मानने के विरोधी हैं। इन तीनों के नाम हैं—(१) अभाववादी, (२) भक्तिवादी, (३) अनिर्वचनीयतावादी। अभाववादी आचार्य (भामह, उद्भट आदि) काव्य मे ध्वनि का सर्वथा अभाव मानते हैं। इसमें तीन छोटे-छोटे उपसम्प्रदाय हैं। कुछ लोग गुण और अलंकार आदि को काव्य का एकमात्र उपकरण मानकर ध्वनि की सत्ता को बिलकुल तिरस्कृत करते हैं परन्तु कुछ लोग अलकार के भीतर ही ध्वनि का भी समावेश या अन्तर्भाव स्वीकार करते हैं (अन्तर्भाववादी)। भक्तिवादी की सम्मति में ध्वनि भक्ति (लक्षणा) के द्वारा गम्य है, वह लक्षणा मे ही अन्तर्भुक्त है। अतः उसके लिए एक नवीन काव्य-प्रकार मानने की आवश्यकता नहीं। अनिर्वचनीयतावादी के मत में ध्वनि काव्य में अनिर्बचनीय पदार्थ है। वह केवल बुद्धिगम्य है, उसकी शब्दतः आलोचना तथा निरूपण कथमपि शक्य नहीं। अलंकारसर्वस्व के टीकाकार जयरथ ने अपनी 'विमर्शिणी' में इन दो पद्यों को उद्धृत किया है जिनमे ध्वनि-विरोधी बारह सिद्धान्तों की गणना है—

> "तात्पर्यशक्तिरभिधा लक्षणानुमिती द्विधा।
> अर्थापत्तिः क्वचित्तन्त्रं समासोक्त्याद्यलंकृतिः॥
> रसस्य कार्यताभोगो व्यापारान्तरबाधनम्।
> द्वादशेत्थं ध्वनेरस्य स्थिता विप्रतिपत्तयः॥"

(विमर्शिणी पृष्ठ ९)

जयरथ ने इन बारह सिद्धान्तों को पूर्वोक्त आनन्दवर्धन के द्वारा निर्दिष्ट तीन सम्प्रदाय के भीतर ही अन्तर्भुक्त कर दिया है। आनन्दवर्धन ने इन तीनों मतों का पर्याप्त खण्डन कर ध्वनि की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित की है। समुद्रबन्ध के इस विवेचन को उन्हीं के शब्दों मे पढ़िए—

"इह विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम्। तयोश्च वैशिष्टयं धर्ममुखेन व्यापारमुखेन, व्यग्यमुखेन वेति त्रयः पक्षाः। आद्येऽप्यलकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम्। द्वितीयेऽपि भणितिवैचित्र्येण भोगकृत्वेन वेति द्वैविध्यम्। इति पञ्चसु पक्षेष्वाद्यः उद्भटादिभिरङ्गीकृतः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो वक्रोक्तिजीवितकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पञ्चम आनन्दवर्धनेन।"

समुद्रबन्ध—अलकारसर्वस्व टीका।

समुद्रबन्ध के इस विवरण में 'सम्प्रदाय' तथा 'सिद्धान्त' का पार्थक्य स्पष्टतः निर्णीत नहीं किया गया है। फलतः लेखक ने अलंकारशास्त्र के छः सम्प्रदायों की चर्चा कई स्थलों पर की थी, परन्तु यह उचित नहीं प्रतीत होता, जैसा काणे साहब ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री आफ अलंकारशास्त्र' में प्रतिपादित किया है। सम्प्रदाय सिद्धान्तों के ऐक्य पर अवश्यमेव आश्रित होता है, परन्तु दोनों में पार्थक्य है। सम्प्रदाय की संज्ञा पाने का अधिकारी वही सिद्धान्त हो सकता है जिसकी कोई परम्परा हो अर्थात् जो किसी आचार्य का विशिष्ट मत होकर ही सीमित न रहे, प्रत्युत परवर्ती आचार्यों द्वारा परिबृंहित तथा विकसित किया गया हो तथा जिसके माननेवाले अनेक आचार्यों की सत्ता विद्यमान हो। इस कसौटी पर कसने से 'वक्रोक्ति' तथा 'औचित्य' केवल 'सिद्धान्त' प्रतीत होते हैं। उन्हें सम्प्रदाय मानना कथमपि उचित नहीं है[1]। सम्प्रदाय तथा उनके प्रतिष्ठापक-पोषक आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—

सम्प्रदाय	आचार्य
(१) रस	भरत मुनि
(२) अलंकार	भामह, उद्भट, रुद्रट
(३) रीति	दण्डी, वामन
(४) ध्वनि	आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त

१—रस-सम्प्रदाय

रस सम्प्रदाय का आद्य प्रवर्तक कौन था? इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। राजशेखर के कथनानुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा के उपदेश से रस का निरूपण सर्वप्रथम किया था, परन्तु आज न तो नन्दिकेश्वर के किसी रस-विषयक ग्रन्थ का ही पता चलता है और न उनके एतद्विषयक किसी मत का। उपलब्ध रस-सिद्धान्त भरत मुनि के नाम से संबद्ध है। भरत ही रस सम्प्रदाय के सबसे आदि तथा सर्वश्रेष्ठ आचार्य हैं। नाट्यशास्त्र के षष्ठ तथा सप्तम अध्यायों में रस और भाव का जो वैज्ञानिक निरूपण प्रस्तुत किया गया है वह साहित्य-संसार मे एक अपूर्व वस्तु है। भरत का मुख्य उद्देश्य नाट्य का ही निरूपण था। इसीलिए उन्होंने नाट्य-विषयक रस का ही निरूपण विस्तार

१—द्रष्टव्य—हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ३२३ (प्र० भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग)।

के साथ इन अध्यायों में किया है। इस प्रकार रस का निरूपण नाट्य के प्रसंग मे सर्वप्रथम उपलब्ध होता है और तदनन्तर काव्य के सम्बन्ध मे रस का विवेचन पिछले आलकारिकों का प्रयास है। भारतीय आलोचकों की सम्मति है कि सर्वश्रेष्ठ कविता नाट्यात्मक ही होती है और रस भी नाट्य से संबद्ध होने के कारण 'नाट्यरस' के नाम से प्रसिद्ध होता है। नाट्य की समग्र सामग्री का उपयोग यही है कि दर्शक के हृदय में रस का उन्मीलन किया जाय क्योंकि रसोन्मेष ही नाट्य का चरम अवसान ठहरा। नाट्य मे रस की मुख्यता प्रतिपादन करने के कारण ही हम भरत को सम्प्रदाय का आद्य आचार्य मानते हैं।

रस सम्प्रदाय का मूलभूत सूत्र है—"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः।" अर्थात् विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। देखने में यह सूत्र जितना छोटा है विचार करने में यह उतना ही सारगर्भित है। भरत ने इस सूत्र पर जो भाष्य लिखा है वह बड़ा ही सरल और सुबोध है। परन्तु पीछे के टीकाकारों ने इस सीधे तथा सरल सूत्र की व्याख्या करने में अपना सारा बुद्धि-वैभव खर्च कर दिया है। किसी कमनीय काव्य के पढ़ने से तथा रमणीय नाट्य के देखने से चित्त में जो अलौकिक आनन्द उन्मीलित होता है वही रस है। इसकी व्यवस्था करने में भरत के टीकाकारों ने अपनी विशिष्ट दृष्टि से इसका विभिन्न प्रकार से अर्थ किया है। इस विषय मे पाँच मत अतीव सुप्रसिद्ध हैं। इन मतों के व्यवस्थापक आलंकारिकों के नाम हैं—(१) भट्ट लोल्लट, (२) भट्ट शकुंक, (३) भट्ट तौत, (४) भट्ट नायक तथा (५) अभिनवगुप्ताचार्य। इन प्राचीन आचार्यों के मतों का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

भट्ट लोल्लट

(१) लोल्लट रस के विषय में उत्पत्तिवादी हैं। मुख्य रूप से रस नाटक के नायक के साथ संबंध रखता है। रामायण में राम सीता से प्रेम करते हैं। सीता को देखकर उनके हृदय में एक मनोहर भाव अंकुरित होता है जो अनुकूल परिस्थितियों में पुष्ट होकर प्रेम का रूप धारण करता है। यही घटना कवि नाटक में दिखलाता है और इसी का अभिनय रंगमच पर किया जाता है। जो रस मुख्य रूप से उत्पन्न होता है वही रस राम की अवस्थाओं का अनुकरण करनेवाले नट में भी उत्पन्न होता है। इस सोत्पत्ति में विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव सम्मिलित रूप से मिलकर कारण बनते हैं। स्थायीभाव को दर्शक के हृदय में अंकुरित करने का श्रेय विभाव

को प्राप्त होता है। विभाव दो प्रकार का होता है—आलम्बन तथा उद्दीपन। नायक और नायिका शृङ्गार रस के आलम्बन हैं और ऋतु, पुष्पवाटिका, मलयानिल, पावस आदि कारण जो इसको उद्दीप्त करने में सहायक होते हैं उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। अनुभाव वह है जो अंकुरित रस का अनुभव दर्शक तथा श्रोता को कराता है—अनुभावयतीति अनुभावः। जैसे शृङ्गार रस के अनुभाव हैं–कटाक्ष-विक्षेप, अश्रुप्रवाह, वैवर्ण्य, रोमाञ्च आदि आदि। संचारी भाव कतिपय क्षण तक टिकनेवाला वह भाव है जो आता-जाता रहता है और अपनी सत्ता से स्थायी को पुष्ट किया करता है। इन तीनों के संयोग से रस की निष्पत्ति अर्थात् उत्पत्ति होती है परन्तु इन तीनों की रस के प्रति कारणता एकरूप नहीं है। विभाव के द्वारा रस उत्पन्न किया जाता है। इसलिए रस और विभाव में उत्पाद्य और उत्पादक सम्बन्ध रहता है। अनुभावों के द्वारा रस प्रतीतिगम्य होता है इसलिए रस और अनुभाव के साथ संबंध भिन्न होता है। संचारी भाव अपनी सत्ता से रस की पुष्टि करता है इसलिए रस के साथ उसका पोष्य-पोषक सम्बन्ध रहता है। इस प्रकार विभाव, अनुभाव और संचारी भाव रस के उत्पादन के प्रति भिन्न-भिन्न रूप से कारण हुआ करते हैं। इसी लिए उक्त सूत्र में संयोग एकरूप न होकर त्रिविध है तथा रस की निष्पत्ति वस्तुतः रस की उत्पत्ति है। मुख्य वृत्ति से रस नाटक के अनुकार्य राम-सीता में ही उत्पन्न होता है, परन्तु उन्हीं के रूप का अनुसन्धान करनेवाले नटादिकों को भी रस की प्रतीति होती है।

लोल्लट के पूर्वोक्त मत मे सबसे बडी त्रुटि यह है कि वह दर्शक तथा अभिनय के सम्बन्ध की व्याख्या नहीं करता। रस राम में ही वस्तुत: उत्पन्न होता है तो दर्शकों का उससे क्या सम्बन्ध है? दर्शक बिना किसी आनन्ददायक प्रयोजन के अभिनय के लिए इतने व्यग्र क्यों रहते हैं? राम को इस भारतभूमि पर अवतीर्ण हुए न जाने कितनी शताब्दियाँ बीत गईं, उन्हें इस वर्तमान अभिनय से क्या सम्बन्ध? रस राम के अनुकरण करनेवाले नट में उत्पन्न होता है तो होता रहे, दर्शकों का इससे क्या सम्बन्ध? इन प्रश्नों का यथार्थ उत्तर लोल्लट के मत से नहीं हो सकता। इसलिए शंकुक ने अपनी नयी व्यवस्था में इस त्रुटि को दूर करने का यथाशक्ति उद्योग किया है।

भट्ट शंकुक

(२) शंकुक—शंकुक रस के विषय में अनुमानवादी आलोचक हैं। वे

रस को अनुमान का विषय मानते हैं। रंगमंच के ऊपर अभिनय की कला मे चतुर तथा काव्य-नाटक में व्युत्पत्ति रखनेवाला अभिनेता नाटक के मूल पात्रों का अभिनय इतनी स्वाभाविकता तथा रोचकता से करता है कि दर्शक आनन्द में विभोर हो जाते हैं और वे उस नट को ही राम से अभिन्न समझने लगते हैं। यह अभिन्नता 'चित्रतुरगन्याय' के ऊपर आश्रित होती है। है। जिस प्रकार चित्र मे चित्रित तुरग वास्तविक गुण से भिन्न होता हुआ भी उसी की प्रतिकृति होने से भौतिक तुरग से अभिन्न माना जाता है, उसी प्रकार राम की भूमिका बाँधनेवाला नट भी राम से भिन्नाभिन्न सम्बन्ध रखता है। अतः राम मे जो रस वस्तुतः उत्पन्न होता है उसी रस का अनुमान के द्वारा अभिनयनिपुण नट मे भी आरोप किया जाता है। दर्शकमण्डली इस रस को अनुमान के बल पर ग्रहण करती है तथा आनन्द उठाती है। इस प्रकार भरत के सूत्र मे 'संयोगात्' शब्द का अर्थ है अनुमानात् एवं 'निष्पत्ति' का अर्थ है अनुमिति। यह अनुमिति नैयायिक अनुमान से भिन्न है। नैयायिक अनुमान तथ्यप्रतिपादक होने पर भी रूखा, सूखा तथा नीरस होता है परन्तु यह रसानुमान उससे नितान्त विलक्षण होता है और आनन्दोत्पादक होता है। इस मत मे अनुकरण के बल पर नट मे रस का अनुमान किया जाता है तथा अनुमानकर्त्ता दर्शक को भी उससे आनन्द मिलता है। इस प्रकार शंकुक का मत है कि रस अनुकरण रूप होता है।

भट्ट तौत

(३) भट्ट तौत ने इस मत का खण्डन बड़े विस्तार के साथ किया है[1]। अभिनवभारती मे अभिनवगुप्त ने अपने गुरु भट्ट तौत को शंकुक के मत का प्रबल विरोधी बतलाया है। अनुमान की शास्त्रीय पद्धति के भीतर रस-निष्पत्ति का कथमपि निर्वाह नहीं हो सकता। अनुमान हेतु की विशुद्धि पर आश्रित रहता है, परन्तु रस के उन्मीलन के अवसर पर हेतु की सत्ता होने पर भी उसकी शास्त्रीय विशुद्धि की कमी ही रहती है। यथार्थ अनुमान की सिद्धि के लिए 'हेतु' के त्रिरूप होने की सर्वदा आवश्यकता रहती है। हेतु के तीन रूप इस प्रकार हैं—(१) पक्षे सत्ता अर्थात् अनुमान के विषयभूत पक्ष में उस हेतु

१—तेन रतिरनुक्रियमाणा शृङ्गार इति तदात्मकत्वं तत्प्रभवत्वं च युक्तम् ......तदिदमप्यन्तस्तत्त्वशून्यं न विमर्दक्षममित्युपाध्यायाः (भट्टतौताः)। अभिनवभारती, प्रथम खण्ड, पृ० २७५

का अस्तित्व; (२) सपक्षे सत्ता (पक्षके सदृश वस्तुओं में हेतु का अस्तित्व); (३) विपक्षाद् व्यावृत्तिः (पक्ष से भिन्न पदार्थों से हेतु का निरास)। इन तीनों गुणों की सत्ता होने पर ही हेतु से किसी अनुमान की सिद्धि अनिवार्यरूपेण होती है। यह शास्त्रीय नियम है। परन्तु इसका पालन साहित्य की रसानुमिति मे कथमपि नहीं हो सकता। इसलिए भट्ट तौत रस की अनुमिति कथमपि स्वीकार नहीं करते।

इस मत में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि अनुमान कथमपि आनन्ददायक नहीं हो सकता। अनुमान का प्रयोग तत्त्वबोध के लिए किया जाता है विशेष रूप से। किसी सिद्धान्त पर पहुँचने के लिए अनुमान सहायक होता है और उसका तात्पर्य इतना ही है कि अनुमान का सहारा लेकर किसी तथ्य का निरूपण किया जाय। धूम की सत्ता देखकर किसी पर्वत मे निश्चित रूप से अग्नि का अस्तित्व बतलाना अनुमान का उद्देश्य है। परन्तु रसोद्बोध के प्रसंग में इस तात्पर्य की सिद्धि का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता। फलतः रस को अनुमान का विषय मानना कथमपि उपयुक्त नहीं प्रतीत होता।

दर्शक के हृदय में आनन्दोद्बोध की किंचित् व्याख्या होने पर भी यह मत असली सिद्धान्त से बहुत दूर पड़ता है। नट के द्वारा प्रदर्शित विभाव, अनुभाव तथा संचारी भाव के प्रदर्शन से जिस रस का अनुमान दर्शक करता है वह रस तो मूलतया नट मे ही रहता है। दर्शक को इस अनुमान से यत्किञ्चित् ही लाभ होता है परन्तु अनुमान उस कोटि का आनन्द कभी भी नहीं उत्पन्न कर सकता जिसकी रसावेश के समय संभावना मानी जाती है। भट्ट तौत के खण्डन की यही दिशा है।

भट्ट नायक

(४) **भट्ट नायक**—इन्होंने रस की व्याख्या मे दर्शक के महत्त्व को भली भाँति अपनाया है। ये रस को न तो उत्पन्न मानते हैं, न उसकी प्रतीति स्वीकार करते हैं और न उसकी व्यक्ति मानते हैं। प्रत्युत इन तीनों से विलक्षण रस की भुक्ति पर ही इनका आग्रह है। अतः ये **भुक्तिवादी** आचार्य हैं। काव्य में व्यापार ही मुख्य होता है। इस व्यापार के तीन रूप होते हैं—(१) **अभिधा, (२) भावकत्व, (३) भोजकत्व**। अभिधाके द्वारा शब्द अर्थ की प्रतीति कराता है। भावकत्व का अर्थ है साधारणीकरण। इस व्यापार के बल पर नाट्य में अभिनीत पात्र अपने ऐतिहासिक तथा व्यक्तिगत निर्देश को छोडकर

सामान्य व्यक्ति के रूप में ही ग्रहण किया जाता है । अभिज्ञान-शाकुन्तल नाटक का नायक दुष्यन्त हस्तिनापुर का चन्द्रवंशी राजा न होकर सामान्य रूप से एक शौर्य-मण्डित नेता के रूप में ही गृहीत किया जाता है । यह भावकत्व व्यापार के बल पर ही संभव होता है । भोजकत्व व्यापार के द्वारा दर्शक रस का भोग करता है तथा इस अवसर पर उसके हृदय में राजस तथा तामस भावों को सर्वथा दबाकर सात्त्विक भाव का ऐकान्तिक उदय हो जाता है । सात्त्विक भाव के उदय होने पर ही रसभुक्ति की दशा उत्पन्न होती है । इस मत के अनुसार सूत्र में 'संयोग' का अर्थ है भोज्य-भोजक या भाव्य-भावक संबंध तथा निष्पत्ति का अर्थ है भुक्ति ।

इस मत में सबसे महत्त्व का तथ्य यह है कि यह दर्शक की दृष्टि से रस की व्याख्या करता है । यह भली भाँति समझाता है कि अभिनय के देखने से या किसी काव्य के पढ़ने से द्रष्टा या श्रोता के हृदय मे रस का उद्बोध क्यों तथा किस प्रकार होता है । भट्ट नायक का यह मत रस की मनोवैज्ञानिक व्याख्या के बहुत कुछ अनुकूल है । परन्तु इसमे आपत्ति की बात यही है कि इन्होंने शब्द के त्रिविध व्यापार की मनमानी कल्पना कर रखी है । 'अभिधा' व्यापार तो सर्वसम्मत है । परन्तु भावकत्व तथा भोजकत्व की कल्पना के लिए उनके पास क्या आधार है ? स्वेच्छया शब्द-व्यापार की कल्पना उन्मत्त-प्रलाप के समान ही निन्दनीय तथा अमान्य होती है । अतः अलंकार-शास्त्र मे इन नवीन दो व्यापारों को मानना एकदम अनावश्यक है । इसी लिए आलोचकगण इस मत में विशेष श्रद्धा नहीं रखते ।

अभिनवगुप्त

(५) **अभिनवगुप्ताचार्य**—ये रस के विषय में **व्यञ्जनावादी** हैं । इनके मत से भरत सूत्र 'विभावानुभाव' में संयोग का अर्थ है व्यंग्यव्यञ्जकभाव तथा रसनिष्पत्ति का अर्थ है रस की अभिव्यक्ति या रस की व्यंजना । इनके अनुसार प्रत्येक श्रोता या वक्ता में स्थायी भाव—प्रेम, शोक, क्रोधादि—वासना रूप से विद्यमान रहता है । यह वासना पूर्वजन्म के संस्कारों से उत्पन्न होती है या इसी जन्म के काव्यादि के सेवन से प्रादुर्भूत होती है । परन्तु संस्कार रूप से यह रहती है अवश्य प्रत्येक द्रष्टा या श्रोता के हृदय में । विभाव, अनुभाव और संचारी भाव के द्वारा इस स्थायी भाव की अभिव्यंजना होती है । ये भाव सामान्य रूप मे ही गृहीत होते हैं । ललित वस्तुओं के गुणग्रहण के

अवसर पर प्रत्येक पदार्थ साधारण रूप से ही तथा संबंध-रहित होकर ही स्वीकृत किया जाता है। किसी वाटिका में लगे हुए गुलाब के फूल को देखिए। उसकी शोभा देखते हुए जब आपका चित्त आह्लादित होता है तब आपकी उसके प्रति कौन-सी भावना होती है; उसे यदि आप अपना समझते तो उसे तोड़ने के लिए आगे बढ़ते। शत्रु का समझते तो उससे द्वेष उत्पन्न होता। यदि किसी तटस्थ व्यक्ति का समझते तो उससे विरक्ति उत्पन्न होती। फलतः यह गुलाब का सुन्दर फूल न तो आपका है, न तो आपके शत्रु का है, और न किसी उदासीन व्यक्ति का है[1]। इस विषय में संबंध के ग्रहण तथा परित्याग की कोई बात ही नहीं उठती। गुलाब एक सुन्दर फूल है। वह सुन्दर वस्तु का प्रतिनिधि है। ललित कला के विषय में साधारणीकरण का यही भाव सर्वत्र जागरूक रहता है। अभिनवगुप्त ने इस सामान्य नियम का प्रयोग रस की मीमासा के अवसर पर किया है। रस के उद्बोधक जितने भाव हैं, वे सामान्य रूप मे ही गृहीत होते हैं और तभी रस की अभिव्यक्ति सभव है। रस की अभिव्यक्ति के समय भी अनुभवकर्त्ता अपने आपको भी सामान्य रूप में ही ग्रहण करता है। अनुभव के समय वह समझता है कि जितने सहृदय हैं उनके हृदय में उस रस की अनुभूति समान रूप से होती है।

रस आनन्द रूप है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जो वस्तु संसार में भय या शोक भी उत्पन्न करती है या क्रोध का कारण बनती है वही वस्तु काव्य मे वर्णित होते ही अलौकिक रूप धारण कर लेती है और इसी लिए वह आनन्द का उद्बोधन करती है। व्यक्तिवादी अभिनवगुप्त का संक्षेप में यही मत है तथा अधिक मनोवैज्ञानिक होने के कारण आज का सुधी-समाज इसी मत को स्वीकार करता है। रस एक अलौकिक वस्तु है; लोक से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यही इस मत का सार है।

रससंख्या

रसों की संख्या के विषय में आलंकारिकों में मतभेद दीख पड़ता है।

१—परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते॥
(साहित्य-दर्पण—३।१२)

भरत ने आठ रस कहे हैं[1]— (१) शृङ्गार, (२) हास्य, (३) करुण, (४) रौद्र, (५) वीर, (६) भयानक, (७) बीभत्स, (८) अद्भुत। कुछ लोग 'शान्त' को नवम रस मानते हैं। परन्तु भरत तथा धनञ्जय ने नाटक में शान्तरस की स्थिति एकदम अस्वीकार की है[2]। इस अस्वीकृति का कारण यह है कि नाटक अभिनय के द्वारा ही प्रदर्शित किया जाता है और इस अभिनय का प्राण है कार्य की बहुलता। परन्तु शान्तरस है, सब कार्यों का उपशम रूप। ऐसी दशा मे शान्तरस का प्रयोग नाट्य मे कैसे हो सकता है! काव्य मे उसकी सत्ता अवश्य विद्यमान रहती है। आनन्दवर्धन के अनुसार महाभारत का मुख्य रस शान्त ही है। रुद्रट ने 'प्रेयान्' नामक दशम रस माना है (काव्यालंकार १२।३)। विश्वनाथ कविराज वात्सल्य को नवीन रस मानने के पक्षपाती हैं। गौड़ीय वैष्णवों की सम्मति में मधुर रस ही सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वप्रथम रस है।

साहित्य में रसमत की महत्ता है। लौकिक संस्कृत का प्रथम श्लोक, जो क्रौञ्चवध से मर्माहत हुए महर्षि वाल्मीकि को स्फुरित हुआ था, रसमय ही था। इस रस को सब सम्प्रदायों ने अपनाया है। परन्तु अपने मत के अनुसार इसे अपने ग्रन्थों मे ऊँचा-नीचा स्थान दिया है। ध्वनिवादी आचार्यों ने काव्य मे रस को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। ध्वनि तीन प्रकार की होती है—वस्तुध्वनि, अलकारध्वनि और रसध्वनि। इन तीनों प्रकार की ध्वनियों में 'रसध्वनि' ही मुख्य तथा महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। भोजराज ने समस्त वाङ्मय को तीन भागों में बाँटा है—(१) स्वभावोक्ति, (२) वक्रोक्ति और (३) रसोक्ति। इन तीनों में रसोक्ति को ही वे काव्य में मुख्य मानते हैं। इस प्रसंग में भोज का रसविषयक मत भी कम महत्त्व नहीं रखता। वे शृङ्गार रस को सब रसों मे आदिम रस मानते हैं[3]। शृङ्गार अभिमान या अहंकार रूप

१—शृङ्गारहास्यकरुणे रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः॥

—नाट्यशास्त्र ६।१५

२—शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।

—दशरूपक ४।३५

३—शृंगार वीरकरुणाद्भुत रौद्रहास्य-
बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः।

होता है। इस मत को सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने विपुलकाय शृङ्गार-प्रकाश नामक ग्रन्थ की रचना की है। विश्वनाथ कविराज भी रसवादी हैं। इन्होंने रस को ही काव्य की आत्मा माना है। इनका सुप्रसिद्ध काव्यलक्षण है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**। विश्वनाथ ने 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आनन्ददायक होने के कारण भाव, भावाभास, रसाभास आदि सभी को उन्होंने उसके अन्तर्गत रखा है। इस प्रकार उन्होंने रस का व्यापक अर्थ स्वीकार कर रस को ही समस्त काव्यों का मूलभूत तत्त्व अंगीकार किया है।

रुद्र भट्ट ने भरत के मतानुसार रस को ही काव्य की आत्मा माना है। अग्निपुराण ने काव्य में वक्रोक्ति-जन्य चमत्कार के प्रधान होने पर भी रस को ही काव्य का जीवन माना है—**वाक्-वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्** (३३६।३३)। राजशेखर ने काव्यमीमांसा (पृ० ६) में रस को काव्य की आत्मा माना है। यह मत शौद्धोदनि को भी मान्य है—**अलंकारस्तु शोभायां रस आत्मा परे मनः**। (अलंकार शेखर पृ० ६)।

२—अलंकार-सम्प्रदाय

अलंकार मत के प्रवर्तक आलंकारिक भामह हैं तथा इस मत के पोषक हैं भामह के टीकाकार उद्भट। दण्डी, रुद्रट एवं प्रतिहारेन्दुराज भी इसी मत के अनुयायी हैं। दण्डी के मत में काव्य के पोषक अंगों को अलंकार शब्द के द्वारा पुकारा जाता है। रुद्रट तथा प्रतिहारेन्दुराज ने भी अपने ग्रन्थों में अलंकार को ही प्रधानता दी है। इस सम्प्रदाय के अनुसार अलंकार ही काव्य का जीवातु है। अग्नि की उष्णता के सदृश अलंकार काव्य का प्राणाधायक तत्त्व है। अग्नि को उष्णता रहित मानना जिस प्रकार उपहासास्पद है उसी प्रकार अस्वाभाविक है काव्य को अलंकारहीन मानना। मम्मट के काव्य-लक्षण के खण्डनकर्ता जयदेव ने इस सम्प्रदाय का हृदय रख दिया है जब वे कहते हैं कि **जो विद्वान् अलंकार से हीन शब्द और अर्थ को काव्य मानता है वह अग्नि को भी अनुष्ण (शीतल) क्यों नहीं**

आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वयं तु
शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनामः ॥
शृंगारप्रकाशः—प्रथम प्रकाश

मानता ? अलंकारहीन काव्य और अनुष्ण अग्नि एक ही कोटि की चीजें हैं जिसे केवल पागल ही सच्चा मान सकता है—

> अङ्गीकरोति यः काव्य शब्दार्थावनलंकृती ।
> असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलं कृती ॥
>
> —चन्द्रालोक १।८

रुय्यक की स्पष्ट सम्मति है कि प्राचीन आलंकारिकों के मत से अलंकार ही काव्य में प्रधान होते हैं—

> **तदेवमलंकारा एव काव्ये प्रधानमिति प्राच्यानां मतम् ।**
>
> —अलंकार-सर्वस्व पृ० ७

अलंकारों का विकास धीरे-धीरे होता आया है । भरत के नाट्यशास्त्र में चार ही अलंकारों का नाम-निर्देश मिलता है—अनुप्रास, उपमा, रूपक और दीपक । अतः साहित्य के मूलभूत अलंकार ये ही चार हैं, जिनमे से एक तो है शब्दालंकार और तीन हैं अर्थालंकार । इन्हीं चार अलंकारों से विकसित तथा परिवर्धित होकर अलंकारों की संख्या कुवलयानन्द मे १२५ तक पहुँच गई है । कालक्रम से अलंकारों की सख्या के समान उनके स्वरूप मे भी पर्याप्त अन्तर पड़ता गया है । उदाहरण के लिए 'वक्रोक्ति' अलंकार को लीजिए । भामह से लेकर कुन्तक तक वक्रोक्ति का मनोरम विकास भारतीय आलोचकों के चिन्तन का फल है । आद्य आलंकारिक भामह वक्रोक्ति को अलंकारों का जीवनाधायक तत्त्व मानते हैं । वे ऐसे अलंकार की कल्पना ही नही कर सकते जो वक्रोक्ति से रहित हो । उनका कथन नितान्त स्पष्ट है—

> **सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।**
> **यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना ॥**
>
> **काव्यालंकार २।८५**

वामन ने इसी को अर्थालंकार माना है और रुद्रट ने इसे शब्दालंकार स्वीकार किया है । अलंकारों का अनुशीलन हमे इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि अलंकार सम्प्रदाय के आचार्यो ने अलंकारों के विवेचन में बड़ी ही मौलिकता दिखलाई है । वे लकीर के फकीर न होकर सर्वत्र मौलिक गवेषक के रूप में हमारे सामने आते हैं ।

आलंकारिकों ने अलंकारों के विभाजन के अवसर पर उनके मूल तत्त्वों पर भी विचार किया है । अलंकारों के विभाग के लिए उन्होंने कतिपय सिद्धात भी

निश्चित किये हैं। इसका संकेत पहले-पहल हमें रुद्रट के काव्यालंकार मे मिलता है। उन्होंने ही सर्वप्रथम औपम्य, वास्तव, अतिशय और श्लेष को अलंकार-विभाजन का मूल कारण माना है। यह विभाजन उतना वैज्ञानिक न होने पर भी एक मौलिक विचार की सूचना देता है। इस विषय में 'एकावलीकार' विद्याधर का निरूपण बडा ही युक्तियुक्त और वैज्ञानिक है जिन्होंने औपम्य, विरोध, तर्क आदि को अलंकारों का मूल विभेदक मानकर इस विषय की बड़ी सुन्दर समीक्षा की है। इस सम्प्रदाय के प्राचीनत्व तथा महत्त्व का परिचय इसी घटना से लगता है कि इसी के नाम पर ही हमारा समस्त आलोचनाशास्त्र ही 'अलंकारशास्त्र' के नाम से अभिहित किया जाता है।

महत्त्व

अलंकार मत को माननेवाले आचार्यों को रस का तत्त्व अज्ञात नहीं था परन्तु उन्होने इसे स्वतन्त्र स्थान न देकर काव्य के प्राणभूत अलकार का ही एक प्रकार माना है। विशेषकर रसवत्, प्रेयः, उर्जस्वी तथा समाहित अलंकारों के भीतर रस और भाव का समग्र विषय इन आलंकारिकों ने अन्तर्निविष्ट कर दिया है। भामह को महाकाव्य मे रसों की आवश्यक स्थिति मान्य है[1]। उन्होंने प्रेय, रसवत् आदि अलकारों के द्वारा रस के समग्र विषय का उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया है। वे स्पष्ट लिखते हैं कि जहाँ श्रृंगारादि रसों की प्रतीति स्पष्ट रूप से होती है वहाँ रसवत् अलंकार की सत्ता नहीं मानी जा सकती[2]।

दण्डी भी रस तत्त्व से परिचित हैं और रसवत् अलंकार के भीतर इन्होंने आठों रस और आठ स्थायी भावों का निर्देश किया है[3]। वे माधुर्य गुण के अन्तर्गत भी रस का समावेश मानते हैं[4]। अतः दण्डी को रसतत्त्व से अपरिचित

१—युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।

भामह—काव्यालंकार १।२१

२—रसवद् दर्शितस्पष्ट-श्रृङ्गारादि रसं यथा।
देवी समागमद् धर्ममस्करण्यतिरोहिता॥

—काव्यालंकार ३।६

३—इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम्। —काव्यादर्श २।२९२
प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः श्रृंगारतां गता। —वही २।२८१।

४—मधुरं रसवद्वाचि वस्तुन्यपि रसस्थितिः। —वही १।५१।

मानना नितान्त अनुचित है। उद्भट ने भी रसवत् अलंकार के निरूपण के अवसर पर स्थायी भाव, संचारी भाव, जैसे पारिभाषिक शब्दों का उल्लेख ही नहीं किया है प्रत्युत रस की नवप्रकारता मानी है[1]। रुद्रट भी काव्य में रस का निवेश विशेष यत्न से करने का उपदेश देते हैं[2]। इन सब उल्लेखों का यही आशय है कि भामह, दण्डी, उद्भट तथा रुद्रट जैसे अलंकार सम्प्रदाय के मान्य आचार्य रसतत्त्व की महत्ता से पर्याप्त परिचित हैं, परन्तु उसे अलंकार का ही एक रूप मानते हैं। अलंकारवादी आचार्य अपने सिद्धान्त से कथमपि च्युत नहीं हो सकता।

अलंकार और ध्वनि

इतना ही नहीं, इन आलंकारिकों को काव्य मे प्रतीयमान अर्थ की भी सत्ता किसी रूप में अज्ञात न थी। रुय्यक की स्पष्ट समीक्षा है कि भामह तथा उद्भट प्रभृति अलंकारवादी आचार्यों ने प्रतीयमान (व्यंग्य) अर्थ को वाच्य का सहायक मानकर उसे अलंकार के भीतर ही अन्तर्भुक्त किया है[3]। एकावली की टीका 'तरला' मे मल्लिनाथ भामह प्रभृति आचार्यों को ध्वनि के अभाव का प्रतिपादक आचार्य मानते हैं[4] परन्तु उन्हें ध्वन्यभाववादी मानना उचित नहीं प्रतीत होता। वे ध्वनि के सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। वे प्रतीयमान अर्थ को न तो काव्य की आत्मा मानते हैं और न ध्वनि तथा गुणीभूत व्यंग्य जैसे पदों का अपने अलंकार-ग्रन्थों में प्रयोग करते हैं परन्तु वे प्रतीयमान अर्थ से कथमपि अपरिचित नहीं हैं। इन्होंने अप्रस्तुत प्रशंसा, समासोक्ति तथा आक्षेप के भीतर प्रतीयमान अर्थ के अनेक प्रकारों को अन्तर्निविष्ट कर लिया है। भामह ने समासोक्ति अलंकार के लक्षण

१—रसवद्दर्शितस्पष्ट श्रृंगारादिरसादयम्।

उद्भट—काव्यालंकार ४

२—तस्मात्तत् कर्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।

रुद्रट—काव्यालंकार १२।२

३—इह तावत् भामहोद्भटप्रभृतयश्चिरन्तनालंकारकाराः प्रतीयमान-मर्थं वाच्योपस्कारकतया अलंकारपक्षनिक्षिप्तं मन्यन्ते।

रुय्यक—अलंकार सर्वस्व पृ० ३

४—अभाव एव ध्वनेरिति भामहप्रभृतयो मन्यन्ते।

—तरला पृ० २५

में स्पष्ट लिखा है कि यह अलंकार वहीं होता है जहाँ किसी वस्तु के वर्णन होने पर तत्समान विशेषणवाले अन्य अर्थ की प्रतीति होती है[1]। आक्षेप अलंकार की भी यही दशा है। इसमे भी किसी न किसी प्रतीयमान अर्थ की कल्पना इन्हें अवश्य स्वीकृत है। इसी प्रकार पर्यायोक्त अलंकार के भीतर भी वाच्यवाचकवृत्ति से व्यतिरिक्त अन्य प्रकार से अभिहित किए गए समग्र अर्थों का ग्रहण भामह को अभीष्ट है[2]। इस प्रकार पर्यायोक्त अलंकार के भीतर ध्वनि की कल्पना इन आलंकारिकों को किसी न किसी रूप में मान्य है।

अलंकार-सम्प्रदाय में प्रतीयमान अर्थ के विवेचन का अभाव रुद्रट को इतना खटका कि उन्होंने 'भाव' नामक एक नवीन अलंकार की कल्पना कर डाली। इसका उदाहरण वही कमनीय पद्य है[3] जिसे मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश मे गुणीभूत व्यंग्य का दृष्टान्त मानकर उद्धृत किया है[4]। रुद्रट ने भाव-अलंकार का एक दूसरा भी प्रकार माना है। इसके उदाहरण को (७।४०) अभिनवगुप्त ने लोचन में उद्धृत किया है[5] और दिखलाया है कि इसमें प्रतीयमान अर्थ की सत्ता अवश्य विद्यमान है परंतु यह अर्थ स्वतंत्र न होकर उपकारक होने के कारण वाच्य की अपेक्षा गौण है। ऐसी दशा मे हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अलंकारवादी रुद्रट को व्यंग्य का सिद्धान्त

१—यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योर्थस्तत्समानविशेषणः।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥

भामह—काव्यालंकार—२।७९

२—पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना॥

वही—३।८

३—ग्रामतरुणं तरुण्या नववञ्जुलमंजरीसनाथकरम्।
पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरां मलिना मुखच्छाया॥

रुद्रट—काव्यालंकार—७।३८

४—मम्मट-काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास।

५—एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहं
अस्मिन् गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।
किं याचसे यदिह वासमियं वराकी,
श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ ! पान्थ ! ॥

लोचन पृ० ४५

सर्वथा मान्य था। इन आलंकारिकों को हम आनन्दवर्धन के द्वारा वर्णित 'अन्तर्भाववादी' आचार्यों में अन्तर्भुक्त कर सकते हैं जिनकी सम्मति में प्रतीयमान अर्थ स्वतंत्र न होकर अलंकार-विशेष में अन्तर्भुक्त किया जाता था।

दण्डी और भामह ने अलंकार का जो महत्त्व काव्य में स्वीकार किया वह किसी न किसी मात्रा मे पिछले युग तक चला ही गया। ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि को महत्त्व देकर भी अलंकार के वर्णन में उदासीनता नहीं दिखलाई। मम्मट ध्वनिवादी आचार्य हैं। परन्तु इन्होंने अपने ग्रन्थ में अलंकारों का जो प्रशस्त तथा विस्तृत निरूपण किया है वह किसी भी अलकारवादी आचार्य के वर्णन से किसी प्रकार कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। इतना ही नहीं, अपने काव्य-लक्षण मे भी उन्होंने अलंकार को स्थान दिया है चाहे वह स्थान गौण ही क्यों न हो।

३—रीति-सम्प्रदाय

रीति-मतके प्रधान प्रतिपादक हैं **आचार्य वामन**। दण्डी ने भी रीतियों के वर्णन में बहुत सा स्थान तथा समय लगाया है, परन्तु वामन के ग्रन्थ में रीति का जो महत्त्व दिखलाई पड़ता है वह किसी भी आलंकारिक के ग्रन्थ मे नहीं दीख पड़ता। उनके सिद्धान्त की महनीयता का पता इसी से लग सकता है कि उन्होंने बलपूर्वक रीति को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया है—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। यह रीति है क्या वस्तु? वामन कहते हैं कि **पदों की विशिष्ट रचना ही रीति है**। पदों में वैशिष्ट्य गुणों के कारण ही उत्पन्न होता है, गुणों के अभाव मे पद एक सामान्य रूप मे ही स्थित रहते हैं। अतः रीति गुणों के ऊपर अवलम्बित रहती है—**विशिष्टा पदरचना रीतिः, विशेषो गुणात्मा**। इसी लिए रीति सम्प्रदाय गुण-सम्प्रदाय के नाम से पुकारा जाता है।

गुणों के सर्वप्रथम वर्णनकर्ता हैं भरत मुनि। उन्होंने दश प्रकार के काव्यार्थ गुणों का वर्णन नाट्यशास्त्र में किया है[1] जिनके नाम हैं श्लेष,

---

१—श्लेषः प्रसादः समता समाधिः,
माधुर्यमोजः पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च,
कान्तिश्च काव्यार्थगुणा दशैते॥

प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सुकुमारता, अर्थव्यक्ति, औदार्य तथा कान्ति। रुद्रदामन् के गिरनार शिलालेख मे (१५० ई०) भी माधुर्य, कान्ति तथा उदारता जैसे काव्यगुणों का उल्लेख स्पष्टतः किया गया है। भरत के द्वारा निर्दिष्ट गुणों को दण्डी ने स्वीकार किया है। परन्तु भरत से उनकी व्याख्या मे अनेक स्थलों पर अन्तर है। दण्डी ने गुणों मे शब्दगत अथवा अर्थगत किसी प्रकार का विभेद स्वीकार नहीं किया है। वे इन दश गुणों को केवल वैदर्भ मार्ग (वैदर्भी रीति) का प्राणभूत मानते हैं और गौड़ी रीति मे इन गुणों मे से कतिपय गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं[1]। अर्थ-व्यक्ति, उदारता तथा समाधि गुणों की आवश्यकता वैदर्भ मार्ग तथा गौड़ मार्ग दोनों को स्वीकार है। अतः दोनों रीतियों में इनका रहना आवश्यक है। परन्तु वैदर्भी रीति में अन्य सातों गुणों की सत्ता रहती है और गौड़ी रीति में उनके विपर्यय की।

वामन ने भी इन पूर्वोक्त दश गुणों—श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओज, सौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति—को स्वीकार किया है परन्तु उनकी व्याख्या एकदम नवीन और मौलिक है। वे गुणों का दो प्रकार (द्वैविध्य) स्वीकार करते हैं। गुण दो प्रकार के होते हैं—शब्दगत तथा अर्थगत। इस विभाजन मे गुणों के नाम में तो अन्तर नहीं है परन्तु उनकी कल्पना में पर्याप्त पार्थक्य है। शब्दगत गुणों के अर्थगत होते ही महान् अन्तर पड़ जाता है। उदाहरण के लिए माधुर्य की द्विविध कल्पना पर ध्यान दीजिए। शब्दगुण माधुर्य का अर्थ है—पृथक् पदत्वम्—अर्थात् वाक्य में पदों का पृथक्-पृथक् होना। यह तभी संभव है जब लम्बे-लम्बे समास न रखकर अलग-अलग पदों का प्रयोग किया जाय। परन्तु अर्थगुण माधुर्य वह है जिसमें उक्ति की विचित्रता विद्यमान हो—उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। जहाँ अर्थ का उत्कर्ष दिखलाने के लिए उसका सामान्य रूप से निर्देश न करके विचित्र भंगी से वर्णन किया जाय वहाँ अर्थगत माधुर्य होगा। उदाहरण के लिए यह श्लोक देखिए—

> **रसवदमृतं, कः सन्देहो मधून्यपि नान्यथा**
> **मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।**

१—इति वैदर्भमार्गस्य प्राणाः दशगुणाः स्मृताः।
एषां विपर्ययः प्रायो दृश्यते गौडवर्त्मनि॥

काव्यादर्श १।४२

सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविद् जनो,
वदतु यदिहान्यत् स्वादु स्यात् प्रियादशनच्छदात् ॥

वामन—काव्यालंकार ३-२-११

यहाँ कवि का अभिप्राय इतना ही है कि कामिनी का अधर संसार की समस्त मधुर वस्तुओं में अनुपम है। परन्तु इस अर्थ को भंगी से वर्णन करता हुआ वह पूछ रहा है कि अमृत रसवत् होता है इसमें तनिक भी सन्देह नहीं, मधु भी इससे भिन्न नहीं होता। आम का भी सरस फल अवश्य ही अधिक मधुर होता है। परन्तु रसान्तर को जाननेवाला कोई भी मध्यस्थ पुरुष बतलावे कि इस जगत् में प्रिया के अधर से बढ़कर कोई वस्तु स्वादु है?

गुण के विषय में वामन का मत अन्य आलंकारिकों को मान्य नहीं हो सका। इनके पहले ही भामह ने दश गुणों के स्थान पर इन्हीं तीन गुणों—माधुर्य, ओज, प्रसाद की कल्पना स्वीकार की थी[1]। इसी पक्ष या मत का अवलम्बन पिछले आलंकारिकों ने किया। मम्मट, हेमचन्द्र, विश्वनाथ कबिराज आदि ने गुणों की संख्या तीन ही मानी है और यह दिखलाया है कि या तो अन्य गुणों का इसी में अन्तर्भाव होता है या वे दोषाभाव रूप हैं अथवा कहीं-कहीं वे गुण न होकर दोष ही हो जाते हैं। वामन के मार्ग का अवलम्बन केवल भोजराज ने किया है। इन्होंने गुणों के विभाजन तथा स्वरूप दोनों में विशेष अन्तर किया है। भोजराज ने गुणों के तीन भेद माने हैं—बाह्यगुण, आन्तरगुण तथा वैशेषिक गुण। गुणों की संख्या भी दस से बढाकर चौबीस कर दी गई है (सरस्वतीकण्ठाभरण १।५८–६५)

रीति का प्राचीन नाम मार्ग या पन्था है। इसकी कल्पना अलंकार शास्त्र के आदिम युग में भामह से पूर्वकाल में कभी न कभी अवश्य हुई होगी। वैदर्भ मार्ग काव्य का एक रमणीय मार्ग माना जाता था तथा गौड़ीय मार्ग निन्दनीय था। परन्तु स्वतन्त्रमार्गी भामह ने इस विचारधारा की निन्दा की है। उनका स्पष्ट कथन है कि हमें न तो वैदर्भ मार्ग की प्रशंसा करनी चाहिए और न गौड़ीय की निन्दा, प्रत्युत काव्य के शोभन गुणों की ही ओर ध्यान देना चाहिए। ये गुण हैं वक्रोक्ति से युक्तता, पुष्टार्थता, अग्राम्यता, अर्थ-सम्पन्नता आदि। मार्ग का विचार बिना किये हुए इन गुणों की जहाँ विद्यमानता रहेगी वहीं कमनीय काव्य होगा, चाहे वह मार्ग वैदर्भ हो या गौड़ीय हो। भामह के इस प्रतिवाद से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि उनके समय

१—भामह—काव्यालकार २।१–३

के आलंकारिक वैदर्भ मार्ग को स्पृहणीय मानते थे और गौडीय मार्ग को गर्हणीय। भामह ने इसी अन्ध परम्परा का प्रतिवाद किया है[१]। दण्डी में इन दोनों गुणों का बड़ा ही विस्तृत विवेचन किया गया है। वे वैदर्भ मार्ग को ही पूर्वोक्त दशों गुणों से युक्त मानते हैं और गौड़ीय मार्ग मे कतिपय गुणों को छोड़कर अन्य गुणों का विपर्यय स्वीकार करते हैं। फलतः दण्डी की दृष्टि में वैदर्भ मार्ग ही कवियों के लिए आदर्श रूप से अनुकरणीय मार्ग है और गौडीय मार्ग नितान्त हेय तथा अस्पृहणीय है। उन्होंने रीति का निर्देश गुण के आधार पर नहीं किया है। वामन के पूर्व रीति के विषय में यही कल्पना अलंकार-जगत् में प्रचलित थी।

वामन ने दण्डी की अपेक्षा काव्य की कल्पना को बड़े ही दृढ आधार पर निर्मित किया है। काव्य की आत्मा को खोज निकालनेवाले वे सर्वप्रथम आलंकारिक हैं। काव्य की आत्मा उनकी दृष्टि में रीति है[२], अन्य गुण नहीं—**रीतिरात्मा काव्यस्य**। दो रीतियों के स्थान पर वे तीन रीतियाँ मानते हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली।

वैदर्भी रीति में समग्र दश गुणों की सत्ता विद्यमान रहती है। गौड़ीय रीति में केवल ओज और कान्ति गुण रहते हैं तथा पाञ्चाली में माधुर्य और सौकुमार्य। पिछले आलंकारिकों ने इस संख्या को बहुत ही बढ़ा दिया है। राजशेखर ने कर्पूरमञ्जरी के मंगल श्लोक में इन तीन रीतियों का उल्लेख किया है—**वच्छोमी** (वैदर्भी), **मागधी** तथा **पाञ्चालिका** (पाञ्चाली)। रुद्रट ने **लाटीया** को भी नई रीति मानकर रीतियों की संख्या चार कर दी है। भोज ने **आवन्ती**, **मागधी** और **लाटी** की नई वृत्तियों को मानकर रीतियों की संख्या वामन की अपेक्षा दुगुनी (छः) कर दी है। इतना होने पर भी वामन के द्वारा उद्भावित तीन ही रीतियों का काव्य-जगत् में आज भी प्रचलन है[३]।

१—अलंकारवदग्राम्यमर्थ्यं न्याय्यमनाकुलम्।
गौडीयमपि साधीयो, वैदर्भमिति नान्यथा॥

भामह—काव्यालंकार १।३५

२—वामन—काव्यालंकार—१।२।६

३—इस विषय का विशेष वर्णन देखिए—
बलदेव उपाध्याय—भारतीय साहित्य-शास्त्र भाग २, पृ० १३५–२४०

वामन ने अलंकारों को गुणों से पृथक् मानकर उनकी सुन्दर विवेचना की है। प्राचीन आलंकारिकों मे वामन ही सबसे कम अलंकारों का निर्देश करते हैं। उपमा का महत्त्व तो भामह ने भी स्वीकार किया है और पिछले आलंकारिकों ने सादृश्यमूलक या औपम्यगर्भ अलंकारों का उसे ही मूल माना है। अतः उपमा को अलंकार-जगत् मे सर्वप्रथम अलंकार मानने में कोई आपत्ति नही है। परन्तु वामन ने सब अलकारों को ही उपमा पर अवलम्बित माना है। अतः वामन उन्हे 'उपमा-प्रपञ्च' के नाम से अभिहित करते हैं। इसी कारण से कतिपय अलंकारों के जो लक्षण उन्होंने दिये हैं वे अन्य अलकारों से बिल्कुल भिन्न पडते हैं और इसी लिए उन्होंने पर्यायोक्त, प्रेयः, रसवत् , उर्जस्वी, उदात्त, भाविक तथा सूक्ष्म नामक अलंकारों को अलंकार श्रेणी से ही हटा दिया है। वामन का 'वक्रोक्ति' अलङ्कार सादृश्य-मूलक लक्षणा है। उनका विशेषोक्ति अलंकार जगन्नाथ का रूपक है और उनका आक्षेप अलकार मम्मट के प्रतीप या समासोक्ति से समानता रखता है।

रीति का महत्त्व

अलंकार सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय में काव्य-सिद्धान्तों का विशेष विकास लक्षित होता है। काव्य का मूल रूप क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा रीति-सम्प्रदाय ने बडी मार्मिकता क साथ दिया है। इसी लिए आनन्दवर्धन ने कहा है कि रीति सम्प्रदाय के आचार्यों ने काव्य-तत्त्व के यथार्थ वर्णन मे असमर्थ होते हुए रीतियों की प्रवर्तना की है—

> अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतत् यथोदितम् ।
> अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥
>
> —ध्वन्यालोक ३।५२

आनन्दवर्धन ने इस कारिका मे वामन की ओर निर्देश किया है। यह देखने मे तो निन्दा प्रतीत होती है परन्तु यह वास्तव में वामन की प्रशसा है। आनन्द का कथन है कि रीति सम्प्रदाय के निरूपण मे काव्य-तत्त्व स्फुरित तो हुआ है, परन्तु इतने स्फुट रूप मे नहीं जितना ध्वनि सम्प्रदाय में हुआ है।

रीति सम्प्रदाय को गुण और अलंकार के परस्पर पार्थक्य दिखाने का गौरव प्राप्त है। भामह ने गुण और अलंकार का परस्पर भेद नहीं दिखलाया और दण्डी ने काव्य की शोभा करनेवाले समस्त धर्मों (अर्थात् गुणों) को भी अलंकार शब्द से व्यवहृत किया है[१]। परन्तु वामन ने काव्य मे गुणों को अलंकारों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण माना है। उनकी दृष्टि मे काव्य की शोभा करनेवाले धर्म **'गुण'** कहलाते हैं तथा उसके अतिशय करनेवाले धर्म **'अलंकार'** के नाम से पुकारे जाते हैं[२]। अलंकार की अपेक्षा काव्य में गुण अधिक महत्त्वशाली हैं क्योंकि वे काव्य में नित्य रहते हैं। बिना उनके काव्य की शोभा उत्पन्न नहीं होती[3]। काव्यशोभा का एकमात्र आधायक धर्म है गुण ही। गुणयुक्त काव्य काव्य की महनीय पदवी से मण्डित होता है, गुणहीन काव्य नहीं। यदि कोई काव्य अंगना के यौवनहीन शरीर के समान गुणों से रहित हो तो वह कितने ही लोकप्रिय अलंकारों से भले ही सजाया जाय, उसमे शोभा नहीं होती। अलंकार उन्हें सुभग बनाने की अपेक्षा दुर्भग ही बनाते हैं[४]। कामिनी के शरीर में यौवन जो सुषमा उत्पन्न करता है वही सुषमा कविता में गुण उत्पन्न करता है। यौवनहीन शरीर भूषणों से सज्जित होने पर भी कमनीय नहीं दीखता, उसी प्रकार गुणहीन काव्य कदापि रुचिकर और मनोज्ञ नहीं बनता।

काव्य मे **रसविधान** का अध्ययन अलंकार-सम्प्रदाय तथा रीति सम्प्रदाय के पारस्परिक उत्कर्ष का पर्याप्त द्योतक हैं। अलंकार-सम्प्रदाय की अपेक्षा इस सम्प्रदाय के आलोचकों की दृष्टि गहरी तथा पैनी है। भामह आदि अलंकार-

---

१—काव्यशोभाकरान् धर्मान् अलंकारान् प्रचक्षते।

काव्यादर्श २।१

२—काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः। तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः—
वामन—काव्यालंकार ३।१।१-२

३—पूर्वे नित्याः। पूर्वे गुणाः नित्याः। तैर्विना काव्यशोभा—नुपपत्तेः।—
वही—३।१।३ (वृत्ति)।

४—यदि भवति वचश्च्युतं गुणेभ्यो
वपुरिव यौवनवन्ध्यमंगनायाः।
अपि जनदयितानि दुर्भगत्वं
नियतमलंकरणानि संश्रयन्ते॥

वही—३।१।२ की वृत्ति में उद्धृत

वादी आचार्य रस को काव्य में बहिरंग साधन मानते हैं। परन्तु वामन उसे काव्य के अन्तरंग धर्मों में परिगणित कर रस की महत्ता स्पष्टतः स्वीकार करते हैं। रस अर्थगुण 'कान्ति'—के रूप में काव्य मे आता है। कान्ति का लक्षण है दीप्तरसत्व। शृगारादि रस उद्दीप्त होकर जहाँ प्रकट होते हैं वहीं कान्तिगुण होता है[1]। गुण के भीतर रस के अन्तर्भाव के कारण ही वामन ने रसवत् आदि अलंकारों का विधान अपने ग्रन्थ मे नहीं किया है। इस प्रकार कान्ति गुण के भीतर रस का अन्तर्निवेश कर काव्य मे रस की महत्ता स्वीकृत की गई है। वामन की वक्रोक्ति के भीतर 'अविवक्षित-वाच्य ध्वनि'—का अन्तर्भाव उपलब्ध होता है। इस प्रकार काव्य के तत्त्वों का विवेचन इस मार्ग मे पूर्व सम्प्रदाय की अपेक्षा कहीं अधिक हृदयंगम तथा व्यापक है।

यद्यपि अलंकार-शास्त्र के पिछले आचार्यों ने वामन के 'रीतिरात्मा काव्यस्य'—इस मत को स्वीकार नहीं किया है तथापि उन्होंने रीति के तत्त्व को काव्य के लिए उपादेय मानकर स्वीकृत किया है। ध्वनिवादी आचार्यों को भी रीति का सिद्धान्त मान्य है और वे ध्वनि के साथ उसका सामञ्जस्य दिखलाने में कृतकार्य हुए हैं। रीति को एक नई दिशा में ले जाने का श्रेय है आचार्य कुन्तक को। इन्होंने रीति को कवि के स्वभाव के साथ संबद्ध मानकर काव्य मे रीति के महत्त्व को अंगीकार किया है। वर्तमान रीतियों का नामकरण भौगोलिक आधार पर हुआ है। परन्तु कुन्तक को न तो यह आधार ही पसन्द है और न यह नाम ही। इसी लिए उन्होंने इन नये नामों की उद्भावना की है—

(१) **सुकुमारमार्ग** (वेदर्भी रीति), २. **विचित्र मार्ग** (=गौड़ी रीति), (३) **मध्यम मार्ग** (=पाञ्चाली रीति)। इन रीतियों के लिए इन्होंने चार नये गुणों की भी कल्पना की है। इस प्रकार हम देखते हैं कि अलंकार शास्त्र के इतिहास मे भामह-पूर्व युग से लेकर इसके अन्त तक रीति काव्य का एक महनीय तत्त्व माना जाता था।

रीति की गरिमा पाश्चात्य आलोचकों ने भी अंगीकृत की है। फ्लाउबे (Flaubert), वाल्टर रेले (Walter Raleigh) तथा वाल्टर पेटर (Walter Pater) ने काव्य में रीति का पर्याप्त महत्त्व माना है। फ्लाउबे

१—दीप्तरसत्वं कान्तिः।

दीप्ताः रसाः शृङ्गारादयो यत्र स दीप्तरसः। तस्य भावो दीप्तरसत्वम्।

वामन—काव्यालंकार ३।२।१५

का कथन है कि जिस प्रकार जीवित प्राणियों में रक्त शरीर का पोषण करता है तथा इसके बाह्य स्वरूपका निर्णय करता है, उसी प्रकार काव्य में जीवनाधायक तत्त्व रीति ही है। रीति किसी वस्तु की समग्र अन्तरंगता तथा रंगीनता के साथ अभिव्यक्ति का एक विशिष्ट तथा परिपूर्ण प्रकार है[1]।

वाल्टर रेले ने अपने रीतिविषयक निबन्ध मे अंग्रेजी शब्द स्टाइल (Style) की उत्पत्ति तथा महत्त्व का बड़ा ही सुन्दर विवेचन किया है। Style शब्द लैटिन भाषा के स्टिलस या स्टाइलस (Stilus, Stylus) से निकला है जिसका अर्थ है 'लौह लेखनी'—लोहे की कलम। वे कहते हैं कि लेखनी चाहे मोम पर या कागज पर कुरेदती है, मानव प्रकृति मे जो कुछ भावाभिव्यञ्जक होता है अथवा जो कुछ अत्यन्त तलस्पर्शी होता है वह उन सबकी प्रतीक होती है। लेखक के व्यक्तित्व का परिचय हमें उसकी लेखनी से ही होता है। उसकी आवाज में जोर हो सकता है, उसकी हस्त चेष्टाओं में भावों की अभिव्यंजना की शक्ति हो सकती है, परन्तु ये दोनों साधन—शब्द तथा चेष्टा-परिवर्तनशील होते हैं। व्यक्तित्व का स्थायी रूप से अन्तिम उन्मीलन है उसकी लेखनी। इसी लिए स्टाइल का काव्य मे विशेष महत्त्व होता है[2]।

वक्रोक्ति-सिद्धान्त

संस्कृत वाङ्मय में वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन काल से चला

1—Style—a certain absolute and unique manner of expressing a thing in all its intensity and colour, as in living creatures the blood, nourishing the body, determines its very contour and external aspect, just so, to his mind the *matter*, the basis, in a work of art, imposed necessarily the unique, the expression, the measure, the rhythm—the form in all its characteristics.

Pater—Appreciations, Style (उद्धृत, पृ० ३७)

2—The pen, scratching on wax or paper, has become the symbol of all that is expressive, all that is intimate, in human nature, not only arms and arts, but man himself has yielded to it ... other gesture shift and change and flit, this is the ultimate and enduring revelation of personality

Walter Raleigh—Style पृ० २

आ रहा है और यह अनेक अर्थों मे व्यवहृत होता है। बाणभट्ट ने कादम्बरी मे इस शब्द का प्रयोग अनेक बार किया है। उन्होंने चन्द्रापीड की राजधानी का वर्णन करते हुए वहाँ के विलासी जनों को वक्रोक्ति मे निपुण बतलाया है—'वक्रोक्तिनिपुणेन विलासिजनेन।' अन्यत्र शुक और सारिका में एक विवाद चल रहा था। वह शुक चन्द्रपीड़ से कह रहा है—"एषापि बुध्यते एव एतावतीः वक्रोक्तीः। इयमपि जानात्येव परिहासजल्पितानि। अभूमिरेषा भुजंगभंगिभाषितानाम्।" (कादम्बरी) यहाँ वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग क्रीड़ालाप या परिहास-कथा के अर्थ में किया गया है। अमरुशतक मे भी इस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ मे दीख पडता है[1]। यह तो हुई काव्य-ग्रन्थों मे वक्रोक्ति की चर्चा। अब अलंकार ग्रन्थों में इसके निरूपण पर ध्यान दीजिए।

'वक्रोक्ति' का अर्थ ही है वक्र उक्ति अर्थात् टेढा कथन। प्राचीन काल से आलकारिकों ने काव्य में किसी अतिशय कथन की सत्ता मानी है। साधारण बोलचाल मे शब्दों का जिन अर्थों में व्यवहार होता है क्या उन्हीं अर्थों को लेकर कमनीय काव्य की रचना हो सकती है? कदापि नहीं। उसके लिए तो किसी न किसी प्रकार की विचित्र उक्ति की आवश्यकता होती है। काव्य मे व्यापार की ही तो प्रधानता रहती है। साधारण लोगों के कथन-प्रकार से भिन्न तथा अधिक चमत्कृत कथन-प्रकार वक्रोक्ति के नाम से अभिहित होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से अलंकार-जगत् में वक्रोक्ति की कल्पना भामह से आरम्भ होती है। भामह वक्रोक्ति को अतिशयोक्ति का ही नामान्तर मानते हैं और इसे काव्य का मूल तत्त्व स्वीकार करते हैं। इस सम्बन्ध मे उनका यह श्लोक प्रसिद्ध ही है—

> सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
> यत्नोऽस्या कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

भामह—काव्यालंकार २।८५

काव्य मे वक्रोक्ति की इतनी उपादेयता भामह को मान्य है कि वे हेतु,

---

१—या पत्युः प्रथमापराधसमये सख्यापदेशं विना,
नो जानाति सविभ्रमांगवलना–वक्रोक्तिसंसूचनम्।

—अमरुशतक, श्लोक २

सूक्ष्म तथा लेश नामक अलंकार मानने के पक्षपाती नहीं हैं[1]। वे अलंकार के लिए वक्रोक्ति की स्थिति अत्यन्त आवश्यक मानते हैं—"वाचां वक्रार्थशब्दोक्तिरलंकाराय कल्पते[2],—अर्थात् वक्र अर्थ का कथन शब्दों के लिए अलंकार का काम करता है। अभिनवगुप्त ने भामह का एक पद्य[3] उद्धृत कर वक्रोक्ति का लक्षण यह दिया है—शब्दस्य हि वक्रता, अभिधेयस्य च वक्रता, लोकोत्तीर्णेन रूपेन अवस्थानम् (लोचन, पृष्ठ २०८)। शब्द की वक्रता तथा अर्थ की वक्रता क्या है? इनका लोकोत्तर रूप से अवस्थान; अलौकिक रूप से स्थिति। भावार्थ यह है कि लोक में जिस शब्द तथा अर्थ का व्यवहार जिस रूप से होता है उस रूप में न होकर उससे विलक्षण रूप में होना वक्रोक्ति कहलाता है। जैसे 'वह मर गया' ऐसा न कहकर वह 'कीर्तिशेष' हो गया कहना वक्रोक्ति के भीतर आता है।

आचार्य दण्डी ने समस्त वाङ्मय को दो भागों मे बाँटा है—(१) स्वाभावोक्ति तथा (२) वक्रोक्ति। स्वाभावोक्ति के भीतर उन स्थानों का अन्तर्भाव किया जाता है जिनमें वस्तुओं का यथार्थ कथन विद्यमान हो। स्वाभावोक्ति ही 'काव्यादर्श' मे जाति नाम से आद्य अलंकार के नाम से गृहीत हुई है। स्वभाव कथन से भिन्न होने के कारण वक्रोक्ति में 'अतिशय-कथन' का समावेश किया गया है। इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रसवद्, प्रेयादि रससबद्ध अलंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं। दण्डी का कथन है कि श्लेष की सत्ता से वक्रोक्ति और भी चमक उठती है—

> 'श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम्।
> भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥'
>
> —काव्यादर्श २।३६३

इस प्रकार दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति-कल्पना को स्वीकर किया है। भामह मे वक्रोक्ति सब अलंकारों की मूल थी। वह सामान्य वार्तालाप—वार्ता—से भिन्न होती है परन्तु दण्डी ने स्वभावोक्ति को वक्रोक्ति के क्षेत्र से

१—हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालंकारतया मतः।
समुदायाभिधानस्य वक्रोक्त्यनभिधानतः ॥

भामह—काव्या० २।८६

२—भामह—काव्या० ५।६६

३—वक्राभिधेय शब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। वही १।३६

पृथक् कर दिया है क्योंकि इस अलंकार के लिए वे अतिशय कथन को आवश्यक नहीं मानते।

वामन में भी वक्रोक्ति का वर्णन है, परन्तु उसका रूप भामह-प्रदर्शित वक्रोक्ति से नितान्त भिन्न है। जहाँ भामह ने वक्रोक्ति को अलकारों का सामान्य मूलभूत आधार माना था, वहाँ वामन उसे अर्थालंकारों मे परिगणित करते हैं। वक्रोक्ति उनकी दृष्टि से सादृश्य के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा ही है। लक्षणा के अनेक आधार हो सकते हैं परन्तु सादृश्य आधार के ऊपर आश्रित होनेवाली लक्षणा वक्रोक्ति कही जाती है[1]। यथा—प्रातःकाल के समय तालाबों में कमल खिला और क्षणभर मे कुमुद बन्द हो गया। यहाँ कमल के लिए उन्मीलन तथा कैरव के लिए निमीलन के प्रयोग मे वक्रोक्ति है। उन्मीलन और निमीलन वस्तुतः नेत्र के धर्म हैं। परन्तु सादृश्य के कारण वे क्रमशः विकास और सकोच को लक्षित करते हैं। रुद्रट के समय मे आकर 'वक्रोक्ति' एक शब्दालकार बन जाता है। किसी के वाक्य को सुनकर श्रोता उसके किसी शब्द को भिन्न अर्थ में ग्रहण कर जब अवाछित तथा अकल्पित उत्तर देता है तब रुद्रट के अनुसार वक्रोक्ति होती है। यथा—

> अहो केनेदृशी बुद्धिः दारुणा तव निर्मिता।
> त्रिविधा श्रूयते बुद्धिर्न तु दारुमयी क्वचित्॥
>
> —काव्यप्रकाश, उल्लास ९।

कोई वक्ता कह रहा है कि अहो किसने तुम्हारी बुद्धि को दारुण (क्रूर) बनाया है। श्रोता 'दारुणा' पद को दारु (काष्ठ) शब्द की तृतीया विभक्ति मे मानकर उत्तर देता है कि बुद्धि त्रिगुणमयी तो सुनी गई है परन्तु दारुमयी (काष्ठमयी) बुद्धि तो कभी नहीं सुनी गई! रुद्रट के अनुसार इस उक्तिप्रत्युक्ति में वक्रोक्ति नामक शब्दालंकार है। परन्तु कुन्तक की वक्रोक्ति इन सबसे विलक्षण है। वे इसे अलंकार न मानकर काव्य का मूल तत्त्व मानते हैं। उनकी वक्रोक्ति का लक्षण है—'वैदग्धी भंगी भणितिः'—अर्थात् किसी वस्तु का साधारण लौकिक प्रकार से भिन्न, अलौकिक ढग से कथन। इस प्रकार जो वक्रोक्ति भामह मे अलंकार के मूलतत्त्व के रूप मे गृहीत थी, वामन में सादृश्य-

---

१—सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः। बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम्। तत्र सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिरसाविति। असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः।

वामन—काव्यालंकार ४।३।८ सूत्र की वृत्ति।

मूला लक्षणा के रूप में अर्थालंकार थी और रुद्रट में शब्दालंकार मानी जाती थी, वही कुन्तक के मतानुसार काव्य का मूलतत्त्व स्वीकार की गई है।

वक्रोक्ति को काव्य का जीवन—आत्मा—मानने के कारण ही कुन्तक का ग्रन्थ 'वक्रोक्ति-जीवित' कहलाता है और वे वक्रोक्ति-जीवितकार के नाम से आलंकारिकों के द्वारा निर्दिष्ट किये गये हैं। वक्रोक्ति सम्प्रदाय के वे ही संस्थापक हैं। वे बडे ही प्रौढ तथा मार्मिक आलोचक थे। उनकी मौलिकता के कारण हम उन्हें आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त के समकक्ष मानते हैं। वे रस तथा ध्वनि, दोनों सिद्धान्तों से परिचित थे परन्तु इन्हें आलोचना मे स्वतंत्र स्थान न देकर वक्रोक्ति का ही विशिष्ट प्रकार मानते हैं। वक्रोक्ति छः प्रकार की होती है—

(१) वर्णवक्रता, (२) पदपूर्वार्ध वक्रता, (३) पदोत्तरार्ध-वक्रता, (४) वाक्यवक्रता, (५) प्रकरण-वक्रता (६) प्रबन्ध-वक्रता। उपचार-वक्रता के भीतर उन्होंने ध्वनि के प्रचुर भेदों का समावेश किया है। इनकी वक्रोक्ति की कल्पना इतनी उदात्त, व्यापक तथा बहुमुखी है कि उसके भीतर ध्वनि का समस्त प्रपञ्च सिमिटकर विराजने लगता है। कुन्तक की विश्लेषण तथा विवेचन शक्ति बड़ी मार्मिक है। उनका ग्रन्थ अलंकार शास्त्र के मौलिक विचारों का भण्डार है। दुःख है कि उनके पीछे किसी आलोचक ने न तो इस सिद्धान्त को अग्रसर किया और न इस सम्प्रदाय का अनुगमन किया। वे लोग तो रुद्रट के द्वारा प्रदर्शित प्रकार को ही अपनाकर वक्रोक्ति को एक सामान्य शब्दालकार ही मानने लगे थे। इस प्रकार वक्रोक्ति के महनीय काव्यतत्त्व को बीज रूप में सूचित करने का श्रेय आचार्य भामह को और इस बीज को उदात्त रूप से अंकुरित तथा पल्लवित करने का यश आचार्य कुन्तक को है। ध्वनिवादी आलकारिकों ने इनके वक्रोक्ति के सिद्धान्त को काव्य की आत्मा (जीवातु) रूप मे तो नहीं स्वीकार किया, परन्तु वक्रोक्ति के अनेक प्रकारों को ध्वनि के भीतर अन्तर्भुक्त कर उन्होंने इनके निरूपण की महत्ता को स्पष्टतः अंगीकार किया है। पाश्चात्य आलोचकों ने भी वक्रोक्ति के तत्त्व को काव्य मे माना है परन्तु इसका जितना सागोपाग विवेचन कुन्तक ने किया है उतना कहीं नहीं मिलता। कुन्तक के सम्प्रदाय को कोई मान्यता दे अथवा न दे, परन्तु उनका 'वक्रोक्ति'-सिद्धान्त अलकारशास्त्र में काव्य के एक मौलिक तत्त्व के रूप मे सदा अमर रहेगा।

वक्रोक्ति तथा पाश्चात्य आलोचना

पश्चिमी जगत् के आलोचकों—प्राचीन तथा नवीन विवेचकों ने वक्रउक्ति की महत्ता का अंगीकरण किया है। यूनानी जगत् मे अरस्तू तथा लांगिनस इसके विशेष पक्षपाती थे तथा वर्तमान काल मे क्रोचे का अभिव्यंजनावाद (Expressionism) वक्रोक्ति का ही नवीन, परन्तु अधूरा, संस्करण है। अरस्तू ने काव्यशैली को महनीय होने के लिए वक्रोक्ति के विधान को नितान्त आवश्यक माना है। अरस्तू की उक्ति है—अपरिचित शब्दों (जैसे विचित्र शब्द, रूपक, वृद्धिगत रूप तथा कथन के सामान्य प्रकार से पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु) के प्रयोग करने से काव्यरीति विशिष्ट और कवित्वपूर्ण होती है।[1]

अरस्तू के इस वाक्य मे 'कथन के सामान्य प्रकार से पृथक् होनेवाली प्रत्येक वस्तु'—everything that deviates from the ordinary modes of speech—वक्रोक्ति का प्रकारान्तर से सूचक है। अरस्तू ने इस नियम के लिए कारण भी बतलाया है। साधारण जनों की जो भाषा होती है, वह केवल लोक-व्यवहार के ही लिए प्रयुक्त होती है। उसका कार्य केवल सामान्य जनों के साधारण भावों का ही प्रकाशन होता है। काव्यगत चमत्कार तथा सरसता की अभिव्यक्ति करने की क्षमता उसमे नहीं होती। इसी लिए अरस्तू ने वक्रोक्ति को काव्य का उपयोगी तत्त्व स्वीकार किया है।

प्रसिद्ध आलोचक लांजिनस 'भव्यता' (Sublimity) को ही काव्य का सर्वस्व मानते हैं। सहृदय के हृदय को प्रभावित करनेवाली कविता सर्वदा भव्यता से भूषित रहती है। 'भव्यता काव्य का परम सौन्दर्य साधन है। यह भव्यता वहीं होती है जहाँ लोक का अतिक्रमण रहता है, अलौकिक वस्तु में अलौकिकत्व का निवास रहता है। काव्य मे सर्वत्र अलौकिकता विराजती है—अर्थ मे, अर्थप्रकटन की रीति मे, शब्द मे तथा अलंकार मे अलौकिक अर्थ की अभिव्यक्ति अलौकिक शब्द के द्वारा ही होती है। उन सबके लिए लोक-व्यवहृत शब्द अत्यन्त तुच्छ तथा असमर्थ प्रतीत होते हैं। यहाँ शाब्दिक

---

1. The Diction becomes distinguished and non-prosaic by the use of un-familiar terms i e strange words, metaphors, lengthened forms, and every thing that deviates from the ordinary modes of speech

—Poetics खं० २२, पृ० ६२

अलौकिकता का जो निर्देश लाजिनस ने किया है वह वक्रोक्ति का ही दूसरा नाम है[१] ।—

क्रोचे का अभिव्यंजनावाद वक्रोक्ति का ही प्रकारान्तर है[२] ।

४—ध्वनि-सम्प्रदाय

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे अधिक महत्त्वशाली सम्प्रदाय यही ध्वनि सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के आलोचकों ने ध्वनि की उद्भावना कर काव्य के भीतर निहित अन्तस्तत्त्व की व्याख्या की है। अब तक जिन काव्य-तत्त्वों का उद्गम तथा विकास साहित्य-शास्त्रों में होता आया था उन सबका ध्वनि के साथ सामजस्य दिखाना इन आलोचकों का गौरवपूर्ण कार्य है। ध्वनि के सिद्धान्त को व्यवस्थित करने का श्रेय नवम शताब्दी में उत्पन्न होनेवाले आचार्य आनन्दवर्धन को प्राप्त है। तब से लेकर आज तक एक हजार वर्षों क दीर्घकाल मे ध्वनि-सिद्धान्त का ही बोलबाला है। इसके विरोध करनेवाले आचार्यों की भी कमी न थी। प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, भट्टनायक तथा महिमभट्ट के हाथों ध्वनि-सिद्धान्त को प्रबल विरोधों का सामना करना पड़ा था। ये विरोध साधारण आलंकारिकों के सामान्य विरोध न होकर साहित्यशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों के उग्र प्रहार थे। परन्तु भीतरी जीवट के कारण यह सिद्धान्त उनकी परीक्षाग्नि मे खरा उतरा और आजकल तो यह साहित्य-ससार का सर्वस्व है।

ध्वनि क्या है? जहाँ वाच्य अर्थ के भीतर से एक दूसरा ही रमणीय अर्थ निकले, जो वाच्य अर्थ की अपेक्षा कही अधिक चमत्कारपूर्ण हो, वही ध्वनि काव्य कहलाता है[३]। अर्थ मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—वाच्य और

१—Sublimity is a certain consummateners and preeminence of phrase, and that the greatest poets and prose writers gained the first rank and grasped on eternity of fame, by no other means than this. For what is out of the common leads audience not to persuasion, but to Ecstasy (or transport)

—Longinus

२—भारतीय साहित्यशास्त्र (द्वितीय खण्ड), पृ० ४२९—४४१

३—इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः।

—काव्यप्रकाश १।४

प्रतीयमान। वाच्य के अन्तर्गत अलकार आदि का समावेश होता है और प्रतीयमान अर्थ के भीतर ध्वनि का। प्रतीयमान अर्थ की सिद्धि काव्य मे वस्तुस्थिति के अवलोकन करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को हो सकती है। किसी सुन्दरी के शरीर में जिस प्रकार प्रत्येक शरीर के अंग तथा अवयव से भिन्न लावण्य की पृथक् सत्ता विद्यमान रहती है उसी प्रकार काव्य मे भी उसके अगों से पृथक् चमत्कारजनक प्रतीयमान अर्थ की सत्ता नियतमेव वर्त्तमान रहती है :

> प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
> यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

—ध्वन्यालोक १।४

अलंकार के इतिहास में ध्वनि की कल्पना आलोचकों को बड़ी सूक्ष्म बुद्धि की परिचायिका है। लक्ष्य-ग्रन्थों मे (काव्य) तो ध्वनि विद्यमान ही थी। लेकिन आनन्दवर्धन से पहले किसी ने उसे काव्य का महनाय तथा स्वतत्र तत्त्व स्वीकार नहीं किया था। आनन्दवर्धन का गौरव इसो मे है कि उन्हाने अपनी अलौकिक मनीषा के द्वारा इस काव्य-तत्त्व को अन्य काव्यागों से पृथक् कर स्वतन्त्र स्थान दिया। वाल्मीकि, व्यास तथा कालिदास आदि कवियों के काव्य मे ध्वनि का साम्राज्य है। परन्तु उसकी समीक्षा कर उसे काव्य तत्त्व का एक प्रधान सिद्धान्त बताकर व्यवस्थित रूप देना साधारण आलोचक बुद्धि का काम नही था। ध्वनि के चमत्कार को पाश्चात्य आलोचक भी मानते हैं। महाकवि ड्रायडन की यह उक्ति—More is meant than meets the ear (मोर इज मेण्ट दैन मीट्स दि इयर) कानों को जो सुनाई पड़ता है उससे अधिक काव्य में अपेक्षित अर्थ है—ध्वनि की ही प्रकारान्तर से सूचना है। परन्तु पाश्चात्य जगत् में इस तत्त्व की व्यवस्था नहीं दीख पडती। अतः आलोचना के इतिहास मे ध्वनि-सम्प्रदाय को विशेष महत्त्व प्राप्त है। आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक मे इस तत्त्व की पहिली मार्मिक व्याख्या की है। लगभग उनके सौ वर्ष के बाद अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका लोचन मे इस तत्त्व को दृढीभूत किया। इसी समय कतिपय ध्वनि-विरोधी आचार्यो ने इस सिद्धान्त का खण्डन किया। इन आचार्यों के आक्षेपो का उत्तर देकर मम्मट ने अपने काव्य-प्रकाश में इस सिद्धान्त की पूर्ण व्यवस्था कर दी। तब से आज तक यह सिद्धान्त अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा है।

ध्वनि की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? 'ध्वनि' शब्द तथा तत्त्व के लिए आलंकारिक लोग वैयाकरणों के ऋणी हैं। व्याकरण के अनुसार कानों को जो शब्द सुनाई पडता है वह अनित्य है, उससे किसी अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। घट शब्द को ही लीजिए। 'घ' अक्षर के उच्चारण के समय में टकार की स्थिति ही नहीं है और टकार के उच्चारण के समय घकार उच्चरित होकर आकाश मे विलीन हो चुका है। ऐसी दशा मे 'घ' और 'ट' इन दोनों वर्णो के एकत्र होने का सयोग ही उपस्थित नहीं होता और बिना दोनों के संयोग हुए अलग-अलग वर्णो से अर्थ की प्रतीति भी नहीं होती। इसी लिए वैयाकरण लोग एक ऐसे नित्य शब्द की कल्पना करते हैं जिससे अर्थ फूटता है—आविर्भूत होता है। स्फुटति अर्थो अस्मादिति स्फोटः—इस व्युत्पत्ति से अर्थ जिस शब्द से फूटता है, अभिव्यक्त होता है वह स्फोट कहलाता है। यही नित्य तथा आदर्श शब्द है[1] जो पूर्वापर क्रम से विहीन है, अखण्ड है तथा एकरस है। इस स्फोट को अभिव्यक्त करने का कार्य वही शब्द करता है जिसका हम उच्चारण करते हैं। इसे ही ध्वनि कहते हैं। वैयाकरणों के इस 'ध्वनि' शब्द को लेकर आलंकारिको ने विस्तृतीकरण किया है। व्याकरण मे ध्वनि तो केवल अभिव्यंजक शब्द के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है परन्तु साहित्य-शास्त्र मे इसका प्रयोग अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ दोनों के लिए होने लगा। ध्वनि सिद्धान्त का यही मूल है।

ध्वनि-मत रसमत का ही विस्तृतीकरण प्रतीत होता है। रस सिद्धान्त का अध्ययन मुख्यतः नाटक के ही संबध मे पहिले-पहल किया गया था। यह रस कभी वाच्य नहीं होता, शब्द की मुख्या वृत्ति के द्वारा कभी प्रकट नहीं होता, प्रत्युत व्यंजनावृत्ति के द्वारा व्यक्त होता है। नाटक का मुख्य अभिप्राय रस का उन्मीलन है। और इस उन्मीलन के लिए साधारणतः विस्तृत काव्यरचना की आवश्यकता है। यदि एक ही रमणीय पद्य हो तो यह हम नहीं कह सकते कि उससे पूर्ण रस की अभिव्यक्ति होगी। संभव है कि उससे रस के किसी अंग का भान भले ही हो परन्तु समग्र रस का आस्वादन साधारणतया उससे नहीं हो सकता। अतः यदि हम रस को ही काव्य की आत्मा स्वीकार करे तो ऐसे स्फुट या मुक्तक पद्य काव्य के क्षेत्र से बहिष्कृत

१—न प्रत्येकं न मिलिता न चैकस्मृतिगोचराः।
अर्थस्य वाचका वर्णाः किंतु स्फोटः स च द्विधा॥
शेषकृष्ण—स्फोटतत्त्वनिरूपण–श्लोक ३

हो जाते हैं। रस वाच्य न होकर व्यंग्य ही होता है। अतः इसी युक्ति को स्वीकार कर 'ध्वन्यालोक' ने चमत्कारपूर्ण व्यंग्य अर्थ से समन्वित होनेवाली कविता को ही उत्तम काव्य माना है। आनन्दवर्धन का स्पष्ट कथन है—

"महाकवि का यह मुख्य व्यापार है कि वह रस, भाव को ही काव्य का मुख्य अर्थ मानकर उन्हीं शब्दों तथा अर्थों की रचना करे जो उसकी अभिव्यक्ति के अनुकूल हों। रस-तात्पर्य से काव्य-निबन्धन की यह प्रथा भरत आदि में भी पाई जाती है। रस काव्य और नाट्य दोनों का जीवनभूत है[1]।"

अतः आनन्दवर्धन ने भरत के रस मत को ही विकसित कर अपने ध्वनिमत का विस्तार किया है। यह केवल कल्पना नहीं है बल्कि एक तथ्य वस्तु है।

कला में ध्वनि

ध्वनि सिद्धान्त का महत्त्व इसी में नहीं है कि वह काव्य के अन्तस्तत्त्व की अभिव्यक्ति करता है प्रत्युत वह कला के मूल तत्त्व को भी स्पर्श करता है। कोई भी कला क्यों न हो जब तक वह किसी भीतरी तत्त्व की ओर संकेत नहीं करती तब तक उसे हम कमनीय कला नहीं कह सकते। संगीतज्ञ लोग कहते हैं कि वीणा के स्वर दो प्रकार के होते हैं—एक तो वह जो साधारणतया कान को सुनाई पड़ते हैं और सुखद प्रतीत होते हैं; दूसरा स्वर पहिले स्वर के भीतर बडे सूक्ष्म रूप में रहता है। इसकी भी अभिव्यक्ति प्रथम स्वर के साथ ही होती है परन्तु यह गुणीजनों के अभ्यस्त कानों को ही सुनाई पडती है। तथ्य बात यह है कि प्रत्येक कला मे दो स्तर होते हैं—बाहरी और भीतरी। चित्रकला इसका स्पष्ट निदर्शन है। किसी चित्र को बनाने में 'तूलिका', रंग और फलक की आवश्यकता पडती है। इनकी सहायता से जो चित्र चित्रित किया जाता हैं वह हमारे नेत्रों को सुख देनेवाला बाहरी पदार्थ है। परन्तु उस चित्र से करुणा, दीनता, दया तथा दरिद्रता की जो अभिव्यक्ति होती है वह

---

१. अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यत् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानाञ्चोपनिबन्धनम्। एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति।...रसादयो हि द्वयोरपि तयो(काव्यनाट्ययोः)र्जीवितभूताः। ध्वन्यालोक पृ० १८१—८२।

हृदयगम्य वस्तु है[१]। वही चित्रकला का मूल तत्त्व है। वही वस्तु उस चित्र का जीवन है, प्राण है, ध्वनि है। चित्र और काव्य मे अन्तर केवल इतना ही है कि चित्रकार रेखाओं तथा वर्णों से अपने उस भाव की अभिव्यक्ति करता है। कवि शब्दों के द्वारा उसे प्रकाशित करता है। आनन्दवर्धन ने कला के इसी मूल तत्त्व की व्याख्या अपने ग्रन्थ में की है और इसी लिए उनका इतना महत्त्व है—

"सारभूतो हि अर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतारामेव शोभा- मावहति। प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरवस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षात् शब्दवाच्यत्वेनैव।"

ध्वन्यालोक पृ० २१

सारभूत अर्थ स्वशब्दों से वाच्य न होकर यदि प्रकाशित किया जाय, तो विशेष शोभा धारण करता है। अंग्रेजी भाषा में भी इसी अर्थ का द्योतक यह कथन है–Art lies in concealing Art. कला को छिपा रखने में ही कला का महत्त्व है। यह प्रकारान्तरेण 'ध्वनि' की स्वीकृति है।

ध्वनिकार ध्वनि को तीन भागों मे विभक्त करते हैं—(१) रसध्वनि, (२) अलंकार-ध्वनि, (३) वस्तुध्वनि। रसध्वनि के भीतर केवल नवरसों की ही गणना नहीं होती प्रत्युत भाव, उनके आभास, भावोदय, भावशबलता, भावसन्धि आदि की भी गणना है। वस्तुध्वनि वहाँ होती है जहाँ किसी तथ्य-कथन मात्र की अभिव्यंजना की जाय। अलंकार-ध्वनि वहाँ होती है जहाँ अभिव्यक्त किया गया पदार्थ इतिवृत्तात्मक न होकर कल्पना-प्रसूत हो, जो अन्य शब्दों मे प्रकट किये जाने पर 'अलकार' का रूप धारण करता। इन तीनों मे रस-ध्वनि ही श्रेष्ठ है। अंग्रेजी भाषा के महाकवि वर्ड्सवर्थ ने कविता का जो लक्षण दिया है—कविता मानव हृदय की प्रबल भावनाओं का स्वतः उद्गार है[२]—वह रस ध्वनि का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। महाकवि वाल्मीकि के हृदय मे क्रौञ्च-वध के कारण क्रौञ्ची के करुण क्रन्दन को सुनकर शोक का जो प्रबल भाव जगा वही श्लोक रूप मे स्वतः प्रकट हो

१—देखिए अजन्ता का वह चित्र जिसमें अपनी पुत्री के साथ कोई स्त्री बुद्ध से भिक्षा माँग रही है। इस चित्र में दीनता की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है।

२—Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings

गया। यही रसध्वनि है। महत्त्वपूर्ण होने से वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है। वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि का तो सर्वथा इसमें ही पर्यवसान होता है। इसलिए वे वाच्य से उत्कृष्ट अवश्य होते हैं। ध्वनि को काव्य की आत्मा कहना तो सामान्य कथन है। 'वस्तुतः रस ही काव्य की आत्मा है—' आलोचकों का यही परिनिष्ठित मत है[1]। काव्य का अभ्यासी कवि चित्र-काव्य से अभ्यास भले करे, परिपक्व मतिवाले कवियो का एकमात्र पर्यवसान 'ध्वनि काव्य' मे ही होता है[2]।

ध्वनि सम्प्रदाय के अनुसार काव्य तीन प्रकार के होते हैं—(१) ध्वनिकाव्य, (२) गुणीभूत व्यग्य, (३) चित्रकाव्य। ध्वनिकाव्य मे वाच्य से प्रतीयमान अर्थ का चमत्कार अधिक होता है। यही सबसे उत्तम काव्य है। जिस काव्य मे व्यग्य तो रहता है परन्तु वह वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कृत होता है उसे 'गुणीभूत व्यंग्य' कहते हैं। चित्रकाव्य मे शब्द तथा अर्थ के अलकारों से ही काव्य मे चमत्कार आता है। यह अधम कोटि का काव्य है। सच्चे कवि का कार्य यह नहीं है कि वह रस से संबंध न रखनेवाली कविता के लिखने मे अपनी शक्ति का दुरुपयोग करे। जो रस के तात्पर्य को बिना समझे कविता करने में प्रवृत्त होते है उन्हीं अव्यवस्थित कवियों की वाणी चित्रकाव्य की ओर झुकती है। काव्यपाक वाले (काव्य में परिपक्व) कवियों की कविता का लक्ष्य सदा रसमय काव्य की ही रचना होती है[3]।

ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि के मूल सिद्धान्त के अनुसार गुण और अलकार को उनके वास्तविक स्थान पर प्रतिष्ठित कर दिया है। गुण वे ही धर्म

१—तेन रस एव वस्तुतः आत्मा। वस्त्वलंकारध्वनी तु सर्वथा रसं प्रति पर्यवस्येते इति वाच्यात् उत्कृष्टौ तौ, इत्यभिप्रायेण ध्वनिः काव्यस्यात्मा इति सामान्येन उक्तम्। लोचन पृ० २७।

२—प्राथमिकानां अभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः, प्राप्तपरिणतीनां तु ध्वनिरेव प्राधान्येन काव्यमिति स्थितमेतत्। लोचन पृ० २७।

३—एतत् च चित्रं कवीनां विशृंखलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्य-प्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम्। इदानींतनानां तु न्याय्ये काव्यनय-व्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः। यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते।

ध्वन्यालोक, पृ० २२१।

होते हैं जो रसलक्षण मुख्य अर्थ के ऊपर अवलम्बित रहते हैं। जिस प्रकार मनुष्य मे शौर्य तथा वीर्य आदि धर्म उसकी आत्मा के साथ सबद्ध रहते हैं उसी प्रकार माधुर्यादि गुण काव्य के मूलभूत रस के ऊपर आश्रित रहते हैं। अलकार काव्य के अंगभूत शब्द तथा अर्थ पर ही आश्रित रहनेवाले अनित्य धर्म हैं। जिस प्रकार मनुष्य के हाथ की अँगूठी पहले उसके हाथ की ही शोभा बढ़ाती है और तदनन्तर उस मनुष्य की आत्मा को भी सुशोभित करती है उसी प्रकार अनुप्रासादि शब्दालंकार शब्द को, उपमा आदि अर्थालंकार अर्थ के ऊपर आश्रित होकर इन्हीं अंगों को सुशोभित करते है। तदनन्तर परोक्ष रूप से रस का भी—यदि वह विद्यमान हो—उपकारक करते हैं। इस प्रकार ध्वनि-सम्प्रदाय के अनुसार गुण काव्य के नित्य धर्म हैं और अलंकार अनित्य धर्म। अलंकारों की स्थिति काव्य मे हो या न हो परन्तु गुण की स्थिति तो अवश्यंभावी है। दोनों के भेद को ध्वनिकार ने इस कारिका मे बड़ी ही सुन्दर रीति से समझाया है—

> तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
> अङ्गाश्रितास्त्वलंकारा. मन्तव्याः कटकादिवत्[1] ॥
>
> ध्वन्यालोक २।७

ध्वनिकार संघटना को तीन प्रकार का मानते हैं—(१) असमासा, (२) मध्यमसमासा और (३) दीर्घसमासा। इनमे से प्रत्येक प्रकार एक विशिष्ट रस के अनुकूल होता है। संघटना के औचित्य का विचार रस के कारण, वक्ता के कारण तथा वर्ण्य विषय के कारण निश्चित किया जाता है।

काव्य मे दो प्रकार की वृत्तियाँ मानी गई हैं—शब्दवृत्ति और अर्थ-वृत्ति। उपनागरिका परुषा तथा ग्राम्या (कोमला) तो वाचक अर्थात् शब्द के ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ हैं। कैशिकी और आरभटी, सात्वती तथा भारती वाच्य या अर्थ के ऊपर आश्रित होनेवाली वृत्तियाँ हैं। इनको रीति के समान ही समझना चाहिए। रस के तात्पर्य से निवेशित होने पर अर्थात् रसा-नुकूल होने पर ही वृत्तियाँ काव्य तथा नाट्य की शोभा बढ़ाती हैं। यदि वे रस

१—ये तमर्थं रसादिलक्षणमंगिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत्। वाच्यवाचकलक्षणान्यङ्गानि ये पुनराश्रितास्ते अलंकारा मन्तव्याः कटकादिवदिति।

ध्वन्यालोक २।७ की वृत्ति।

के प्रतिकूल हों तो उनका विधान कथमपि काव्य में श्लाघनीय नहीं माना जाता[1]। ध्वनिवादियों के अनुसार दोष वही है जो मुख्य अर्थ का ह्रास या नाश करे—मुख्यार्थापहतिर्दोषः—मुख्य अर्थ होता है रस। अतः काव्य में रस को दूषित करनेवाले दोष ही पक्के काव्यदोष हैं। वाक्यार्थ दोष आदि अन्य दोषों को कल्पना इसी रस दोष की कल्पना पर अवलम्बित रहती है।

इस प्रकार ध्वनिवादी आचार्यो ने ध्वनि को काव्य में मुख्य तत्व मानकर काव्य तत्त्वों का पूर्ण सामञ्जस्य दिखलाया है।

पश्चिमी आलोचना में व्यंग्य अर्थ

काव्य में व्यंग्य अर्थ ही मुख्य होता है, पश्चिमी आलोचकों की भी यही सम्मति है। प्रसिद्ध अंग्रेजी आलोचक एबरक्राम्बी ने ठीक ही कहा है कि साहित्यकला कुछ मात्रा तक सदैव व्यंजनात्मक होती है। और साहित्यकला का सबसे उत्कर्ष यह है कि वह व्यंजना की शक्ति को ऐसी व्यापक, ऐसी विशद तथा सूक्ष्म भाषा मे प्रकट करे जितना संभव हो सकता है। अभिधा शक्ति के द्वारा जो अर्थ वाच्य होता है उसकी पूर्ति भाषा की व्यंजना शक्ति कर देती है। उनके शब्द मननीय हैं[2]।

अंग्रेजी के मान्य आलोचक रिचर्ड्स ने काव्यगत अर्थ के चार प्रकार निश्चित किए हैं—

(1) Sense, (2) Feeling, (3) Tone और (4) Intention

१—तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारः, ता एता कैशिकाद्या. वृत्तयः। वाचकाश्रयाश्च उपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति। रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवितभूता. इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव।

ध्वन्यालोक—पृ० १८२।

२—Literary art, therefore, will always be in some degree suggestion, and the height of literary art is to make the power of suggestion in language as commanding, as far-reaching, as vivid, as subtle as possible This power of suggestion supplements whatever language gives merely by being plainly understood and what it gives in this way is by no means confined to its syntax

—Abercrombie Principles of Literary Criticism

'सेन्स' का अभिप्राय है वक्ता के द्वारा कही गई वस्तु। 'फीलिंग्' का अर्थ है हृदयगत भाव। 'टोन' का अर्थ है सुर या आकृति अथवा वक्ता और बोद्धव्य के सम्पर्क का ज्ञान। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है कि वक्ता[1] अपने श्रोताओं की ओर दृष्टि रखकर अपने वाक्यों का विन्यास करता है। श्रोताओं के परिवर्तन के साथ-साथ वक्ता के वाक्यों के सुर में भी परिवर्तन होता है। वक्ता और बोद्धव्य के इसी सम्पर्क को रिचर्ड्स टोन के नाम से पुकारते हैं। ये तीनों अर्थ वाच्यार्थ के अन्तर्गत आते हैं। बाकी बचा Intention या अभिप्राय। हमारी दृष्टि मे यही व्यंग्यार्थ या ध्वनि है। इस शब्द की विशिष्ट व्याख्या करते समय उनके कथन से यह स्पष्ट है। वे कहते हैं कि लेखक बहुत सी बाते कहना चाहता है, परन्तु शब्दों के द्वारा वह प्रकट नहीं करता। किसी भी ग्रन्थ की आकृति या रचना या विकास में एक विशेष तात्पर्य होता है जो पूर्वोक्त तीनों प्रकारों मे अथवा उनके सम्मिलन में कथमपि परिगणित नहीं किया जा सकता। **यही तात्पर्य या व्यंग्यार्थ होता है लेखक का अभिप्राय**[2]।

अध्यापक मिलर की सम्मति में काव्य का अर्थ वही होता है जो व्यंजित होता है। अतः व्यंग्य अर्थ को ही काव्य का मुख्य अर्थ मानना उचित है[3]—

१—The speaker has ordinarily an attitude to his listener. He chooses or arranges his words differently as his audience varies, in automatic or deliberate recognition of his relation to them The tone of his utterance reflects his awareness of this relation, his sense of how he stands towards those he is addressing

—Practical Criticism p. 182.

२—Where conjecture or the weight of what is left unsaid is the writer's weapon . It is no long step to admitting that the form or construction or development of a work may frequently have a significance that is not reducible to any combination of our other three functions This significance is then the author's intention

Richards—Practical Criticism p 356.

३—That which is suggested is Meaning

—I. Miller. The Psychology of Thinking p 154.

इस प्रकार आनन्दवर्धन ने काव्य में जिस गम्भीरतम सूक्ष्म व्यंग्य अर्थ की गम्भीर मीमासा की है उसकी सत्ता पाश्चात्य आलोचकों ने भी बहुशः स्वीकृत की है।

ध्वनि सम्प्रदाय का इतिहास

ध्वनि सम्प्रदाय के स्थापन का श्रेय आनन्दवर्धन को प्राप्त है। कुछ लोग वृत्तिकार और कारिकाकार को भिन्न मानकर 'सहृदय' नामक किसी आचार्य को ध्वनि के सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय प्रदान करते हैं। परन्तु हमारी सम्मति में आनन्दवर्धन ने ही कारिका तथा वृत्ति दोनों की रचना की थी। प्राचीन आलकारिकों ने ध्वनि की कल्पना करने का श्रेय सर्वसम्मति से आनन्दवर्धन को ही प्रदान किया है। आचार्य अभिनवगुप्त ध्वनि सम्प्रदाय के इतिहास मे विशेष महत्त्व इसी लिए रखते हैं कि उन्होंने ध्वन्यालोक के ऊपर **'लोचन'** नामक टीका लिखकर ध्वनि के सिद्धान्त को युक्तियों से पुष्ट तथा प्रामाणिक बनाया। भट्टनायक ने ध्वनि के सिद्धान्तों का जो खण्डन किया था उसका मुँहतोड उत्तर देकर अभिनवगुप्त ने ध्वनि के तत्त्व की पूर्ण प्रतिष्ठा की। इनका 'लोचन' इतना पाण्डित्यपूर्ण और प्रमेयबहुल ग्रन्थ है कि उसकी सहायता बिना 'ध्वन्यालोक' का पूर्ण दर्शन ही नहीं हो सकता। अभिनवगुप्त एक महनीय दार्शनिक भी थे। उन्होंने दार्शनिक दृष्टि से ध्वनि के विवेचन करने मे बड़ी मार्मिकता दिखाई है। उनके अनन्तर मम्मटा-चार्य ने विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देकर ध्वनि सिद्धान्त को दृढतर आधारों पर संस्थापित किया। काव्य-प्रकाश के पंचम उल्लास मे इन्होंने भिन्न-भिन्न दर्शनों के मतानुयायी विद्वानों की युक्तियों का दृढतया तिरस्कार कर व्यंजना की स्वतन्त्र वृत्ति के रूप मे स्थापना की। इनका ग्रन्थ कारिका-बद्ध होनेपर भी समासशैली में लिखा गया है और बहुत ही सारगर्भित है। इसके ऊपर जितनी टीकाएँ बनीं उतनी टीकाएँ किसी भी साहित्य ग्रन्थ पर नहीं हैं। इसी लिए ये 'ध्वनि-प्रस्थापन परमाचार्य' के नाम से साहित्य-जगत् मे विख्यात हैं। मम्मट के पूर्ववर्ती भोजराज ने प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्तों का अपूर्व समन्वय अपने ग्रन्थों मे उपस्थित किया है। ये ध्वनि की अपेक्षा रस मत के विशेष पक्षपाती हैं। मम्मट के पश्चाद्वर्ती विश्वनाथ कविराज ने साहित्य-दर्पण मे ध्वनि की पर्याप्त मीमासा की है। परन्तु उपयोगी होने पर भी यह मीमासा मौलिक नहीं है। इसके ऊपर काव्य-प्रकाश की गहरी छाप है। अन्तिम समय के सबसे बडे आलंकारिक पण्डितराज जगन्नाथ हैं जिनकी

कृति 'रस-गंगाधर' ध्वनि सम्प्रदाय का नितान्त परिपोषक अन्तिम प्रौढ ग्रन्थ है। वे आनन्दवर्धन के सिद्धान्त से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने ध्वनिकार को आलंकारिकों की सरणि का व्यवस्थापक होने का गौरव प्रदान किया है—

ध्वनि-विरोधी आचार्य

(१) प्रतिहारेन्दुराज—यद्यपि ध्वनि सिद्धान्त प्रबल प्रमाणों के आधार पर प्रतिष्ठापित किया गया था, तथापि काश्मीर के मान्य आलंकारिकों को यह सिद्धान्त प्रथमतः मान्य नहीं हुआ। ध्वनिवादी और ध्वनिविरोधी आचार्यों मे बहुत दिनों तक गहरा संघर्ष चलता रहा। सर्वप्रथम ध्वनि का विरोध किस आचार्य ने किया? इसका निर्णय करना कठिन है। बहुत सम्भव है मुकुल-भट्ट का ध्वनि-विरोध सबसे प्राचीन है। 'अभिधावृत्ति मातृका' मे इनके कथन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ध्वनि की उद्भावना अभी एकदम नई थी और वे उसे लक्षणा के अन्तर्गत मानते थे[1]। इनके शिष्य प्रतिहारेन्दु-राज ने ध्वनि को अलंकार के ही अन्तर्गत माना है और ध्वनि के तीनों भेदों—अलंकार, वस्तु और रस—के ध्वन्यालोक में जो उदाहरण दिये गये हैं उनको इन्होंने अलंकारों के उदाहरण प्रमाणित किये हैं[2]। उदाहरण के लिए 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' पद्य को लीजिए। इसे ध्वनिकार ने अवि-वक्षित वाच्य-ध्वनि का उदाहरण माना है। (ध्वन्यालोक पृ० ६१) परन्तु प्रतिहारेन्दुराज के अनुसार यह अप्रस्तुत-प्रशंसा का ही एक भेद है[3]। इसी प्रकार से ध्वनि के अन्य उदाहरणों को भी उन्होंने अलंकार के ही दृष्टान्तों के भीतर सिद्ध किया है। अलंकारवादी आचार्य होने के कारण इनका ध्वनि को अलंकार के अन्तर्भुक्त मानना उचित ही है।

मुकुलभट्ट तथा प्रतिहारेन्दुराज ने प्रसंगवश ध्वनि के सिद्धान्तों का चलता खण्डन कर दिया है परन्तु तीन ऐसे प्रचण्ड आलंकारिक हुए जिन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त के केवल खण्डन के लिए ही अपने गंभीर ग्रन्थों की रचना की। इनके नाम हैं भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट। भट्टनायक अभिनवगुप्त से

१—लक्षणामार्गावगाहित्वं तु ध्वनेः सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम् ॥

अभिधावृत्तिमातृका पृ० २१

२—प्रतिहारेन्दुराज—उद्भट के काव्यालंकार की टीका, पृ० ७९–८५

३—वही।

कालक्रम में कुछ प्राचीन थे। कुन्तक उनके समकालीन थे तथा महिमभट्ट अभिनवगुप्त से कुछ ही पीछे आविर्भूत हुए थे। ये तीनों ही साहित्य के मौलिक आलोचक थे और तीनों ही काश्मीरी थे।

(२) **भट्टनायक**—इनके ग्रन्थ का नाम 'हृदय-दर्पण' था। महिमभट्ट ने लिखा है कि उन्होंने 'दर्पण' के बिना दर्शन ही किये अपने नवीन ग्रन्थ 'व्यक्ति-विवेक' की रचना की। उनके टीकाकार ने यहां दर्पण से अभिप्राय 'हृदयदर्पण' से माना है जिसे वे 'ध्वनिध्वंस' ग्रन्थ के नाम से अभिहित करते हैं। इस उल्लेख से प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ का निर्माण ही ध्वनि के खंडन के लिए किया गया था। अभिनवगुप्त के लोचन से इसकी पर्याप्त पुष्टि भी होती है। उन्होंने भट्टनायक के ग्रन्थ से ऐसे उद्धरण दिये हैं जिनमें 'ध्वन्यालोक' की कारिकाओं का मार्मिक खण्डन है। यह तो सर्वप्रसिद्ध ही है कि ये काव्य में रस के पक्षपाती थे परंतु रस की व्याख्या के लिए व्यंजना का सिद्धान्त इन्हें मान्य न था। ये भुक्तिवादी थे और व्यापारत्रय की कल्पना कर रस सिद्धान्त के व्याख्याता थे।

(३) **कुन्तक**—ध्वनि सिद्धान्त का साक्षात् खण्डन करना कुन्तक का ध्येय नहीं था। इनका वक्रोक्ति-जीवित ग्रन्थ इनके मौलिक सिद्धान्त का मण्डन करता है। उसका लक्ष्य ध्वनि का खण्डन करना उतना नहीं है जितना वक्रोक्ति का मण्डन करना। ये आनन्दवर्धन को बड़े सम्मान की दृष्टि से देखते हैं और उनके ध्वनि सिद्धान्त से पूर्णतः परिचित हैं। परन्तु ध्वनि को ये वक्रोक्ति का ही प्रकारान्तर मानते हैं। रस की उपयोगिता काव्य में इन्होंने स्वीकार अवश्य की है परन्तु रस स्वतन्त्र काव्यतत्त्व न होकर वक्रोक्ति का ही एक भेदमात्र है।

(४) **महिमभट्ट**—इनके ग्रन्थ का नाम ही है 'व्यक्ति-विवेक' अर्थात् व्यक्ति या व्यंजना का विवेचन। आरम्भ के ही श्लोक में इन्होंने ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य यह बतलाया है कि ध्वनि को अनुमान के अन्तर्गत बतलाने के लिए ही यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया गया है[1]। इन्होंने 'ध्वन्यालोक' की लक्षणवाली कारिका

अनुमानान्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

व्यक्तिविवेक १।१

(१।१३) को लेकर बडी ही सूक्ष्म रीति से उसका खण्डन किया है। आनन्द-वर्धन के पहले ऐसा एक सम्प्रदाय था जो ध्वनि को लक्षणा के द्वारा सिद्ध मानता था। इसी मत का प्रकृष्ट मण्डन हम इस विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ में पाते हैं। ध्वन्यालोक में जो श्लोक ध्वनि के उदाहरण रूप से दिये गये हैं उन्हें ये अनुमान के द्वारा ही सिद्ध करने का उद्योग करते हैं। महिमभट्ट के पाण्डित्य मे किसी प्रकार की विमति नही है। इनके ध्वनि खडन पर कोई आस्था भले न करे परन्तु इन्होंने काव्यदोषों का इतना मार्मिक तथा विदग्धतापूर्ण विवेचन किया है कि ध्वनिवादी मम्मट भी उनको ग्रहण करने से पराङ्मुख नहीं हुए। मम्मट के दोष-प्रकरण पर महिमभट्ट की गहरी छाप स्पष्ट दीखती है।

औचित्य सिद्धान्त

संस्कृत आलोचना की आलोचक जगत् को महती देन है—औचित्य तत्त्व। यह साहित्य-शास्त्र का व्यापकतम सिद्धान्त है। इसे काव्य का जीवित या प्राण मानने का गौरव यद्यपि क्षेमेन्द्र को प्राप्त है, तथापि औचित्य की कल्पना साहित्य-जगत् में बहुत ही प्राचीन काल से चली आती थी। भरत के नाट्यशास्त्र में ही सिद्धान्त रूप मे तो नही, परन्तु व्यवहार रूप में औचित्य का विधान पाया जाता है। भरत का कहना है कि लोक ही नाट्य का प्रमाण है। लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है उसका उसी रूप मे, उसी वेश में, उसी मुद्रा मे अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है। इसी लिए नाट्यशास्त्र प्रकृति (पात्र) के भाषावेश आदि के विधान पर इतना जोर देता है। साधारणतया प्रकृति तीन प्रकार की होती है—(१) दिव्य, (२) अदिव्य और (३) दिव्यादिव्य। इन तीनों के स्वभाव में मूलतः वैलक्षण्य है। रगमंच के ऊपर इनका यथार्थ विधान ही नाट्यकार की कला का चरम विकास है। दिव्य, देवता प्रकृति के कार्य अदिव्य प्रकृति में कभी नहीं दिखलाए जा सकते और न उनके भाषण-प्रकार मनुष्य मात्र मे ही सुसंगत हो सकते हैं। अनेक अध्यायों मे भरत ने इस विषय का सागोपाग वर्णन किया है। इनसे स्पष्ट है कि भरत नाट्य मे औचित्य के विधान को परमावश्यक मानते थे। काव्य में औचित्य तत्त्व की कल्पना का मूल स्रोत यही है।

इस प्रसंग में भरत का यह श्लोक बड़ा ही सारगर्भित है—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति ।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव प्रजायते ॥
नाट्यशास्त्र २३।६८

जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है उससे भिन्न देश में उसका विधान करने पर वह शोभा नही पाता । यदि कोई पात्र करधनी को अपने गले में और हाथ में पहने तो वह उपहास का ही पात्र होगा । करधनी का स्थान है कमर । वहीं पहनने पर होती है उसकी उचित शोभा। करधनी को कमर मे न कसकर अगर मणिबन्ध में बाँधने का उद्योग किया जायगा, तो वह सहृदयों के अट्टहास का ही भाजन बनेगा । यह पद्य स्पष्ट घोषित करता है कि हमारे आद्य आलोचक भरत को ललित-कला में औचित्य का सिद्धान्त मान्य था ।

औचित्य के सर्वमान्य आचार्य आनन्दवर्धन ही हैं जिन्होंने औचित्य की काव्य मे पूर्ण गरिमा का अवगाहन किया था और रसभंग की व्याख्या के अवसर पर यह मान्य तथ्य प्रतिपादित किया था—

अनौचित्याद् ऋते नान्यद् रसभंगस्य कारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषद् परा ॥
ध्वन्यालोक ।

अनौचित्य ही रसभंग का प्रधान कारण है । अनुचित वस्तु के सन्निवेश से रस का परिपाक काव्य मे उत्पन्न नही होता । रस के उन्मेष का मुख्य रहस्य है औचित्य के द्वारा किसी वस्तु का उपनिबन्ध, काव्य में कल्पना और विधान ।

आनन्दवर्धन के टीकाकार अभिनवगुप्त ने उन काश्मीरी आलोचकों की अच्छी खबर ली है जो ध्वनि के सिद्धान्त से बिना सम्पर्क रखे औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते थे । उन्होंने दिखलाया है कि ध्वनि की सत्ता के बिना औचित्य का सिद्धान्त अप्रतिष्ठित रहता है । ध्वनि को छोड़कर औचित्य तत्त्व का उन्मीलन कथमपि युक्तियुक्त नही प्रतीत होता । अत. औचित्य तथा ध्वनि परस्परोपकारक तथ्यों के रूप मे काव्य-जगत् मे अवतीर्ण होते हैं ।

अभिनवगुप्त के साहित्य शास्त्र मे प्रधान शिष्य क्षेमेन्द्र थे । ये स्वतः ध्वनिवादी थे, तथापि औचित्य-विचार-चर्चा नामक अपने ग्रन्थ मे इन्होने औचित्य को व्यापक काव्य तत्त्व के रूप मे प्रतिष्ठित किया है । औचित्यको यह महनीय स्थान देने का श्रेय क्षेमेन्द्र को ही प्राप्त है । औचित्य किसे कहते

हैं ? उचित का जो भाव है वह औचित्य कहलाता है। जो वस्तु जिसके साथ सदृश हो, जिससे उसका मेल मिले उसे कहते हैं 'उचित' और उचित का ही भाव होता है—औचित्य—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः, तदौचित्यं प्रचक्षते ॥
औचित्यविचारचर्चा—कारिका ७

यह औचित्य ही रस का जीवितभूत है, प्राण है तथा काव्य मे चमत्कारकारी है।

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना ॥
वही—कारिका ३

क्षेमेन्द्र ने इस औचित्य के अनेक भेद किये हैं। पद, वाक्य, अर्थ, रस, कारक, लिंग, वचन आदि अनेक स्थलों पर औचित्य का विधान दिखाकर तथा इसके अभाव को अन्यत्र बतलाकर क्षेमेन्द्र ने साहित्य-रसिकों का महान् उपकार किया है। उदाहरण के लिए देखिए—

अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।
अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला ॥

इस पद्य में प्रस्तुत रस विप्रलम्भ श्रृंगार है। इसके प्रथमार्ध मे रेफ का अनुप्रास तथा उत्तरार्ध में लकार का अनुप्रास प्रकृत रसके नितान्त पोषक हैं। लकार-बहुल प्रयोग तथा गलितप्राय पदों का विन्यास विप्रलम्भ श्रृंगार के सर्वथा उत्कर्षक होते हैं। यह हुआ अलंकार—औचित्य का उदाहरण। इसके विपरीत टवर्ग का अनुप्रास श्रृंगार रस के सर्वथा प्रतिकूल होता है। इस बात पर बिना ध्यान दिये हुए कवि राजशेखर ने कर्पूरमंजरी की विरह-व्यथा के वर्णन में जो यह टकार का व्यूह खड़ा किया है वह सर्वथा अनुचित है—

चित्ते विहट्टदि ण टुट्टदि सा गुणेसु,
सज्जासु लोट्टदि विसट्टदि दिम्मुहेसु।
बोलम्मि बट्टदि पवट्टदि कव्वबन्धे,
झाटे ण टुट्टदि चिरं तरुणी तरट्टी ॥

इस प्रकार क्षेमेन्द्र ने औचित्य को साहित्यशास्त्र मे व्यवस्थित रूप दिया है। परन्तु उन्हें ही इसका उद्भावक मानना भयंकर ऐतिहासिक भूल है।

क्षेमेन्द्र ने अपने विवेचन के लिए आनन्दवर्धन तथा भरत से सामग्री एकत्रित की है; इसे विशेष प्रमाणों से पुष्ट करने की आवश्यकता नहीं। उनके द्वारा बताये गये औचित्य के सभी भेद 'ध्वन्यालोक' मे पूर्णतया विद्यमान हैं। क्षेमेन्द्र का यह महत्त्वपूर्ण पद्य भी भरत के पूर्वोक्त पद्य की व्याख्या-सा प्रतीत होता है। क्षेमेन्द्र कहते हैं कण्ठ मे मेखला, नितम्ब पर सुन्दर हार, हाथ मे नूपुर, चरण मे केयूरपाश पहनने से कौन व्यक्ति उपहास का पात्र नहीं बनता ? इसी प्रकार शरण मे आये हुए व्यक्ति के ऊपर शूरता दिखलाना और शत्रु के ऊपर करुणा करना क्या किसी प्रकार औचित्यपूर्ण है ? सच्ची बात तो यह है कि औचित्य के बिना न तो अलंकार ही कोई शोभा धारण करता है और न गुण ही रुचिकर प्रतीत होता है। अलंकार और गुण के शोभन होने का रहस्य औचित्य के भीतर ही निहित है।

> कण्ठे मेखलया, नितम्बफलके तारेण हारेण वा,
> पाणौ नूपुरबन्धनेन, चरणे केयूरपाशेन वा।
> शौर्येण प्रणते, रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यतां,
> औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः॥

आलोचना यंत्र

इस प्रकार भारतीय अलंकार-शास्त्र ने आलोचना-जगत् को तीन महनीय काव्य तत्त्वों की महत्त्वपूर्ण देन दी है। ये तत्त्व हैं—औचित्य, रस और ध्वनि। इनमे औचित्य सबसे अधिक व्यापक तत्त्व है। इसके बिना न तो रस मे सरसता है और न ध्वनि मे महत्ता। औचित्य के तत्त्व पर साहित्य-शास्त्र का समग्र सिद्धान्त आश्रित है। इसे महामहोपाध्याय डा० कुप्पुस्वामी शास्त्री ने अपने निम्नाकित यन्त्र मे बडी सुन्दर रीति से दिखलाया है[१]।

यह यन्त्र साहित्यशास्त्र के सम्प्रदायों का एकत्र प्रकाशक है। भारत मे साहित्य-सिद्धान्तों का इतिहास औचित्य से आरम्भ कर अलंकार तक का विकास है। इसके भीतर एक बड़ा तथा दूसरा छोटा वृत्त है। बड़ा वृत्त औचित्य का प्रतिनिधि है। औचित्य ही भारतीय साहित्यशास्त्र का सबसे बडा काव्य-तत्त्व है। इस बडे वृत्त के भीतर एक बडा त्रिकोण है जिसका शीर्षस्थान है रस, और ध्वनि एव अनुमिति आधार-रेखा के दोनों छोर हैं। इसका अर्थ यह है

१—Kuppu Swami Shastri—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit pp. 27—31 (Madras 1945)

कि भारतीय साहित्य मे रस ही सबसे अधिक उपादेय तत्त्व है। इसे ध्वनिवादी आनन्दवर्धन भी काव्य की आत्मा मानते हैं तथा ध्वनिविरोधी आलोचक कुन्तक और महिमभट्ट भी काव्य में इसके महत्त्व को स्वीकार करते हैं। आधार-रेखा के एक छोर पर है ध्वनि और दूसरे छोर पर है अनुमिति। ये दोनों रस की व्याख्या करनेवाले भिन्न-भिन्न सिद्धान्त हैं। ध्वनि-मत के उद्भावक हैं आनन्दवर्धन जिनके अनुसार रस की अभिव्यक्ति व्यंजना-शक्ति के द्वारा होती है। अनुमिति ध्वनिविरोधी सकल सम्प्रदायों का प्रतिनिधि है। अनेक आचार्यों ने व्यंजना-शक्ति का खण्डन करते हुए रस की प्रतीति भिन्न ही प्रकार से स्वीकृत की है। भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार के द्वारा रस की व्याख्या की, तो महिमभट्ट ने अनुमिति के द्वारा रस का विवरण प्रस्तुत किया है। ये दोनों आचार्य ध्वनि के उदय के समकालीन हैं। इस बड़े त्रिकोण के द्वारा काव्य के अन्तरंग तत्त्व अर्थात् प्राणभूत सिद्धान्तों की समीक्षा है।

भीतरी छोटा वृत्त काव्य के बाह्य रूप का विवेचन करता है। इस वृत्त की परिधि है वक्रोक्ति। इसका अर्थ यह है कि इस वृत्त के भीतर त्रिकोण द्वारा जिन काव्य-तत्त्वों का निदर्शन किया गया है उन सबको व्याप्त कर वक्रोक्ति स्थित रहती है। इस वृत्त के भीतर छोटा त्रिकोण है जिसका शीर्ष-बिन्दु रीति है, आधार-बिन्दु गुण और अलंकार हैं। रीति को काव्य की आत्मा माननेवाले आचार्य हैं वामन और गुणों को काव्य में महत्त्व देनेवाले आचार्य दण्डी हैं। काव्य में अलंकार की प्रधानता को स्वीकार करनेवाले आचार्य भामह हैं। गुण और अलंकार—दोनों सम्प्रदाय प्रायः एक ही समय में उत्पन्न हुए। कालक्रम के अनुसार भामह का अलंकार-सम्प्रदाय दण्डी के गुण-सम्प्रदाय से प्राचीन है। रीति, गुण और अलंकार—ये तीनों काव्य के बहिरंग साधन हैं। इन तीनों गुणों का वक्रोक्ति पर आश्रित होना नितान्त आवश्यक है। वक्रोक्ति की कल्पना को अग्रसर करनेवाले आचार्य कुन्तक हैं। यह कहना न होगा कि वे वक्रोक्ति के भीतर ही अन्य काव्य-तत्त्वों का समावेश मानते हैं। इस प्रकार इस यन्त्र मे अलंकार-शास्त्र के पूर्वोक्त छहों सम्प्रदायों का पारस्परिक संबंध व्यवस्थित रूप से दिखाया गया है। इस यन्त्र के ठीक अनुशीलन से भारतीय साहित्य-शास्त्र के समस्त सिद्धान्तों का तुलनात्मक महत्त्व सरलता से समझ मे आ जाता है।
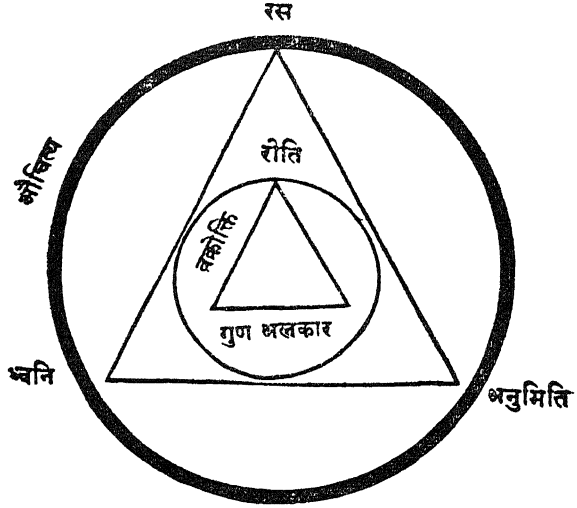
औचितीमनुधावन्ति सर्वे ध्वनिरसोन्नयाः ।
गुणालंकृतिरीतीनां नयाश्चानृजुवाङ्मयाः ॥

कवि-रहस्य

सत् कविरसनाशूर्पी—
निस्तुषतर-शब्दशालिपाकेन ।
तृप्तो दयिताधरमपि
नाद्रियते का सुधा दासी ॥

❀

अवयः केवलकवयः
केवल-कीरास्तु केवलं धीराः ।
कवयः पण्डितकवयः
तानवमन्ता तु केवलं गवयः ॥

कवि

काव्य के कविकर्म होने के कारण 'काव्य' के स्वरूप-ज्ञान के निमित्त 'कवि' की रूपोपलब्धि नितान्त आवश्यक है। 'कवि' शब्द 'कु वर्णे' अथवा 'कुङ् शब्दे' धातु से औणादिक इ प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न होता है (अच इः— उणादि सूत्र ४।१३८)। राजशेखर की सम्मति में कवि शब्द की निष्पत्ति 'कव् वर्णे' धातु से हुई है और इसीलिए वे 'कवि' का अर्थ वर्णनकर्ता मानते हैं। 'कौति शब्दायते विमृशति रसभावानिति कविः' इति भट्टगोपालः। कवि रस तथा भाव का विमर्शक होता है। वह चिड़ियों की तरह चहकता है। पक्षियों के कलकूजन के समान कवि का भी कूजन हमारे श्रवणों में सुधा-धारा प्रवाहित करता है। उसके कूजन (काव्य) के मधुर अर्थ से हम परिचित भले ही न हों, पर सत्कवि की भणिति श्रोताओं के कानों में उसी प्रकार सुधा उँडेलने लगती है जिस प्रकार मालती की माला, जिसके सुभग सौरभ की मादकता दर्शकों तक पहुँचे बिना भी लोगों के नेत्रों को हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर लेती है—

> **अविदितगुणापि सत्कवि-**
> **भणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।**
> **अनधिगतपरिमलापि हि**
> **हरति दृशं मालतीमाला॥**
>
> **(सुबन्धु-वासवदत्ता, श्लोक ११)**

परन्तु अधिकांश भारतीय आलोचकों की दृष्टि में 'कवि' का प्रधान कार्य होता है वर्णन। मम्मट के मत में 'काव्य' लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का कर्म होता है (**लोकोत्तरवर्णना-निपुणं कविकर्म**) अर्थात् वस्तु के यथा-वस्थित रूप के वर्णन में कवि के कवित्व का पर्यवसान नहीं होता, प्रत्युत उसके वर्णन मे लोकोत्तरता का, अतिशय का पुट सर्वदा वर्तमान रहता है। भट्ट तौत भी कवि को 'वर्णनानिपुण' बतलाते हैं। तथ्य यह है कि कवि का प्रधान कार्य होता है किसी वस्तु का, किसी घटना का, लोकोत्तर रूप से वर्णन। बिना वर्णन के कवि का यथार्थ रूप विकसित नहीं होता। कवि क्रान्तदर्शी होता है—**कवयः क्रान्तदर्शिनः**। अतीत और अनागत, व्यवहित तथा प्रति-

बद्ध वस्तुओं का दर्शन नैसर्गिक कवि के लिए स्वतः सिद्ध है। कवि के साथ तत्त्वज्ञता का अविनाभाव-सम्बन्ध रहता है। वस्तु के अन्तर्निहित तत्त्व का ज्ञान हुए बिना कवि कवि नहीं हो सकता। वस्तु के बाहरी आवरण को हटाकर वस्तु के अन्तस्तल तक पहुँचना कवि के लिए परमावश्यक होता है। वह कवि नहीं है प्रत्युत 'हठादाकृष्टाना कतिपयपदाना रचयिता' है, इधर-उधर से नोच-खसोट-कर कविता की काया तुन्दिल करनेवाला तुक्कड है जो वस्तु की ऊपरी सतह-पर ही तैरता रहता है और उसके भीतरी स्तर तक न तो पहुँच सकता है और न पहुँचता है। अतः दर्शन सत्कवि के लिए सबसे प्रथम आवश्यक गुण है। परन्तु द्रष्टा होने पर भी व्यक्ति कवि नहीं हो सकता, जब तक अपने-प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर उसे प्रकट नहीं करता। भावों की शाब्दिक अभिव्यक्ति कवि के लिए उतनी ही प्रयोजनीय है जितना उन भावों का दर्शन। **कवित्व के दो आधार-स्तम्भ हैं—दर्शन और वर्णन।** इन दोनों के पूर्ण होने पर ही सत्कवित्व का उन्मेष होता है। वाल्मीकि महर्षि थे, तत्त्वों के द्रष्टा थे परन्तु जब तक उन्होंने अपने अनुभूत ज्ञान को शब्द के माध्यम द्वारा प्रकट नहीं किया तब तक उन्हें कवि की महनीय संज्ञा प्राप्त नहीं हुई। न जाने कितनी बार विभिन्न भावों ने उनके हृदय को अपना निकेतन बनाया होगा परन्तु कवि की संज्ञा उन्हें तभी प्राप्त हुई जब क्रौञ्ची के करुण स्वर से उनका कारुणिक हृदय पिघल उठा और उनका आन्तरिक शोकभाव श्लोक के माध्यम से बाहर फूट पड़ा।

आचार्य अभिनवगुप्त के विद्यागुरु **भट्टतौत** ने कवि के स्वरूप के विवेचन में बडे पते की बात कही है कि कवि 'अनृषि' नहीं होता—कवि ऋषि ही होता है। मन्त्र का द्रष्टा पुरुष ही 'ऋषि' की महनीय उपाधि धारण करता है—**ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः**। कवि दर्शनयुक्त होने के कारण ही 'ऋषि' कहलाता है। वस्तु के विचित्र भाव को अर्थात् अन्तर्निहित धर्म को तत्त्व रूप से जानना ही दर्शन कहलाता है। शास्त्र मे इसी तत्त्व-दर्शन के कारण कवि कवि के नाम से अभिहित होता है। परन्तु लोक में कवि की संज्ञा दर्शन तथा वर्णन के कारण से एक विशिष्ट अर्थ मे रूढ है। कवि वही है जिसमें दर्शन के साथ वर्णन का मञ्जुल संयोग रहता है। सस्कृत के आदिकवि महर्षि वाल्मीकि का उदाहरण ही इस सिद्धान्त की पुष्टि मे भली भाँति दिया जा सकता है। उनका दर्शन स्वच्छ था जो नित्यरूप से उन्हें प्राप्त था परन्तु लोक मे उनकी कविता तब तक उदित नहीं हुई जब तक उन्होंने अपने दर्शन को वर्णन का रूप नहीं दिया। र्शन है आन्तरिक गुण और वर्णन है बाह्य गुण। इन दोनों में मञ्जल सामञ्जस्य

होने पर ही कविता की स्फूर्ति होती है। दर्शन तथा वर्णन का संमिश्रण ही काव्य-कला के चरम विकास का आधारपीठ है। भट्टतौत का यह सिद्धान्त बडा ही मौलिक तथा तथ्यपूर्ण है —

नानृषिः कविरित्युक्तं ऋषिश्च किल दर्शनात्।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्॥
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।
दर्शनात् वर्णनाच्चाथ रूढा लोके कविश्रुतिः॥
तथा हि दर्शने स्वच्छे नित्येऽप्यादिकवेर्मुनेः।
नोदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना[1]॥

प्रतिभा के सहारे कवि काव्य-जगत् का स्रष्टा होता है। इस सृष्टि-कार्य में उसकी श्लाघनीय शक्ति का नाम है प्रतिभा। ब्राह्मी सृष्टि की अपेक्षा कविसृष्टि में निजी वैशिष्ट्य है, सातिशय वैलक्षण्य है। ब्रह्मा अपने सृष्टिकार्य मे एकान्त स्वातन्त्र्य का अनुभव नहीं करता, प्रत्युत वह प्राणियों के कर्म के अनुसार ही सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त होता है, परन्तु कवि अपनी सृष्टि मे नितान्त स्वतन्त्र होता है। उसकी रुचि जिधर झुकती है, मन जिधर तरंगित हो उठता है, वैसी ही सृष्टि वह झट प्रस्तुत कर देता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते॥

—ध्वन्यालोक

कवि वह जादूगर है जिसके जादू के सामने जगत् का प्रत्येक पदार्थ रस-भाव से सम्पन्न दीखने लगता है। वस्तु कितनी भी नीरस क्यों न हो, रस-तात्पर्यवाले कवि के हाथ लगते ही उसमे विलक्षण परिवर्तन हो जाता है—वह बिचित्र रूप से आकर्षक बन जाती है, रस-सम्पत्ति से मण्डित होकर वह निरतिशय सरस तथा आह्लादक हो जाती है।[2] इसलिए कवि के उपकरण

१—ये श्लोक भट्टतौत-रचित 'काव्यकौतुक' नामक ग्रन्थ के प्रतीत होते हैं। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आज तक उपलब्ध नही हुआ है। इस ग्रन्थ के महत्त्व का परिचय इसी घटना से लग सकता है कि 'ध्वन्यालोक-लोचन' के रचयिता अभिनवगुप्त ने इस ग्रन्थ पर टीका लिखी थी। दुर्भाग्यवश मूलग्रन्थ के समान यह टीका भी अनुपलब्ध है। इन श्लोकों को हेमचन्द्र ने अपने 'काव्यानुशासन' पृ० ३१६ पर उद्धृत किया है।

२—तस्मान्नास्त्येव तद् वस्तु यत् सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेः तदिच्छया

की अवधि नहीं होती। कवि अपने काव्य की सामग्री समस्त विश्व से ग्रहण करता है और अपनी शक्ति के प्रभाव से उसमें नाना प्रकार का वैचित्र्य उत्पन्न कर देता है। इसीलिए कवियों की महनीय परम्परा देखकर नीलकण्ठ कवि हताश नहीं होते। उनका कथन है कि एक कवि की रचना देखकर मुझे सरस्वती का खजाना खाली जान पडता है। परन्तु सरस्वती-मन्दिर मे प्रवेश कर देखने से तो यही प्रतीत होता है कि कविकोटि इसके एक कोने में ही पड़ी हुई है—मन्दिर का पूरा आँगन नवीन कवियों के उद्योग के लिए अभी पूरा खाली पड़ा हुआ है। सचमुच प्रतिभाशाली कवि के लिए न तो विषय की कमी है और न कल्पना का ह्रास। शारदा का यह विशाल मन्दिर उसके लिए सावकाश बना हुआ है—

पश्येयमेकस्य कवेः कृतिं चेत्
सारस्वतं कोषमवैमि रिक्तम्।
अन्तः प्रविश्यायमवेक्षितश्चेत्
कोणे प्रविष्टा कविकोटिरेषा॥

—शिवलीलार्णव १।१८

कवि के लिए इससे बढ़कर महत्त्व की बात ही क्या हो सकती है कि भगवती श्रुति भी उस अनन्त-ब्रह्माण्डनायक को 'कवि' के ही नाम से पुकारती है, न उसे 'शाब्दिक' कहती है न 'तार्किक'। इस जगत् का निर्माता तथा नियन्ता न 'वैयाकरण' कहा गया है न 'नैयायिक', परन्तु कहा गया है 'कवि'। 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' आदि उपनिषद् वाक्य इसके यथार्थ पोषक हैं। इसीलिए भारतीय संस्कृति में कवि का आदर सर्वतोभावेन विराजमान है। यह 'कवि' के लिए भूषण की बात है—

स्तोतुं प्रवृत्ता स्तुतिरीश्वरं हि
न शाब्दिकं प्राह न तार्किकं वा।
ब्रूते तु तावत् कविरित्यभीक्ष्णं
काष्ठा परा सा कविता ततो नः॥

—शिवलीलार्णव १।१६

तदभिमत-रसांगतां न भजते। तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति।

—ध्वन्यालोक, पृ० ४९८ (काशी सं०)

अब कवि से सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तों का क्रमशः वर्णन यहाँ किया जा रहा है। मुख्य प्रश्न है कि कवि की रचना का उदय किस कारण या कारणों के द्वारा सम्पन्न होता है। इस आवश्यक प्रश्न का अध्ययन भारतीय ग्रन्थों मे बडे विस्तार से तथा गवेषणा के साथ किया गया है।

१—काव्यहेतु

प्रतिभा कवि के लिए काव्य का प्रधान साधन है। संस्कृत के आद्य आलकारिक भामह की सम्मति मे शास्त्र और काव्य के अध्येताओं में यही अन्तर रहता है कि जडबुद्धि भी पुरुष गुरु के उपदेश से शास्त्र अच्छी तरह पढ़ सकता है। परन्तु काव्य की स्फूर्ति उसी व्यक्ति को होती है जो प्रतिभा से सम्पन्न होता है। गुरु के लाख उपदेश देने पर भी शिष्य के हृदय में काव्य का अंकुर उत्पन्न नहीं हो सकता यदि उसमे प्रतिभा का अभाव रहता है—

गुरूपदेशादध्येतुं शास्त्रं जडधियोऽप्यलम्।
काव्यं तु जायते जातु कस्यचित् प्रतिभावतः॥

प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही ऐसी कविता कर सकता है जिसमे एक पद भी निन्दनीय न हो। क्योंकि दोषयुक्त काव्य की रचना करनेवाला कवि उसी प्रकार निन्दनीय होता है जिस प्रकार दुष्ट पुत्र के द्वारा पिता[1]। यदि कोई व्यक्ति कवि नहीं है, तो इससे उसे न तो किसी रोग का शिकार बनना पड़ता है न अधर्म के कीचड़ में ही फँसना पड़ता है और न कोई सजा भुगतने की नौबत आती है। परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मरण है[2]। इस साहित्यिक मृत्यु से वही व्यक्ति अपनी रक्षा कर सकता है जो प्रतिभा की सम्पत्ति से सम्पन्न रहता है। अकबित्व बुरी चीज नहीं, बुरा सौदा नहीं, परन्तु कुकवित्व तो साक्षात् मृत्यु है। इस प्रकार भामह ने काव्यहेतुओं में सबसे श्रेष्ठ स्थान प्रतिभा को ही प्रदान किया है।

१—सर्वथा पदमप्येकं न निगाद्यमवद्यवत्।
विलक्ष्मणा हि काव्येन दुस्सुतेनेव निन्द्यते॥

—काव्यालंकार १। ११

२—अकवित्वमधर्माय व्याधये दण्डनाय वा।
कुकवित्वं पुनः साक्षात् मृतिमाहुर्मनीषिणः॥

—वही १। १२

प्रतिभा का स्वरूप

प्रतिभा का सबसे सुन्दर लक्षण भट्टतौत ने दिया है—**प्रज्ञा नवनवोन्मेष-शालिनी प्रतिभा मता**—नये नये अर्थों का उन्मीलन करनेवाली प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती है। कुन्तक के अनुसार पूर्वजन्म तथा इस जन्म के सस्कार के परिपाक से पुष्ट होनेवाली कोई कवित्व शक्ति ही प्रतिभा है।—**"प्राक्तनाद्यतनसंस्कार-परिपाकप्रौढा प्रतिभा काचिदेव कविशक्तिः।"**[1] वामन के अनुसार प्रतिभान या प्रतिभा कवित्व का बीज है। जिस प्रकार बीज से अभिनव पदार्थ की स्फूर्ति होती है वही कार्य प्रतिभा के द्वारा भी होता है। प्रतिभा है क्या? यह पूर्व जन्म से आनेवाला विशिष्ट सस्कार है। यह वासना रूप से कवि-हृदय मे निवास करता है। प्रतिभा के बिना काव्य निष्पन्न ही नहीं होता और यदि निष्पन्न हुआ भी तो वह काव्य उपहास का पात्र बनता है[2]। वामन का यह तथ्यकथन काव्य मे प्रतिभा की गहरी उपादेयता का पुष्ट परिचायक है।

भट्टगोपाल के अनुसार प्रतिभा कवित्व का बीज अर्थात् उपादानरूप संस्कार-विशेष है। जिस प्रकार वृक्ष को देखने से बीज की कल्पना की जाती है उसी प्रकार काव्यरूपी कार्य के द्वारा इस वासना शक्ति की सत्ता का अनुमान किया जाता है[3]। राजशेखरके अनुसार प्रतिभा वह शक्ति है जो कवि के हृदय मे शब्द के समूह को, अर्थ के समुदाय को, उक्ति के मार्ग को तथा इसी प्रकार अन्य काव्य की सामग्री को प्रतिभासित करती है। प्रतिभाहीन व्यक्ति के लिए पदार्थ परोक्ष ही रहता है। परन्तु प्रतिभायुक्त व्यक्ति नेत्र शक्ति से विहीन होने पर भी पदार्थों को प्रत्यक्ष के समान देखता है और वर्णन करता है। राजशेखर ने एक बडे ऐतिहासिक तथ्य का परिचय इस प्रसंग में दिया है। वे कहते हैं कि

१—वक्रोक्तिजीवित पृ० ४९

२—कवित्व बीजं प्रतिभानम्। १।३।१६

कवित्वस्य बीजं कवित्वबीजम्, जन्मान्तरागत-संस्कारविशेषः कश्चित्। यस्माद्विना काव्यं न निष्पद्यते। निष्पन्नं वा हास्याऽऽयतनं स्यात्॥

वामन—काव्यालंकारसूत्र, १।३।१६ सूत्र पर वृत्ति

३—कवित्वस्य लोकोत्तरवर्णनानैपुण्यलक्षणस्य बीजमुपादानस्थानीयः संस्कारविशेषः। कार्यकल्पनीया काचिद्वासनाशक्तिः।

वही—१।३।१६ की टीका

मेधाविरुद्र और कुमारदास आदि कवि जन्म से ही अन्धे थे परन्तु उनके काव्यों में सासारिक पदार्थों का वर्णन जो इतना सचित्र और सटीक है वह प्रतिभा के ही विलास का फल है[१]।

इन विभिन्न आचार्यों के मतानुसार **प्रतिभा एक जन्मान्तरीय संस्कार-विशेष है**—ऐसा मानस धर्म है जो दूसरे जन्म मे होनेवाले कवित्व के संस्कार के परिपाक होनेपर उत्पन्न होता है। इसी के बल पर कवि उन वस्तुओं के वर्णन में भी समर्थ होता है, उन तत्त्वों के उन्मीलन मे भी कृतकृत्य होता है जो साधारण मानव-बुद्धि से कथमपि साध्य नहीं होते। संस्कृत के समग्र आलंकारिकों ने प्रतिभा को कवित्व का बीज माना है। प्रतिभा के सहारे ही महाकवि कालिदास ने[२] शाकुन्तल में हेमकूट पर्वतपर होनेवाले उन अद्भुत व्यापारों का तथा [३]मेघदूत में अलकापुरी के उन विलक्षण दृश्यों का वर्णन किया है जो भारतवर्ष में रहनेवाले कवि के द्वारा कथमपि दृष्ट नहीं हो सकते।

भामह के अनन्तर दण्डी ने काव्य-साधक हेतुओं में प्रतिभा के साथ शास्त्रज्ञान तथा अभ्यास को भी आवश्यक माना है। उनकी सम्मति में केवल प्रतिभा काव्य की स्फूर्ति के लिए समर्थ नहीं होती। उसके साथ निर्मल शास्त्र तथा अमन्द अभियोग का सहयोग भी उतना ही आवश्यक है[४]। प्रतिभा तो पूर्वजन्म की वासना के गुणों पर आश्रित रहती है। यदि किसी कवि को प्रतिभा की देन नहीं मिली है तो दण्डी उसे निरुत्साहित होकर काव्य-कला से पराङ्मुख होने की सलाह नहीं देते। वे यह भी आग्रह करते हैं कि यदि शास्त्र से तथा यत्न से कविता की उपासना की जाय, तो सरस्वती उस कवि

१—या शब्दग्राममर्थसार्थमलंकारतन्त्रमुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधिहृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा। अप्रतिभस्य पदार्थसार्थः परोक्ष इव। प्रतिभावतः पुनरपश्यतोऽपि प्रत्यक्ष इव। यतो मेधाविरुद्र-कुमारदासादयो जात्यन्धाः कवयः श्रूयन्ते॥

काव्यमीमांसा, अध्याय ४, पृ० ११—१२

२—शाकुन्तल, अंक ७।१२

३—मेघदूत-उत्तरभाग (पद्य १—१०)।

४—नैसर्गिकी च प्रतिभा, श्रुतञ्च बहु निर्मलम्।
अमन्दश्चाभियोगश्च, कारणं काव्यसम्पदः॥

दण्डी—काव्यादर्श १।१०३

के ऊपर अपनी अनुकम्पा अवश्यमेव दिखलाती है[१]। इस प्रकार दण्डी की सम्मति मे कवि के लिए प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास इन तीनों का योग होना नितान्त आवश्यक होता है।

वामन

वामन भी इस विषय में दण्डी के ही अनुयायी प्रतीत होते हैं। वे प्रतिभा को प्रतिभान शब्द के द्वारा अभिहित कर उसे कवित्व का बीज मानते हैं। इसके अतिरिक्त काव्यों से परिचय, काव्य-रचना में उद्यम, काव्योपदेश करनेवाले गुरु की सेवा तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान भी काव्य की अभिव्यक्ति में कारण मानते हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने अवधान—चित्त की एकाग्रता—को भी काव्य रचना का सहायक स्वीकार किया है। एकाग्र चित्तवाला व्यक्ति ही अर्थों का साक्षात्कार करता है तथा अपने काव्य मे उसे निबद्ध करता है। इस विषय मे वामन बहुत ही व्यावहारिक प्रतीत होते हैं। वे कहते हैं कि अवधान देश और काल से उत्पन्न होता है। एकान्त तथा निर्जन स्थान मे एव ब्राह्म मुहूर्त में चित्त आपसे आप प्रसन्न होता है। ऐसे स्थान तथा ऐसे समय मे कविता की उपासना करनेवाला साधक अपने मनोरथ में निःसन्देह सिद्ध होता है[२]। वामन का यह उपदेश आज भी हमारे लिए उसी प्रकार माननीय तथा उपादेय है जिस प्रकार से यह प्राचीन काल मे था। अवधान कवित्व का महनीय साधन है।

रुद्रट

रुद्रट ने भी काव्य-कारणों में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास को एक

१—न विद्यते यद्यपि पूर्ववासना,
गुणानुबन्धि प्रतिभानमद्‌भुतम्।
श्रुतेन यत्नेन च वागुपासिता,
ध्रुवं करोत्येव कमप्यनुग्रहम्॥

दण्डी—काव्यादर्श १।१०४

२—तत्र काव्यपरिचयो लक्ष्यज्ञत्वम्। काव्यबन्धोद्यमोऽभियोगः।
काव्योपदेशगुरुशुश्रूषणं वृद्धसेवा। पदाधानोद्धरणमवेक्षणम्।
कवित्वबीजं प्रतिभानम्। चित्तैकाग्र्यमवधानम्।
तद्देशकालाभ्याम्।

वामन–काव्यालंकार १।३।१२–१८

कारण माना है। प्रतिभा के स्थान पर वे 'शक्ति' को काव्य का प्रधान हेतु मानते हैं। एकाग्रचित्त होने पर अर्थों का अनेक प्रकार से विस्फुरण होता है तथा कमनीय पद स्वयं कवि के सामने प्रतिभासित होते हैं। जिस पदार्थ के द्वारा यह अपूर्व घटना घटित होती है उसी का नाम शक्ति है —

मनसि सदा सुसमाधिनि, विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्तिः ॥

रुद्रट—काव्यालकार १।१५

आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन की सम्मति मे व्युत्पत्ति तथा प्रतिभा दोनों काव्यसाधनों में प्रतिभा ही श्रेयस्कर है। शास्त्र की व्युत्पत्ति न रखनेवाला कवि अपने काव्य में अनेक दोषों का सम्पादन कर बैठता है। प्रतिभा इन समस्त दोषों को दूर कर देती है। दोष दोनों तरह से उत्पन्न होते हैं, अशक्ति से भी तथा अव्युत्पत्ति से भी। जिस प्रकार प्रतिभा से रहित कवि अनेक दोषों का उत्तरदायी होता है उसी प्रकार व्युत्पत्तिहीन कवि की भी दशा है। परन्तु इन दोनों मे पहिले प्रकार का दोष बड़ा ही जघन्य होता है। उसकी तुलना मे दूसरे प्रकार का दोष अकिञ्चित्कर है। प्रतिभा के प्रबल समर्थक आनन्द की उक्ति नितान्त सुव्यक्त है —

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य झगित्येवावभासते ॥

—ध्वन्यालोक।

आचार्य मंगल

आनन्द से ठीक विपरीत मत है आचार्य मंगल का, जो प्रतिभा और व्युत्पत्ति में व्युत्पत्ति को ही श्रेष्ठ मानते हैं। व्युत्पत्ति शब्द का अर्थ है बहुज्ञता। व्युत्पत्ति के बल पर ही कवि-वचन की एकदिशा नहीं होती। वे सब दिशाओं मे अव्याहत गति से फैलते हैं। अभ्यस्त विषय मे तथा प्रत्यक्षीकृत विषय मे किस कवि की वाणी प्रवृत्त नही होती ? कवि ने जिस विषय को स्वयं देखा है तथा जिसका अभ्यास स्वयं किया है उसका वर्णन वह किसी न किसी प्रकार कर ही सकता है तथा करता भी है। परन्तु यह क्या कविता है? कवि-वाणी के लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं रहता, कोई आवरण नही होता। वह इस जगत् के प्रत्येक स्थान को, प्रत्येक दिशा को स्पर्श करती हुई प्रवाहित

होती है और यह तभी सम्भव है जब कवि शास्त्रों मे व्युत्पत्ति प्राप्त करता है[1]। इसीलिए आचार्य मगल व्युत्पत्ति को प्रतिभा से श्रेष्ठ मानते हैं। व्युत्पत्ति ही कवि के अशक्तिजन्य सभी दोषों को आच्छादित कर देती है[2]।

राजशेखर

महाकवि राजशेखर ने इस विषय में अपने मत को प्रकट करते हुए कतिपय प्राचीन आलंकारिकों के मतों का भी उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि श्यामदेव नामक आलंकारिक के मत में काव्यकर्म में सबसे अधिक सहायक वस्तु है समाधि—चित्त की एकाग्रता[3]। समाहित होनेवाला चित्त ही अर्थों का उन्मीलन करता है। सारस्वत-रहस्य—काव्य-निर्माण—का उन्मेष तभी होता है जब कवि उसकी आराधना मनोयोग से करता है। इसकी सिद्धि का सबसे बड़ा उपाय यही है कि पदार्थों को भली भाँति जानने-वाले चित्त को काव्यकला की ओर एकाग्र किया जाय[4]। आचार्य मंगल की सम्मति इस विषय मे भिन्न[5] है। वे अभ्यास को ही काव्य-कर्म मे सब से अधिक उपयोगी साधन मानते हैं। राजशेखर का मत इन दोनों से भिन्न

१—प्रसरति किमपि कथञ्चन,
नाभ्यस्ते गोचरे वचः कस्य।
इदमेव तत्कवित्वं,
यद्वाचः सर्वतोदिक्काः॥

काव्यमीमांसा अ० ५, पृ० १६

२—कवेः सम्व्रियतेऽशक्तिर्व्युत्पत्त्या काव्यवर्त्मनि।
वैदग्धी-चित्रचित्तानां हेया शब्दार्थगुम्फना॥

वही।

३—काव्यकर्मणि कवेः समाधिः पर व्याप्रियते। इति श्यामदेवः।

वही—अ० ४, पृ० ११

४—सारस्वतं किमपि तत्सुमहारहस्यं
यद्गोचरे च विदुषां निपुणैकसेव्यम्।
तत्सिद्धये परमयं परमोऽभ्युपायो,
यच्चेतसो विदितवेद्यविधेः समाधिः॥

वही, अं० ४, पृ० ११

५—"अभ्यासः" इति मंगलः। वही।

है। वे शक्ति को ही काव्य-कला के उन्मीलन में प्रधान हेतु मानते है[१]। वे समाधि तथा अभ्यास दोनों को शक्ति का उद्भासक मानते हैं। केवल शक्ति ही काव्य मे हेतु होती है। शक्ति का विस्तार प्रतिभा और व्युत्पत्ति के द्वारा होता है और शक्ति के द्वारा प्रतिभा और व्युत्पत्ति का विकास होता है। शक्तिसम्पन्न पुरुष को ही वस्तुओं का प्रतिभास होता है तथा वही पुरुष शास्त्र में व्युत्पत्तिलाभ करता है। इसलिए प्रतिभा और व्युत्पत्ति की जननी होने के कारण राजशेखर शक्ति को ही काव्य के लिए सबसे अधिक उपादेय कारण मानते हैं। इस विषय मे उनका मत बहुत कुछ रुद्रट से मिलता है। इनके मत का स्पष्ट विवरण इस प्रकार है—
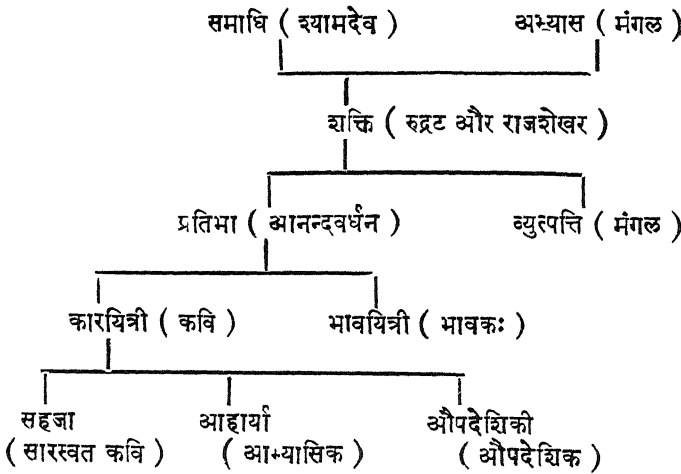
राजशेखर ने प्रतिभा को दो भागों में विभक्त किया है—**कारयित्री** और **भावयित्री**। कवि को काव्यकर्म मे उपकार करनेवाली प्रतिभा कारयित्री कही जाती है। इसी के बल पर कवि नवीन अर्थ की कल्पना करता है तथा उन्हें शब्दों का मञ्जुल वस्त्र पहनाकर सहृदयों के मनोरंजन के लिए उपस्थित करता है। **भावयित्री** प्रतिभा वह है जिसकी सहायता से भावक या आलोचक कवि के श्रम और अभिप्राय समझने में कृतकार्य होता

१—सा (शक्तिः) केवलं काव्ये हेतुः इति यायावरीयः। विप्रसृतिश्च सा प्रतिभाव्युत्पत्तिभ्याम्। शक्तिकर्तृके हि प्रतिभाव्युत्पत्तिकर्मणी। शक्तस्य प्रतिभाति शक्तश्च व्युत्पद्यते।

—काव्यमीमांसा

है। इस प्रकार राजशेखर की सम्मति में आलोचना-कर्म उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कवि-कर्म। आलोचक वही हो सकता है जो **भावयित्री** प्रतिभा से सम्पन्न हो। उचित भी यही प्रतीत हो रहा है। जिस शक्ति के बल पर कवि काव्य-रचना मे समर्थ होता है उसी शक्ति के बल पर उस काव्य-रचना का मूल्यांकन करना भी उचित है।

कारयित्री प्रतिभा को राजशेखर ने तीन भागों में विभक्त किया है—(१) **सहजा**, (२) **आहार्या** और (३) **औपदेशिकी**। **सहजा** शब्द-का अर्थ है जन्म के साथ उत्पन्न होनेवाली वस्तु। जो प्रतिभा पूर्व जन्म के सस्कार की अपेक्षा रखती है और इस जन्म के थोडे ही संस्कार से उद्बुद्ध हो जाती है वही सहजा कहलाती है। आहार्या शब्द का अर्थ है—आहरण के योग्य। **आहार्या** प्रतिभा जन्म और संस्कार से उत्पन्न होती है परन्तु उसको उद्बुद्ध करने के लिए अत्यन्त अधिक अभ्यास की अपेक्षा होती है। **औपदेशिकी** प्रतिभा मन्त्र, तन्त्र आदि के उपदेश से उत्पन्न होती है। उसके विकसित होने मे इसलिए विलम्ब होता है कि उसका उपदेशकाल भी यहीं है और उसका संस्कार-काल भी इसी जन्म मे है। फलतः उसे विलम्ब से सफल होना स्वाभाविक है।

मम्मट

आचार्य मम्मट का सिद्धान्त है कि **शक्ति, निपुणता** तथा **अभ्यास** काव्य की निष्पत्ति में सम्मिलित रूप से कारण होते हैं। शक्ति प्रतिभा का ही दूसरा नाम है जिसके बिना काव्य निष्पन्न नहीं होता और निष्पन्न होने पर वह काव्य लोक-प्रिय नहीं होता, प्रत्युत उपहास का कारण बनता है। काव्य, शास्त्र तथा अन्य विद्याओं के अनुशीलन से जो चातुरी उत्पन्न होती है उसी का नाम निपुणता है। प्राचीन आचार्यों के द्वारा व्यवहृत व्युत्पत्ति को ही मम्मट ने निपुणता का नाम दिया है। काव्य के मर्मज्ञ विद्वान् के पास रहकर उसकी शिक्षा के द्वारा काव्य-कला के निरन्तर चिन्तन का ही नाम अभ्यास है। सद्गुरु की उपासना कवि की बुद्धि के विकास मे काम-धेनु के समान फलवती मानी जाती है। विद्यावृद्ध पुरुषों के साथ समागम कवि के लिए क्या नहीं करता? वह अर्थ के ग्रहण मे कवि की बुद्धि को विकसित करता है, मन को ऊहापोह के काम में विशद बनाता है। किस शब्द का प्रयोग कहाँ उचित है और कहाँ अनुचित, किसी पद के हटाने में कविता में कौन-सा दुर्गुण उत्पन्न हो जाता है, और उसके रखने पर

कितनी रोचकता आ जाती है—इन विषयों का ज्ञान विद्या-वृद्ध के साथ परिचय होने से ही होता है[१]। सच तो यह है कि काव्यमर्मज्ञ की शिक्षा कविता के जिज्ञासुओं के लिए अमृत का काम करती है। 'काव्यज्ञ' से अभिप्राय केवल उन व्यक्तियों से नहीं है, जो केवल काव्य की सृष्टि में ही प्रवीण हैं, प्रत्युत उन लोगों से भी है जो काव्य की आलोचना मे दक्ष हैं। अतः काव्य के अभ्यास करनेवाले व्यक्ति को व्यावहारिक कवि तथा आलोचक दोनों से शिक्षा लेनी चाहिए। प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति से सम्पन्न होनेपर भी कवि अपने मनोरथ में तब तक कृतार्थ नहीं होता जब तक वह सद्गुरु की शिक्षा से काव्य का अभ्यास नहीं करता। मम्मट ने शक्ति, निपुणता तथा अभ्यास, इन तीनों को काव्य का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग कारण न मानकर सम्मिलित रूप से ही कारण माना है और इसीलिए उन्होंने इस सुप्रसिद्ध कारिका मे 'हेतु' शब्द का एकवचन में प्रयोग किया है, बहुवचन में नहीं (हेतुर्नतु हेतवः)—

शक्तिर्निपुणता लोक-शास्त्र-काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

—काव्यप्रकाश १।३

इस विवेचन का निष्कर्ष यह है कि काव्यस्फूर्ति के निमित्त शक्ति या प्रतिभा तो सर्वातिशायी साधन है, परन्तु उस शक्ति को व्युत्पत्ति तथा अभ्यास द्वारा विकसित करने की भी आवश्यकता होती है। शुष्क ईंधन के योग से जैसे अग्निस्फुलिंग एक नितान्त स्पष्ट लपट के रूप मे परिवर्तित हो जाता है, व्युत्पत्ति तथा अभ्यास के योग से प्रतिभा की भी वही दशा है। इसीलिए आचार्यगण तीनों को काव्यसाधना मे समन्वित कारण मानते हैं।

२—काव्यमातरः

'काव्य का मूलस्रोत क्या है' इस विषय मे प्राचीन आचार्यों में बडा मतभेद है। 'काव्य का वर्ण्य-विषय क्या है' यह प्रश्न बडा ही रोचक है

---

१. प्रथयति पुरः प्रज्ञाज्योतिर्यथार्थपरिग्रहे
तदनु जनयत्यूहापोहक्रियाविशदं मनः।
अभिनिविशते तस्मात्तत्त्वं तदेकमुखोदयं
सह परिचयो विद्यावृद्धैः क्रमादमृतायते॥

—काव्यमीमांसा, अ० ४, पृ० ११

परन्तु साथ साथ कठिन भी है। कवि को अपने काव्य के लिए कहाँ से प्रेरणा मिलती है तथा वह अपनी कविता मे किन वस्तुओं का वर्णन करता है? इसे निश्चित रूप से बतलाना निश्चय ही कठिन है। कवि का उत्तरदायित्व बड़ा ही महान् होता है। जगत् की ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जिससे कवि अपनी कविता के लिए सामग्री ग्रहण नहीं करता और उसका अपने काव्य मे समावेश नहीं करता। कवि स्वयं स्रष्टा है। वह अपनी कल्पना के बल पर एक नये जगत् की सृष्टि करता है। इस सृष्टि की सामग्री वह अपने सामने विद्यमान रहनेवाली ब्राह्मी सृष्टि से ही ग्रहण करता है। इस सृष्टि से यथार्थतः परिचय पाना ही 'व्युत्पत्ति' है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति—ये कवि के दक्षिण और वाम भुजाओं की भाँति उसकी सदा सहायता करती हैं। प्रतिभा की पर्याप्त सहायिका होती है व्युत्पत्ति। भरत मुनि का यह कथन नितान्त तथ्यपूर्ण तथा असंदिग्ध है—

> न तत् ज्ञानं, न तत् शिल्पं, न सा विद्या न सा कला।
> न स योगो न तत् कर्म, नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
>
> —नाट्यशास्त्र १।११७

जगत् मे ऐसा कोई ज्ञान नहीं है, ऐसा कोई शिल्प नहीं है, ऐसी कोई विद्या नहीं है, कला नहीं है, ऐसी कोई युक्ति नहीं है, और ऐसा कोई कर्म नहीं है जो नाट्य मे दिखलाई न पडे। अर्थात् संसार की समग्र विद्याएँ नाट्य के अग हैं। भामह ने भी कविकर्म की महनीयता दिखाने के लिए भरत के शब्दों को ही प्रकारान्तर से दुहराया है—

> न स शब्दो न तद्वाच्यं न स न्यायो न सा कला।
> जायते यन्न काव्याङ्गमहो! भारो महान् कवेः॥
>
> —भामह काव्या० ५।४

रुद्रट ने भी भामह का पदानुसरण कर कवि को सब प्रकार के विषयों से परिचित होने की बात लिखी है। लोक मे ऐसा न कोई वाच्य है और न वाचक है, न कोई शब्द और न अर्थ है जो काव्य का अंग न हो सके। इसी लिए कवि को सर्वज्ञ होने की आवश्यकता है —

> विस्तरतस्तु किमन्यत् तत इह वाच्यं न वाचकं लोके।
> न भवति यत्काव्याङ्गं सर्वज्ञत्वं ततोऽन्यैषा॥
>
> रुद्रट—काव्यालकार १।१

संक्षेप मे कविता का विषय है **लोक और शास्त्र**[१]। 'लोक' से अभिप्राय है स्थावर और जगम पदार्थों के वृत्त से[२]। पाश्चात्य कवियों के अनुसार काव्य का विषय है मनुष्य और प्रकृति (मैन एण्ड नेचर)। इन दोनों का समावेश हमारे यहाँ लोक के अन्तर्गत किया गया है। 'शास्त्र' तथा विद्या से अभिप्राय है व्याकरण, कोश, छन्दःशास्त्र, कला, कामशास्त्र तथा दण्डनीति आदि से। काव्य की अर्थ योजना मे इनका कितना उपयोग है इसे विशेष रूप से बतलाने की आवश्यकता नहीं है। कविता मे शुद्ध शब्दों का प्रयोग पहिली आवश्यक बात है और यह शब्द-शुद्धि 'व्याकरण' के अध्ययन से ही प्राप्त की जा सकती है। पदों के अर्थ का निश्चय 'कोश' की सहायता से किया जाता है। शब्दार्थ की सन्देहदोला मे झूलनेवाले कवि की स्थिति बडी ही डाँवाडोल हुआ करती है। वह न तो ऐसे शब्द को ग्रहण ही कर सकता है और न उसका त्याग ही। ऐसी दशा में कोश ही उसकी सहायता करता है। कोश, राजा तथा कवि दोनों की सार्थकता का प्रधान हेतु होता है। लोक-प्रयोग की परीक्षा से सामान्य रूप से अर्थ का ज्ञान सभव है परन्तु उनकी विशेष रूप से अर्थ की जानकारी कोश के द्वारा गम्य होती है। छन्दःशास्त्र के अध्ययन से वृत्तों मे उत्पन्न होने वाले सन्देह का निराकरण होता है। काव्य के अनुशीलन से छन्दःशास्त्र का सामान्य ज्ञान हो जाता है परन्तु वृत्तों के विशेष रूपको जानने के लिए छन्दःशास्त्र का गाढ अध्ययन नितान्त आवश्यक है। कला-शास्त्र की सहायता से कला के सिद्धान्तों का ज्ञान कवि प्राप्त करता है। कलाओं की सख्या चौसठ मानी गयी है जिसके भीतर अनेक व्यावहारिक तथा ललित कलाओं का सन्निवेश किया गया है। इन कलाओं का समावेश कवि को अपने काव्य में प्रसंगानुसार करना ही पडता है। अतः इसके स्वरूप को ठीक से जानने के लिए कलाशास्त्र का अध्ययन करना कवि के लिए नितान्त आवश्यक है। कामशास्त्र के विषयों का परिचय वात्स्यायन-सूत्र आदि ग्रन्थों से करना चाहिए। राजनीति, दण्डनीति तथा अर्थशास्त्र आदि के परिचय के लिए तद्विषयक ग्रन्थों का अनुशीलन तथा अभ्यास कवियों के लिए अत्यन्त प्रयोजनीय होता है।

विनयचन्द्र ने अपनी 'काव्य-शिक्षा' मे निम्नांकित विषयों से कवि को परिचित होना आवश्यक बतलाया है—

१—लोको विद्या प्रकीर्णञ्च काव्याङ्गानि।

२—लोकवृत्तं लोकः। लोकः स्थावरजगमात्मा च। तस्य वर्तनं वृत्तमिति। —वामन, काव्या०, १३१, १३२

तर्कपरिचय, व्याकरण-परिचय, चाणक्य परिचय, धनुर्वेदीय, उत्पाद्य-संयोग, भारत-परिचय, रामायण-परिचय, मोक्षोपाय परिचय, आत्मज्ञान-परिचय, धातुवाद-परिचय, पुरुष-लक्षण-परिचय, द्यूतपरिचय, चित्र-परिचय, वृक्षपरिचय, वनेचरपरिचय, भक्तिपरिचय, विवेकपरिचय, प्रशम-परिचय, हस्तिपरिचय, वैद्यक-परिचय, शास्त्र-परिचय, गजलक्षण-परिचय एव तुरगलक्षण परिचय।

क्षेमेन्द्र ने भी अपने 'कविकण्ठाभरण' में कवियों की जानकारी के लिए ऐसे ही आवश्यक विषयों की एक लम्बी फिहरिस्त दे रखी है।

राजशेखर ने काव्यार्थ के मूल का वर्णन करते हुए इनके सोलह भेदों का विस्तार के साथ वर्णन किया है।[1] वे मूल ये हैं—

श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण, प्रमाणविद्या (दर्शनशास्त्र), समय-विद्या (तन्त्रशास्त्र), राजसिद्धान्तत्रयी (अर्थशास्त्र,नाट्यशास्त्र, काम-शास्त्र), लोक (प्राकृत तथा व्युत्पन्न मनुष्य), विरचना (कवि की प्रतिभा से निर्मित कथा-विशेष), प्रकीर्णक (विविध वस्तु यथा—हस्तिशिक्षा, रत्नपरीक्षा, धनुर्वेद, आदि) उचितसंयोग, योक्तृसयोग, उत्पाद्य-संयोग और संयोगविकार। तथ्य यह है कि काव्य का क्षेत्र सकुचित नही है। उसके लिए मनुष्य, प्रकृति तथा शास्त्र समग्र विषयों का ज्ञान अपेक्षित रहता है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों की सम्मति है—

> श्रुतीना साङ्गशाखानामितिहासपुराणयोः।
> अर्थग्रन्थः कथाभ्यासः कवित्वस्यैकमौषधम्[2] ॥
>
> —काव्यमीमासा

'कवित्व' की दवा क्या है ? वेद, वेदाग, इतिहास, पुराण तथा अन्य तत्सदृश ग्रन्थों के अर्थ का चिन्तन तथा किसी वस्तु के वर्णन की कला का अभ्यास। चिन्तन तथा अभ्यास मिलकर काव्य के लिए प्रधान औषध का काम करते हैं।

३—अर्थव्याप्ति

(काव्यार्थ की सीमा)

काव्य मे निर्दिष्ट अर्थ का क्षेत्र कहाँ तक विस्तृत है ? इस प्रश्न का विचार-पूर्ण उत्तर भी संस्कृत के आलोचकों ने दिया है। द्रौहिणि नामक

---

१. देखिए काव्यमीमांसा, अ० ८, पृ० ३५।

२. काव्यमीमांसा, पृ० ३६,

आचार्य की सम्मति में अर्थ-व्याप्ति तीन प्रकार की होती है—(१) **दिव्य,** (२) **दिव्यमानुष** और (३) **मानुष**। '**दिव्य**' का अर्थ है स्वर्ग मे रहनेवाले देवताओं के मिश्रित चरित्र का चित्रण। '**दिव्यमानुष**'—स्वर्ग तथा मर्त्यलोक के व्यक्तियों के मिश्रित चरित्र का वर्णन। यह अनेक प्रकार से काव्य मे सभव होता है। एक तो वह प्रकार है जिसमे दिव्य पुरुष का मर्त्यलोक मे और मर्त्य पुरुष का स्वर्गलोक में जाने का वर्णन किया जाय। इसका दूसरा प्रकार तब होता है जब दिव्य पुरुष मर्त्य रूप धारण कर ले और मर्त्य व्यक्ति दिव्य रूप को ग्रहण करे। तीसरे प्रकार मे दिव्य इतिवृत्त (इतिहास) की कल्पना की जाती है। चौथे प्रकार में मर्त्य व्यक्ति के प्रभाव के कारण दिव्य भाव की प्राप्ति का वर्णन किया जाता है। '**मानुष**' प्रकार मे केवल मर्त्य लोक के निवासियों का चरित्र वर्णित रहता है।

राजशेखर के अनुसार यह अर्थ-व्याप्ति सात प्रकार की होती है। ऊपर वाले तीन भेद मे ये निम्नलिखित चार भेदों को जोडकर इनकी संख्या सात मानते हैं—(४) **पातालीय,** (५) **मर्त्यपातालीय,** (६) **दिव्य-पातालीय,** (७) **दिव्यमर्त्य पातालीय**। **पातालीय** भेद तब होता है जब पाताल के निवासियों के चरित्र का काव्य मे वर्णन किया जाय। **मर्त्य-पातालीय** तब होगा जब मर्त्य और पाताल, इन दोनों लोकों का चरित्र एकत्र मिश्रित कर वर्णित हो। **दिव्यपातालीय** भेद मे स्वर्ग तथा पाताल के निवासियों से संबद्ध चरित्र का वर्णन किया जाता है। जब तीनों लोकों—दिव्य, मर्त्य, पाताल—का वर्णन एकत्र अपेक्षित होता है उसे **दिव्य मर्त्य-पातालीय** कहते हैं।

उद्भट का मत

तात्पर्य यह है कि काव्य का अर्थ निःसीम है, अवधिरहित है, सीमा-विहीन है, अपरिमित है। आचार्य उद्भट के अनुयायियों ने इस विपुल अर्थराशि को दो भागों में विभक्त किया है—(१) **विचारितसुस्थ** (२) **अविचारित-रमणीय**। '**विचारितसुस्थ**' अर्थ उसे कहते हैं जो तर्क तथा युक्ति से विचार करने पर शोभन तथा रुचिकर प्रतीत होता है। '**अवि-चारित-रमणीय**' अर्थ वह होता है जिसमें तर्क तथा युक्ति का उपयोग न करके केवल कल्पना के बल पर रमणीय अर्थ की सृष्टि की जाय। पहले प्रकार का उदाहरण है शास्त्र तथा दूसरे प्रकार का उदाहरण है काव्य।

कालिदास का यह पद्य काव्यार्थ की विशेषता को समझने के लिए उदाहरण रूप से दिया जा सकता है—

त आकाशमसिश्याममुत्पत्य परमर्षयः ।
आसेदुरोषधिप्रस्थं मनसा समरंहसः ॥

—कुमारसंभव ६।३६

श्लोक का भावार्थ है कि मन के समान वेगवाले महर्षि लोग तलवार के समान श्याम रंग वाले आकाश मे उडकर हिमालय के ओषधिप्रस्थ नामक स्थान मे पहुँचे। इस पद्य मे आकाश को कालिदास ने 'असिश्याम' (तलवार के समान श्याम रंगवाला) लिखा है, परन्तु क्या यह बात सही है ? युक्तियों के बल पर विज्ञान हमे बतलाता है कि आकाश का कोई भी निजी रंग नही है। फिर भी कल्पना के बल से कवि अपने अनुभव का उपयोग करता है।

भामह ने भी एक सुन्दर उदाहरण देकर इस विषय को समझाने का प्रयत्न किया है —

असिसकाशमाकाशं शब्दो दूरादुपैत्ययम् ।
तदेव वारिसिन्धूनामहो स्थेमा महार्चिषः ॥

—भामह काव्यालंकार ५।३४

इस पद्य मे भामह ने आकाश को तलवार के समान, शब्द को दूर से आनेवाला, नदी के जल को एकाकार तथा अपरिवर्तनशील एवं आकाश के सूर्यचन्द्रादिक ग्रहों का स्थिर होना वर्णित किया है। यह विचारणीय प्रश्न है कि क्या यह दृश्य कभी सभव है ! नदी का प्रवाह इतना वेगवान् होता है कि उसका जल क्षणक्षण मे बहता चला जाता है और परिवर्तित होता रहता है। ऐसी दशा में नदी के जल को 'तदेव'—वही (अपरिवर्तन-शील) कहना कहाँ तक न्यायसंगत है ? इसी प्रकार विज्ञान हमे सिखलाता है कि आकाश के तेजस्वी ग्रह (चन्द्र, शुक्र आदि) गतिशील हैं, एक स्थान पर नहीं रुकते। ऐसी दशा मे इन ग्रहों का स्थिर होना वर्णित करना उचित नहीं है। उद्भट के अनुसार ये दोनों श्लोक 'अविचारित-रमणीय' के मनोरम उदाहरण हैं।

परन्तु राजशेखर को इस मत मे नितान्त अरुचि है। यदि काव्य केवल तथ्यरहित काल्पनिक वस्तुओं का ही रूप प्रस्तुत करता है तो हमारे लिए उसका कोई उपयोग है ही नहीं। कौन ऐसा भलामानुस होगा जो पदार्थों के असत्य रूप के परिचय पाने के लिए ही काव्यों के अनुशीलन का अश्रान्त

परिश्रम स्वीकार करेगा ? इसलिए राजशेखर की यह परिनिष्ठित सम्मति है—शास्त्र तथा काव्य के कर्ताओं को वस्तु का स्वरूप जैसा प्रतिभात होता है उसका वर्णन वे उसी रूप में करते हैं[1], अपनी ओर से नमक-मिर्च नहीं मिलाते।

पदार्थ का द्वैविध्य

समस्या गम्भीर तथा विचारणीय है। पदार्थ का रूप काव्य में किस प्रकार निबद्ध होना चाहिए ? पदार्थ का रूप दो प्रकार का होता है— (१) **स्वरूप-निबन्धन** तथा (२) **प्रतिभास-निबन्धन**। प्रथम प्रकार मे पदार्थ के यथावस्थित तात्त्विक यथार्थ रूप का उपबृंहण होता है तथा दूसरे प्रकार मे कवि के द्वारा अनुभूत अनुभवगम्य रूप की सृष्टि होती है। प्रथम प्रकार की प्राप्ति होती है दार्शनिक जगत् मे। दूसरे प्रकार की उपलब्धि होती है काव्य-जगत् में। स्वरूप-निबन्धन होना है विज्ञान का विषय तथा प्रतिभास निबन्धन होता है काव्य का विषय। काव्यतथ्य तथा वैज्ञानिक तथ्य के परस्पर विभेद का भी यही रहस्य है। वैज्ञानिक अपने यन्त्रों की सहायता से किसी पदार्थ के यथार्थ रूप के समझने में कृतकार्य होता है। कवि की वह दृष्टि नहीं। उसके पास अपना विशिष्ट साधन है प्रतिभा। प्रतिभा के बल पर पदार्थ का जो रूप कवि की दृष्टि मे प्रतिभासित होता है उसी के वर्णन मे वह संलग्न रहता है। अतः काव्य मे वैज्ञानिक तथ्यों को खोजने का कोई भी आलोचक श्रम नहीं करता। तथापि काव्यसत्य का अपना विशिष्ट महत्त्व है। वनस्पतिशास्त्री से जाकर गुलाब के विषय मे पूछिये। वह गुलाब की पुष्प-जाति का नाम बताएगा, उसके उगने के कारणों का विवरण देगा; उसके रूप, रंग, अंग-प्रत्यंग, पत्ते-पंखुडियों का विश्लेषण कर देगा। गुलाब के यावत् ज्ञातव्य वस्तुओं का विश्लेषणपूर्वक विवरण उपस्थित कर देगा। बस यही होता है वस्तु का 'स्वरूप-निबन्धन' रूप। कविजी के पास जाकर गुलाब का हाल पूछिये। वे भीनी-भीनी गन्ध फैलानेवाले, मधुकरों की भीड़ को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले, चटकीले

१—न स्वरूपनिबन्धनमिव रूपमाकाशस्य। सरित् सलिलादेवां। किन्तु प्रतिभासनिबन्धनम्।... .....

यथाप्रतिभासं च वस्तुनः स्वरूपं शास्त्रकाव्ययोर्निबन्धनोपयोगि ॥

(का० मी०, अ० ९, पृ० ४४)

रग से रंजित, जनमत-रजन के प्रधान हेतु पुष्पराज का एक चमकीला चित्र शब्दों के माध्यम द्वारा झट प्रस्तुत कर देगे। यही हुआ वस्तु का 'प्रतिभास-निबन्धन' रूप। पहिला है वैज्ञानिक का क्षेत्र, तो दूसरा है कवि का क्षेत्र। दोनों का वस्तु-रूप के विवरण मे निजी महत्त्व तथा वैशिष्ट्य है। दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। वैज्ञानिक का चित्रण होता है विश्लेषणात्मक, तो कवि का होता है संवलनात्मक। वैज्ञानिकों के लिए आवश्यक होती है प्रज्ञा, तो कवि के लिए उपादेय होती है प्रतिभा। राजशेखर का यही महनीय मन्तव्य है जो आधुनिक पाश्चात्य विद्वानों को भी सर्वथा मान्य है। आधुनिक जगत् के मान्य मनोवैज्ञानिक युग का प्रतिभाजन्य सृष्टि का वर्णन राजशेखर के मत को पुष्ट कर रहा है[1]।

लोल्लट का मत

आचार्य आपराजिति (लोल्लट) ने भी काव्यार्थ के विचार के अवसर पर एक बडे ही पते की बात कही है। उनका मत है—**"रसवत एव निबन्धो युक्तो न नीरसस्य"**। रस-सम्पन्न अर्थ का ही निबन्धन काव्य मे उचित होता है, नीरम का नहीं। संस्कृत महाकाव्य मे स्नान, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय, प्रभात आदि का वर्णन विषय की पुष्टि के लिए तथा काव्य को महनीय बनाने के हेतु एक प्रकार से आवश्यक होता है। परन्तु यह वर्णन प्रकृत रस के अनुकूल होना चाहिए। काव्य मे जिस रस का उन्मेष कवि को अभीष्ट हो उस रस के साथ इन विविध विषयों के वर्णन का सामञ्जस्य होना ही चाहिए। परन्तु इतना स्मरण रखना होगा कि सरस होने पर भी यह वर्णन मात्रा मे अत्यधिक न होना चाहिए। 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' की नीति व्यवहार-जगत के समान काव्य-ससार के लिए भी जरूरी ही है। औचित्य की दृष्टि से वर्ण्य-वस्तु की मात्रा का विचार भी नितान्त आवश्यक है—

---

1 Active phantasies are called forth by intuition by an attitude directed to the perception of unconscious contents in which libido immediately invests all the elements emerging from the unconscious, and, by means of association with parallel material, brings them to definition and plastic form. Yung—Psychological Types, P 574

मज्जनपुष्पावचयनसन्ध्या-चन्द्रोदयादि - वाक्यमिह ।
सरसमपि नाति बहुलं प्रकृतरसानन्वितं रचयेत् ॥
—का० मी०, अ० ९, पृ० ४५

रसवादी आचार्य होने के नाते लोल्लट का रसमय वस्तु पर यह आग्रह सर्वथा शोभन तथा युक्तियुक्त है। वे उन कवियों की खिल्ली उड़ाने से तनिक भी नहीं चूकते जो समुद्र, नदी आदि के वर्णन के अवसर पर नीरस वस्तुओं के विस्तृत वर्णन में ही अपनी काव्यकला का चरम अवसान समझते हैं। उनका यह उद्योग अपने कवित्व के प्रकाशन के लिए ही होता है, काव्य की प्रकृत-सेवा के लिए नहीं[1]।

राजशेखर लोल्लट के इस मत से पूर्णतया सहमत हैं। इस विषय में उनके द्वारा उपदिष्ट मार्ग महाकवियों को भी सर्वथा ग्राह्य है। भारतीय आलोचकों तथा कवियों ने नग्न प्रकृति के चित्रण पर अपने काव्यों में कभी आग्रह नहीं दिखलाया है। यही कारण है, पश्चिमी साहित्य में प्रकृति का जैसा नग्न वर्णन उपलब्ध होता है वैसा संस्कृत-साहित्य में अधिक नहीं मिलता।

माघकवि ने सूर्योदय का कितना चित्रमय वर्णन उपस्थित किया है। इस वर्णन को पढ़ने से सूर्योदय का सजीव दृश्य आँखों के सामने चित्रित दिखाई पड़ता है। इसकी यथार्थता का अनुभव पर्वतीय प्रदेश में सूर्योदय को निरखनेवालों को निःसन्देह होता है।

विततपृथुवरत्रा-तुल्यरूपैर्मयूखै,
कलश इव गरीयान् दिग्भिराकृष्यमाणः।
कृतचपलविहङ्गालापकोलाहलाभिः
जलनिधिजलमध्यादेष उत्तार्यतेऽर्कः ॥
—शिशुपालवध ११।४४

कवि कहता है कि जिस प्रकार घड़ा (कलश) रस्सी की सहायता से कुएँ से बाहर निकाला जाता है उसी प्रकार पूर्वसमुद्र में डूबे हुए सूर्य को दिशा किरणरूपी रस्सियों से खींचकर बाहर निकाल रही है। जिस प्रकार घड़े को जल से निकालने के समय बड़ा कोलाहल होता है, उसी प्रकार प्रातःकाल में चहचहाती चिड़ियाँ शोर मचा रही हैं। चारों ओर फैली

१—यस्तु सरिदद्रिसागर पुरतुरगरथादिवर्णने यत्नः।
कविशक्तिख्यातिफलो विततधियां नो मतः स इह ॥
—का० मी०, अ० ९, पृ० ४५

हुई, मोटी रस्सियों के समान किरणों के द्वारा, दिशारूपी नारियों से बाहर खींचे जाते हुए सूर्य का यह वर्णन कितना सरस, कितना रमणीय और सचित्र है !

नदी का यह निम्नाकित वर्णन कितना रोचक और मर्मस्पर्शी है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजाः ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणा विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

—वही ४।४७

पहाडी नदियों कलकल शब्द करती हुई बह रही हैं । ये निडर होकर पर्वत की गोद में लोटपोट किया करती हैं । अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं । आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं । इस कारण रैवतक, चिडियों के करुण स्वर के द्वारा, जान पडता है प्रेम के कारण, रो रहा है । नदियों को पर्वत की पुत्री की कल्पना तथा उनके कलकल ध्वनि की करुण क्रन्दन से उपमा कितनी सजीव और मर्मस्पर्शी है ।

महाकवि माघ का यह वर्णन प्रकृत रस से पूर्ण समञ्जस है तथा औचित्य की परिमिति के अन्तर्गत है । इसीलिए यह ग्राह्य तथा श्लाघ्य है । फलतः रसान्वय अथवा रसानुकूलता किसी भी वर्णन की चमत्कारिता के लिए नितान्त आवश्यक है । लोल्लट के मत का अनुगमन आलोचकों तथा कवियों ने समान भाव से किया है ।

४—कवि-शिक्षा

राजशेखर ने कवियों के लिए कुछ बहुत ही व्यावहारिक नियम लिखे हैं जिनके अनुसरण करने से आज भी हमारे कविगण विशेष लाभ उठा सकते हैं । कविता लिखते समय कवि को अपनी शक्ति का स्वय विचार करना चाहिए कि काव्य-कला के सम्बन्ध मे मेरा कितना सस्कार है ! किस भाषा की कविता लिखने मे मेरी शक्ति है ? जिन लोगों के लिए कविता लिखी जा रही है उनका झुकाव किधर है ? किस प्रकार के लोगों की गोष्ठी मे उस कविता का पाठ होनेवाला है ? किस विषय मे कवि का चित्त स्वतः लगता है । इन बातों का विचार करके ही कवि को किसी भाषा-विशेष में कविता करनी चाहिए । यह सम्मति पूर्व आचार्यों का है परन्तु राजशेखर की सम्मति में यह नियम-निर्धारण एकदेश कवि के लिए है । परन्तु स्वतन्त्र कवि के

लिए तो एक भाषा के समान सभी भाषाएँ होती हैं। जिस भाषा की ओर उसकी रुचि हुई उसी मे सरस कविता की वर्षा करने लगता है।

कवि के लिए किसी विशिष्ट भाषा मे कविता करने के लिए देश-विशेष भी कारण होता है। जैसे बंगाल में रहनेवाला कवि यदि तेलगु भाषा मे कविता करे तो यह उचित नही होगा और मद्रास का निवासी कवि गुजराती मे काव्य-रचना करे तो यह भी उपयुक्त नहीं है। राजशेखर ने इस विषय का बडा ही सुन्दर वर्णन उपस्थित किया है। सप्तम शताब्दी के आरम्भ मे किस देश का निवासी किस भाषाविशेष मे अनुराग करता था इसका उल्लेख आज भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राजशेखर का कथन है कि गौड (बगाल) आदि पूर्वी देशों के कवि संस्कृत भाषा का विशेष आदर करते थे। लाट देश (गुजरात) के निवासी प्राकृत भाषा मे रुचि रखते थे। मरुभूमि (राजपूताना), टक्क (विपाशा तथा सिन्धु नदी के बीच का पंजाब का प्रान्त) तथा भादानक (उत्तरी भारत का कोई स्थान-विशेष) के कवि अपभ्रंश से मिली-जुली हुई भाषा का प्रयोग करते थे। अवन्ति (उज्जैन) तथा दशपुर (मालवा का मन्दसोर नामक स्थान) के कविगण पैशाची से प्रेम रखते थे। परन्तु मध्यदेश के मध्य (पाञ्चाल देश तथा कान्यकुब्ज प्रदेश) में निवास करनेवाला करनेवाला कवि सब भाषा मे काव्यरचना करने मे चतुर होता है।

> गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः
> सापभ्रंश-प्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च।
> आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते,
> यो मध्ये मध्यदेशं निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः॥
>
> —काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृ० ५१

कवि को अपनी काव्यशक्ति पर पूर्ण विश्वास होना चाहिए। केवल लोकों के अपवाद के कारण से अपनी अवहेलना न करे। आजकल के कुछ कविगण कवि-सम्मेलन में अपनी कविता बड़े उत्साह के साथ सुनाने जाते हैं। परन्तु अशिक्षित जनता के हँस पड़नेपर, अथवा उनकी कविता की खिल्ली उडाने पर उनका उत्साह भंग हो जाता है, उनका हौसला पस्त हो जाता है और वे सदा के लिए कविता लिखने से विरत हो जाते हैं। ऐसे कवियों को याद रखना चाहिए कि जनता निरंकुश हुआ करती है। अतः उसके अपवादमात्र से अपनी जुगुप्सा कदापि न करे। उसे अपनी आत्मशक्तिपर पूरा विश्वास रखना

चाहिए। तभी उसे काव्यकला मे सफलता मिल सकती है। इस विषय मे राजशेखर का यह कथन कितना सटीक है—

जनापवादमात्रेण, न जुगुप्सेत चात्मनि।
जानीयात् स्वयमात्मान, यतो लोको निरंकुशः॥

—काव्यमीमांसा, अ० १०, पृ० ५१

लोगों की रुचि भी काव्य के विषय मे कितनी विलक्षण हुआ करती है। वे वर्तमान जीवित कवि—चाहे वह कितना भी बडा (महान्) क्यों न हो—के काव्य मे सदा छिद्रान्वेषण ही किया करते हैं। दिवंगत कवि की कविता को तो वे बडे आदर की दृष्टि से देखते है। दूसरे देश में रहनेवाले कवि की कविता की स्तुति करते हैं, परन्तु वर्तमान कवि के काव्य से उन्हे ऐसी चिढ़ होती है कि सदा उसकी अवहेलना ही किया करते हैं। इसीलिए सस्कृत मे यह कहावत है कि प्रत्यक्ष कवि का काव्य, कुलकामिनी का रूप तथा घरेलू वैद्यकी विद्या शायद ही किसी को अच्छी लगती है :—

प्रत्यक्षं कविकाव्यञ्च, रूपं च कुलयोषितः।
गृहवैद्यस्य विद्या च, कस्मैचिद् यदि रोचते॥

—काव्यमीमांसा

जनता की काव्यप्रवृत्ति का वर्णन राजशेखर ने इन शब्दों मे कितना सुन्दर किया है—

गीतसूक्तिरतिकान्ते, स्तोता देशान्तरस्थिते।
प्रत्यक्षे तु कवौ लोक:, स्तवज्ञः सुमहत्यपि॥

—का० मी०—वही

सस्कृत के महाकवि भवभूति इस विषय में भुक्तभोगी थे। उनकी सुन्दर कविता लोगों के निरादर की पात्री बनी हुई थी। लोगों की इस प्रवृत्ति से चिढ़कर ही उन्होंने अन्य कवियों को उपदेश दिया है कि पूर्ण विचार के साथ कविता करनी चाहिए। लोगों की निन्दा के डर से काव्य-कला का परित्याग करना कथमपि उचित नहीं हैं। ऐसी कौन-सी कविता है जिसकी जनता निन्दा नहीं करती? उनका तो यह स्वभाव ही है। स्त्रियो की सदाचारिता तथा कविता की विशुद्धि मे साधारण मनुष्य भी सन्देह करता है।

सर्वथा व्यवहर्तव्यं, कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥

—उत्तररामचरित, अंक १।३

इसीलिए महाकवि कालिदास ने जनता को काव्यकला का प्रतिनिधि आलोचक न मानकर मर्मज्ञ विद्वान् को ही आलोचना का अधिकारी माना है। उनके मतानुसार किसी भी कला का प्रयोग तब तक साधु तथा शोभन नहीं है जब तक विद्वानों का (जनता का नहीं) उससे सन्तोष नहीं होता। विद्वानों—काव्यकला के मर्मज्ञों—का परितोष ही सुन्दर कविता की सच्ची कसौटी है—

आपरितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्।

—शाकुन्तल १।२

जनता किस प्रकार अच्छे कवियों की कविता में भी व्यर्थ छिन्द्रान्वेषण किया करती है इसका एक सुन्दर उदाहरण यहाँ देना अनुपयुक्त न होगा।

कहा जाता है कि एक बार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र किसी कवि सम्मेलन मे अपनी कविता सुना रहे थे। उन्होंने अपनी कविता मे किसी ऐसी वस्तु का वर्णन किया था जो कवि-समय के अनुकूल नही थी। सम्भवतः उन्होंने वसन्त मे कौए का वर्णन किया था जब कि कवि-प्रथा के अनुसार कोकिल का वर्णन होना चाहिए था। उस सम्मेलन में दम्पति किशोर नामक कवि-मन्य एक सज्जन भी बैठे हुए थे। उन्होंने हरिश्चन्द्र को भरी सभा मे नीचा दिखलाने के लिए तथा उनकी कविता की खिल्ली उड़ाने के लिए, बड़े तपाक से उठकर कहा कि कविजी! आपकी कविता मे वसन्त ऋतु मे कौए उड़ा करते हैं; यह अन्वेषण आपने कब से किया है? भला, हाजिर-जवाब हरिश्चन्द्र कब चूकनेवाले थे। उन्होंने दम्पति किशोर को मुँहतोड़ जवाब देते हुए कहा कि महाराज (गुरु)! जब तक आप जीवित हैं तभी तक कौए हैं; नहीं तो फिर हम कोकिल के कोकिल ही रहेगे। भारतेन्दु का यह करारा जवाब सुनकर किशोर जी की बोलती बन्द हो गयी और वह अपना मुँह लटकाये छिपकर घर चले गये।

कविता की कसौटी

लोकप्रियता को काव्य की कसौटी मानना कथमपि उचित नहीं प्रतीत होता। निरंकुश लोक की प्रशंसा का मूल्य ही क्या है? जनता मे काव्य के गुण-दोषों को समझने की क्षमता ही कहाँ! लोग अधिकतर कौतुक-प्रेमी हुआ करते हैं। कविता मे थोड़ी सी भी सुन्दरता होने पर यदि वह लोगों के कौतुक की वृद्धि करती है तो बालक, स्त्रीजन तथा हीन जाति के लोगों के मुँह से यह तुरन्त ही चारों ओर फैल जाती है। अतः

विवेकहीन जनता की आलोचना को ही कवि को अपने काव्य की कसौटी नहीं मानना चाहिए। उसे काव्य-मर्मज्ञों की ही सम्मति का ही सदा समादर करना चाहिए—

वचः स्वादु सतां लेह्यं लेशस्वाद्वपि कौतुकात्।
बालस्त्रीहीनजातीनां काव्यं याति मुखान्मुखम्॥

—का० मी०, अ० १०, पृ० ५१

राजशेखर ने सरस्वती के उपासक कवियों के लिए बडे ही उपयोगी व्यावहारिक नियमों का वर्णन किया है। उनका कथन है कि कवि को अपने आधे रचे हुए काव्य को किसी के सामने नहीं पढना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से उस ग्रन्थ के समाप्त होने मे बाधा उपस्थित होती है और वह कभी समाप्त न्ही होता। नवीन काव्य को किसी एक व्यक्ति के सामने कभी नहीं पढना चाहिए क्योंकि यदि वह व्यक्ति उस काव्य को अपना बतलाने लगे तो किसकी गवाही देकर वह जीता जायगा। अपनी कविता के ऊपर कवि को सुन्दर होने का पक्षपात नहीं करना चाहिए। क्योंकि पक्षपात करने से वह कविता के गुण-दोषों को ठीक ठीक समझने मे वंचित रह जाता है। उसे कभी घमण्ड भी नहीं करना चाहिए क्योंकि अभिमान का लेश भी सब संस्कारों को नष्ट कर देता है। कवि को चाहिए कि कविता लिखने के अनन्तर किसी दूसरे व्यक्ति से उसकी परीक्षा कराये। परीक्षा बहुत ही आवश्यक होती है क्योंकि उदासीन व्यक्ति काव्य के गुण दोषों के विवेचन मे जितना समर्थ होता है उतना उसका रचयिता नहीं होता। दुःख है कि हिन्दी के वर्तमान कविगण इस परम्परा को छोडते चले जा रहे हैं। उर्दू के कवियों मे 'इसलाह' लेने की जो परम्परा अब तक विद्यमान है वह इसी नियम का अनुसरण करती है।

अपने को कवि माननेवाले व्यक्तियों के सामने भी कविता का पाठ नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसे व्यक्ति के सामने पढी गयी कविता अरण्यरोदन के समान ही निष्फल होती है या विनाश को प्राप्त होती है। इसीलिए प्राचीन आचार्यों की यह मान्य सम्मति है कि कविमानी व्यक्ति के सामने सूक्ति का कभी पाठ न करे। वह व्यक्ति उस कविता का तिरस्कार ही नहीं करता प्रत्युत अपने काव्य में दूसरे कवि के भावों को बाँधकर नष्ट भी कर देता है—

इद हि वैदग्ध्यरहस्यमुत्तम
पटेन्न सूक्त कविमानिन' पुरः।

न केवल तां न विभावयत्यसौ
स्वकाव्यबन्धेन विनाशयत्यपि ॥

काव्यमीमांसा अ० १० पृ० ५८

यह तो प्रसिद्ध ही है कि राजा भोज के दरबार में ऐसे कवि थे जिन्होंने एक या दो बार कोई भी कविता सुन ली तो उन्हें याद हो जाती थी। राजा भोज ने एक बार यह आज्ञा दी कि यदि कोई कवि कोई नयी कविता सुनाएगा तो उसे प्रतिश्लोक एक लक्ष रुपया पुरस्कार दिया जायगा। अनेक कवि बड़े परिश्रम से अपनी अपनी कविता बनाकर लाये और उन्होंने उसे भोज के दरबार मे सुनाया। परन्तु राजा के दरबार के पण्डितों ने कहा कि यह कविता नयी नहीं है बल्कि मेरी लिखी हुई है क्योंकि यह मुझे याद है तथा उसे भरी सभा मे, पढ़कर सुना दिया। इस पर वह विचारा कवि लज्जित हो गया। कहने का आशय यह है कि इस प्रकार की साहित्यिक चोरी होती थी। अतः राजशेखर ने नवीन कवियों को इससे बचने के लिए पहले से ही सावधान कर दिया है।

५—कवि-चर्या

भारतीय आलंकारिकों के ऊपर यह लाछन लगाया जाता है कि काव्य-शास्त्र के सिद्धान्तों की छानबीन मे व्यस्त रहने के कारण उन्होंने इस शास्त्र की व्यावहारिक शिक्षा पर कभी दृष्टिपात नही किया। परन्तु यह दोषारोपण नितरा असत् तथा निराधार है। हमारे आलोचक सिद्धात तथा व्यवहार दोनों विषयों के पारखी थे। काव्यसमीक्षा तथा काव्यसृष्टि—दोनों ही उनके समभावेन लक्ष्य थे। उनका ध्येय केवल उपलब्ध काव्यों के गुण और दोष का विवेचन ही नही था, प्रत्युत नवीन काव्यों की रचना भी।

काव्य की रचना के ऊपर देश तथा काल का बहुत बडा प्रभाव पडता है। इस तथ्य से यहाँ के आलंकारिक पूर्ण रूप से परिचित थे। हम उन वश्यवाक् कवियों की चर्चा इस प्रसंग मे नहीं करते, सरस्वती जिनकी चेरी बनकर सदा अनुगमन किया करती। उनके लिये काव्यसृष्टि के हेतु न तो कोई समय है और न कोई देश। वे सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र होते हैं। उनके ऊपर न देश का प्रतिबन्ध रहता है और न काल का नियमन। जिस जगह

उनका चित्त रम जाता है या जिस समय उनके हृदय मे स्फूर्ति जग उठती है वे अव्याहत गति से काव्य की विपुल राशि की सृष्टि कर देते हैं। सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र सारस्वत कवि के लिये ये नियम आवश्यक नहीं हैं। सर्वदेश और सर्वकाल मे वह कविता कर सकता है। वह सब नियमों से मुक्त होता है। स्थान और समय की पाबन्दी उसके लिये होती ही नहीं।

कवि के लिये बाह्य तथा आभ्यन्तर शौच या पवित्रता दोनों आवश्यक हैं। शौच तीन प्रकार का होता है—वाक्-शौच, मनःशौच तथा कायशौच। 'वाक्शौच' का अर्थ वाक्शुद्धि है अर्थात् मुख से किसी अश्लील, असगत या अपवित्र शब्द को न निकालना। 'मन.शौच' से अभिप्राय मन की पवित्रता से है। अर्थात् मन को न क्षुब्ध करने वाले किसी भाव–क्रोधादिक–को न लाना। 'कायशौच' का अर्थ शरीर की पवित्रता से है अर्थात् शरीर को स्वच्छ तथा पवित्र रखना है। इनमे से प्रथम दो—वाक्शौच और मनःशौच–शास्त्र के अभ्यास से उत्पन्न होता है और तीसरा शुद्धता के साथ रहने से। पहिले दो आन्तरिक शुद्धि से सम्बन्ध रखते हैं और तीसरा बाह्य शुद्धि से।

कवि को सर्वदा पवित्रता के साथ रहना चाहिए। उसके हाथ और पैर के नाखून कटे रहने चाहिए, मुख मे पान का बीडा एवं गले मे फूलों की माला हो। वह बहुमूल्य तथा सुसज्जित वस्त्र से अलकृत हो तथा शरीर उबटन एवं अन्य सुगन्धित द्रव्यों के प्रयोग से सुसस्कृत होना चाहिए। कवि के लिये पवित्रता के साथ रहना ही सरस्वती का आवाहन करना है। कवि जिस स्वभाव का होता है उसका काव्य भी उसी के अनुरूप ही होता है। प्रायः यह कहा जाता है कि जिस प्रकार का चित्रकार होता है उसका चित्र भी उसी प्रकार का होता है। कवि को चाहिए कि वह मुस्कराते हुए, प्रसन्न वदन होकर बातचीत करे। भला मुहर्रमी सूरतवाला कवि क्या कविता कर सकता है? कवि जो कुछ बोले उसके कथन का प्रकार अनूठा होना चाहिए। काव्य का सर्वस्व तो उक्ति की विचित्रता ही ठहरी। इसीलिये काव्य साधना मे प्रयुक्त होने वाले कवि के वाक्यों मे वक्रोक्ति का पुट होना आवश्यक है। कवि को जहाँ कहीं काव्य की सामग्री मिल जाय उसे ग्रहण करना चाहिए। उसे रहस्य का अन्वेषक होना चाहिए। वस्तु के भीतर पैठकर उसके तत्त्व को ग्रहण का उद्योग करना चाहिए। किसी वस्तु के सतह के ऊपर तैरना कवि को शोभा नहीं देता। वह बिना पूछे किसी के काव्य मे दोष की उद्भावना न करे और यदि उसकी सम्मति जानने के लिये कोई काव्य उसके सामने रखा जाय तो उसके दोष-गुणों का यथार्थ विवेचन कर दे।

कवि को अन्य कवि के काव्यों मे द्वेष-बुद्धि के द्वारा दोष की उद्भावना नही करनी चाहिए। सुकवि वही होता है जो दूसरे की कविता सुनकर सन्तुष्ट होता है, नहीं तो अपनी कविता, चाहे वह आलोचना की दृष्टि से कितनी भी निकृष्ट क्यों न हो किसे नहीं अच्छी लगती? इस विषय मे महाकवि पीयूषवर्ष जयदेव की यह सूक्ति प्रत्येक कवि को स्मरण रखनी चाहिए।

> अपि मुदमुपयान्तो वाग्विलासै. स्वकीयैः।
> परभणितिषु तृप्तिं यान्ति सन्तः कियन्तः॥
> निजघनमकरन्दस्यन्द पूर्णालवालः
> कलशसलिलसेकं नेहते किं रसालः?
>
> —प्रसन्नराघव (प्रस्तावना)

गोस्वामी तुलसीदास ने भी दूसरे की कविता का आदर करना प्रत्येक सज्जन का कर्तव्य बतलाया है। नहीं तो अपनी कविता, वह सदोष हो या गुणवती, भला किसे अच्छी नही लगती?

> निज कवित्त केहि लाग न नीका।
> सरस होय अथवा अति फीका॥

कवि का निवास-स्थान

कवि का निवास-स्थान खूब साफ सुथरा होना चाहिए। उसमें छःओं ऋतुओं के अनुकूल विविध स्थान होने चाहिए। कवि का वह घर कैसा? जिसमे शीतकाल मे ठढ के कारण हाथ पैर ठिठुर जायँ और ग्रीष्म ऋतु मे साँय-साँय कर चलनेवाली लू के मारे देह झुलस जाय। उसके घर के सामने सुन्दर लताओं से मण्डित, स्निग्ध छाया से सम्पन्न वृक्षवाटिका होनी चाहिए। उसके पास क्रीडा-पर्वत होना चाहिए जिसपर बावली और तलैया हो। छोटी-छोटी नहरे उस मकान के पास सदा जल से किलोल करती हुई रहें जिससे प्रकृति की स्निग्धता कवि-हृदय को सरस तथा शीतल बनाने मे सदा समर्थ बनी रहे। कवि के बगीचे मे नाना प्रकार के पक्षियों का समुदाय होना चाहिए। कहीं पर कोयल आम के पेड़ पर बैठी हुई अपनी कूक टेर रही हो, तो कहीं पपीहा 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की रट लगा रहा हो। कहीं हंसों के जोडे क्रीड़ा कर रहे हों तो कही कुररी अपनी विषाद भरी वाणी से वियोग की कथा सुना रही हो। कहीं पर चकवा और चकवी दिन में एक संग किलोल करते हुए संयोग के प्रतीक बने हों और रात के होते ही बिछुड कर अपने करुण-क्रन्दन से कवि

के हृदय मे भी करुणा उत्पन्न कर रहे हों। इनके अतिरिक्त तोता और मैना एक साथ बैठ कर सरस प्रेम की कहानी कहते हुए दिन बिता रहे हों। कवि के सुन्दर उपवन मे होना चाहिए लताओं का सुन्दर कुञ्ज, जिसमे धूप की गर्मी किसी को न सतावे। इसके अतिरिक्त उस उपवन मे सुन्दर झूला होना चाहिए जिसमे अवकाश के समय बैठकर मनो विनोद ही न किया जाय प्रत्युत शारीरिक क्लान्ति भी दूर हो सके। यदि कवि का मन कभी खिन्न या उदास हो तो उसको प्रसन्न करने के लिये आज्ञाकारी नौकर होने चाहिए अथवा कवि को एकान्त स्थान का सेवन करना चाहिए।

कवि के परिजनों को (नौकरों) चतुर होना चाहिये। उनकी वाणी मे वक्रता और वर्णन मे चमत्कार होना चाहिये। इस प्रसंग मे हम उस फारसी शायर की बादी की वचन-चातुरी की प्रशसा किये बिना नही रह सकते, जिसने किसी अब्दुल्ला नामक शायर का परिचय गबदुल्ला नाम से देकर अपने मालिक को चमत्कृत किया था। सुनते हैं कि दिल्ली के किसी शायर के पास अपनी शायरी मे मस्त तथा अपने इल्म के घमण्ड मे चूर कोई शायर फारस मे मिलने के लिए आए। कवि के घर का दरवाजा बन्द था। अतः उन्होंने बाहर से ही जोर से खटखटाया। शायर ने अपनी नौकरानी से कहा कि बाहर जाकर देख, कौन इस बुरे वक्त इतने जोर से दरवाजा खटखटा रहा है। मालिक का हुक्म पाकर नौकरानी ने दरवाजा खोला तो बाहर किसी भले आदमी को खडा पाया। बाँदी के पूछने पर उन्होंने अपना नाम अब्दुल्ला बताया तथा अपने आने का मतलब कह सुनाया। बादी लौटकर अपने मालिक के पास आई और अर्ज किया कि फारस के कोई मियाँ गबदुल्ला नाम के शायर आप से मुलाकात करने के लिये दरवाजे पर खडे हैं। गबदुल्ला नाम सुनते ही दिल्ली के शायर आग बबूला होकर अपनी बाँदीपर बरस पडे और बोले हरामजादी! अबदुल्ला कह अबदुल्ला। भला गबदुल्ला किसी का नाम होता है। बाँदी ने कहा कि आपका कहना बिल्कुल बजा है लेकिन मै क्या करूं! खुदा ने उनकी दाहिनी आँख मे पहिले से ही नुक्ता लगा रखा है। एनके ऊपर नुक्ता देने से गैन ही होता है। फारस के शायर बाँदी की यह बात सुनकर बडे अचम्भित हुए। बात यह थी कि उनकी दाहिनी आँख मे फूली पडी थी। इसी को लक्ष्यकर बादी ने यह उक्ति कही थी। शायर ने सोचा कि जिसके घर की बाँदी इतनी चतुर है भला उसका मालिक कितना बड़ा शायर होगा। उससे विवाद करने के हौसला को अपने दिल में दबा कर वे उल्टे पाँव फारस लौट गए।

कवि का अध्ययन-गृह

कवि के अध्ययन गृह में लेखन की सामग्री सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। क्योंकि कवि को कविता की जब स्फूर्ति हो तो उसकी कविता को शीघ्र लिपि-बद्ध किया जा सके। इसीलिये कवि के कमरे मे खडिया और श्यामपट्ट होना चाहिए। लेखनी और दावात, ताडपत्र और भूर्जपत्र आदि लेखन की सामग्री सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए। बहुत से आचार्य इन्हीं बाह्य-साधनों को काव्य-विद्या का परिकर (साधन) मानते हैं। उनका कहना है कि इन वस्तुओं को देखकर कविहृदय मे लिखने की स्फूर्ति स्वयं जागरित होती है परन्तु कविवर राजशेखर इन बाह्य-साधनों को महत्त्व नहीं देते हैं। वे तो प्रतिभा को ही काव्य का परिकर मानते हैं। बात भी सची यही है। प्रतिभाविहीन कवि के लिये बाहरी साधन सुन्दर होने पर भी क्या सहायता कर सकते हैं। यह तो प्रसिद्ध ही है कि भारतीय हरिश्चन्द्र जब कभी घर से बाहर निकलते थे तो उनके पीछे-पीछे उनका नौकर कलम-दावात और कागज लेकर साथ चला करता था। रास्ते मे ही खडे होकर जब उन्हें भावावेश आता था तब वे अपनी कविता को लिपिबद्ध कर देते थे। कहा जाता है कि "फिसाने आजाद" के सुप्रसिद्ध रचयिता पण्डित रतननाथ सरशार स्वभाव से ही आलसी थे और बहुत आग्रह करने पर ही कुछ लिखा करते थे। उस समय जो कुछ भी लेखन-सामग्री उन्हें मिल जाती थी उसी से ही वे अपना काम चला लेते थे। यदि लिखने के लिये कलम न मिली तो सींक ही सही। अच्छा कोरा कागज न मिला तो अखबार का टुकडा ही सही। परन्तु ऐसा जीवन कवि के लिये आदर्श नही है। राजशेखर ने कवि के गृह तथा अध्ययनस्थान एवं उसके रूप का जो आदर्श चित्र खींचा है वह हमे भारतेन्दु हरिश्चन्द्र मे पूर्णतया मिलता है।

कविता करने का समय

कवि को नियत समय पर ही कविता करनी चाहिए, क्योंकि अनियत काल मे होनेवाली काव्य की प्रवृत्ति कभी सफल नहीं हो सकती। इसलिये कवि को चाहिए कि दिन और रात को प्रहर के अनुसार चार भागों मे बाट ले। प्रातःकाल उठकर सन्ध्या-पूजन से निवृत्त होने के पश्चात् उसे सार-स्वत सूक्त का पाठ करना चाहिये। सरस्वती के सेवक को सरस्वती की उपासना करना उचित ही है। तदनन्तर अपने अध्ययन-गृह मे बैठकर उसे काव्य की

विद्या तथा उपविद्या का एक प्रहर तक मनन करना चाहिए। व्याकरण, कोष, छन्द-शास्त्र तथा साहित्यशास्त्र ही काव्य की विद्याएँ है और चौसठ कलायें उपविद्या के अन्तर्गत आती हैं। काव्यकला के लिये उपयोगी होने के कारण इनका प्रातःकाल मे अभ्यास करना नितान्त उपयोगी होता है। इन विद्याओं का नूतन सस्कार प्रतिभा के विकास करने मे जितना समर्थ होता है उतना अन्य संस्कार नहीं। दिन के दूसरे प्रहर मे कवि काव्य की रचना करे। लगभग दोपहर के समय वह पुनः स्नान करे और स्वास्थ्य-प्रद भोजन करे। भोजन के अनन्तर तीसरे पहर मे काव्य-गोष्ठी का आयोजन करे।

६—काव्यगोष्ठी

प्राचीन भारत मे बड़ी-बड़ी काव्यगोष्ठियों तथा सरस समाजों का आयोजन होता था जिसमे नानाप्रकार के साहित्यिक मनोविनोदों की धूम मची रहती थी। कतिपय मनोविनोदों की यहाँ सामान्य चर्चा की जा रही है।

(१) प्रतिमाला या अन्त्याक्षरी—इसमे एक आदमी एक श्लोक पढ़ता था और उसका प्रतिपक्षी पंडित श्लोक के अन्तिम अक्षर से आरम्भ कर एक दूसरा श्लोक पढता था। यह परम्परा लगातार चलती रहती थी।

(२) दुर्वाचन योग—इसमे ऐसे कठोर उच्चारण वाले शब्दों का श्लोक सामने रखा जाता था जिसे पढना बडा ही कठिन कार्य था। कामसूत्र की जयमंगला टीका की रचयिता ने उदाहरण के लिये यह श्लोक दिया है:—

> दंष्ट्राग्रद्ध्यां प्रग्यो द्राक क्ष्मामम्वन्तः-स्थामुच्चिचक्षेप।
> देव भ्रुटक्षिद्धयृत्विकूस्तुत्यो युष्मान्सोऽव्यात् सर्पात्केतुः॥

(३) मानसी कला—यह प्राचीन भारत का सरस साहित्यिक विनोद था। कमल या किसी अन्य वृक्ष के पुष्प अक्षरों की जगह पर रख दिए जाते थे। उसे पढना पड़ता था। पढनेवाले की चातुरी यह थी कि वह ईकार, ऊकार आदि मात्राओं की सहायता से ऐसा छन्द बना ले जो सार्थक भी हो और छन्दों के नियम के विरुद्ध भी न हो। इस प्रकार यह कला बिन्दुमती नामक क्रीड़ा से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इस कला का और भी कठिन रूप तब होता था जब पढनेवाले के सामने फूल आदि कुछ भी न रखकर उसे केवल एक बार सुना दिया जाता था कि कहाँ कौनसी मात्रा है और कहाँ अनुस्वार, विसर्ग है।

(४) **अक्षरमुष्टि**—नाम का भी एक ऐसा साहित्यिक विनोद प्राचीन भारत मे होता था। यह विनोद दो प्रकार का होता था (क) साभासा और (ख) निरवभासा। (क) साभासा अक्षरमुष्टि संक्षिप्त बोलने की कला है जैसे फाल्गुन, चैत्र और वैशाख इन तीनों महीनों के लिये इनके आदि अक्षरों को ग्रहण कर "फाचैवै" कहना। इस प्रकार से रचित श्लोकों का अर्थ करना बडा ही कठिन होता था। इस विषय मे एक प्राचीन कथा इस प्रकार की सुनी जाती है।

कहते हैं कि एक गाँव में दो पण्डित रहते थे। उन्होंने अपनी विद्या को पूर्ण करने के लिये काशी आना निश्चित किया। इन पण्डितों मे एक वैयाकरण था और दूसरा वैदिक। वैयाकरण तो पराया माल खाता हुआ मजे मे काशी मे दिन बिता रहा था परन्तु वैदिक बडा ही नैष्ठिक था। उसने विद्या (वेद) का अच्छा अभ्यास किया और कुछ ही दिन मे प्रकाण्ड पण्डित बन बैठा। जब इन पण्डितों का अध्ययन समाप्त हो गया तब इन्होंने घर जाने का निश्चय किया। ये दोनों रास्ते मे एक घनघोर जंगल में पहुँचे और वहीं रात्रि हो गई। भोजनभट्ट वैयाकरण ने अब भोजन बनाने की तैयारी की। चावल, दाल, लकड़ी आदि सारा सामान मिल गया परन्तु कहीं खोजने पर भी उस जगल में आग नही मिली। वैयाकरण ने परेशान होकर अपने मित्र से कहा कि आग कहाँ से लाई जाय? इसके बिना रसोई बनना तो कठिन ही है। वैदिक ने कहा कि अग्नि तो नैष्ठिक ब्राह्मण के मुँह मे निवास करती है। अतः फूंक मारो, आग आप से आप जल उठेगी। वैयाकरण ने अनेक बार फू, फू, किया परन्तु आग न जली। उन्हें इस कार्य मे असफल देखकर वैदिक ने एक बार फूंक मारी और आग आप ही आप जल उठी। वैयाकरण को वैदिक की यह करामात देखकर बडा आश्चर्य हुआ और उसने अपने मन में सोचा कि यदि यह मेरे साथ गाँव लौटकर चलेगा तो इसके अलौकिक पाण्डित्य और चमत्कारी करामात के कारण गाववाले इसी का आदर करेंगे और मुझे कोई नहीं पूछेगा। अतः इसे जान से मार डालना चाहिए। यह निश्चय कर उसने वैदिक को मारने की तैयारी की। जब वैदिकजी को यह बात मालूम हुई तो उन्होंने वैयाकरण से कहा कि यह पत्र मेरे पिताजी को देना। वैयाकरण ने वैदिक की हत्या कर दी और गाँव में आकर उस पत्र को उनके पिता को दे दिया।

पत्र को पाकर वैदिक के पिता बडे अचभित हुए क्योंकि उस पत्र में

केवल चार अक्षर,—अ, प्र, शि, ख—लिखा था। उनकी समझ मे इस पत्र का कुछ भी आशय नहीं आया और वह राजाभोज के पास जाकर उस पत्र को अपने पण्डितो के द्वारा पढवाने की प्रार्थना की। भोज ने अपने पण्डितों को एक मास अवसर देते हुए कहा कि यदि इस अवधि के भीतर इस पत्र को कोई न पढ सका तो सबको फाँसी दे दी जायेगी। अवधि के बीतने मे एक दिन शेष था परन्तु अर्थ किसी से नहीं लगा। भोज की सभा के एक विशिष्ट पण्डित वररुचि उदास होकर जगल को भाग निकले। वहाँ वे एक पेड के नीचे बैठे जहाँ सियारिन सियार (शृगाल) से मास खाने को कह रही थी। शृगाल ने कहा कि घबराओ नहीं, कल भोज की सभा मे अनेक पण्डित मारे जायेगे तब उनका पवित्र माँस खूब छक कर खाना। शृगालिन ने इसका कारण पूछा तो शृगाल ने सारा किस्सा कह सुनाया। शृगालिन ने फिर पूछा—क्या तुम उस पत्र का आशय जानते हो? शृगाल ने कहा—हाँ! जब शृगालिन ने इसके आशय को स्पष्ट करने के लिये बहुत हठ किया तब शृगाल ने बताया कि पत्र का अर्थ यह है—

अनेन तव पुत्रस्य, प्रसुप्तस्य वनान्तरे।
शिखामारुह्य पादेन, खड्गेन निहतं शिरः॥

वररुचि पेड के नीचे बैठा हुआ सारा वृत्तान्त सुन रहा था। दूसरे दिन उसने पत्र का आशय बतलाते हुए इस श्लोक को भोज की सभा मे पढ सुनाया और इस प्रकार उसने सभी पण्डितों के प्राणों की रक्षा की।

ऊपर की यह कथा साभासा अक्षरमुष्टि का बड़ा ही सुन्दर उदाहरण है।

(ख—निरवभासा अक्षरमुष्टि—गुप्तरूप से बातचीत करने की कला है। इसके लिये प्राचीनकाल मे नानाप्रकार के सकेत प्रचलित थे। हथेली और मुष्टि को भिन्न-भिन्न आकार म दिखलाने से अक्षरों के भिन्न-भिन्न वर्ग सूचित होते थे जैसे कवर्ग की सूचना के लिये मुष्टि को बाँधना पडता था तथा चवर्ग के लिये हथेली को पत्ते के समान बनाना पडता था। इसी प्रकार अन्य वर्गो की सूचना का क्रम निश्चित था। वर्ग बतलाने के अनन्तर उसके अक्षर बतलाये जाते थे। इसके लिये अगुलियों का प्रयोग किया जाता था। जैसे ग कहना हो तो पहले मुष्टि बाँधी जाती थी और फिर तीसरी अंगुली उठाई जाती थी। इस प्रकार अक्षरों की सूचना के अनन्तर मात्राये बतलाई जाती थीं। यह कार्य अँगुलियों के पोरों से अथवा चुटकी बजाकर किया

जाता था। इन पुराने सकेतों का द्योतक एक पुराना श्लोक इस प्रकार है:—

मुष्टिः किशलयं चैव, च्छटा चारीपताकिका।
पताकां-कुशमुद्राश्च, मुद्रा वर्गेषु सप्तसु॥

इसी प्रकार के **'बिन्दुच्युतक'** नामक मनोविनोद मे सारे पद्य से अनुस्वार हटा दिये जाते थे और तभी श्लोक मे सार्थकता आती थी। इस प्रसंग मे नैषधकार का यह प्रख्यात पद्य स्मरण आये बिना नही रहता जिसमे उन्होंने दमयन्ती के 'बिन्दुच्युतक' की चातुरी का रुचिर उल्लेख किया है—

चकास्ति बिन्दुच्युतकातिचातुरी
घनास्रबिन्दुस्रुति-कैतवात् तव।
मसारताराक्षि ससारमात्मना
तनोषि ससारमसंशयं यतः॥

—नैषध ९।१०४

आशय है कि हे इन्द्रनील के समान स्निग्ध श्यामल पुतली से युक्त नेत्रवाली दमयन्ती, तुम नेत्रों से घने आँसू की बूदों के बहाने के 'बिन्दुच्युतक' मे अपनी चतुरता प्रकट कर रही हो। इस 'ससार' को तुम निःसदेह स्वय 'ससार' बना रही हो। ससार मे बिन्दु के च्युत करने पर ही 'संसार' बन सकता है। संसार अपने आप तो एक निःसार पदार्थ ठहरा। तुम्हारे ही कारण से वह सार वस्तु से सम्पन्न (ससार) प्रतीत हो रहा है।

इसके ठीक विपरीत 'बिन्दुमती' मे श्लोक में से समस्त अक्षर हटा दिए जाते थे और केवल बिन्दु ही अवशिष्ट रह जाते थे। कवि को इन बिन्दुओं के स्थान से उन अक्षरों की पूर्ति करनी पडती थी जो वहाँ से हटा दिये गये थे। एक दूसरे मनोविनोद मे सभी मात्राएँ श्लोक मे से हटा ली जाती थी और कवि को मात्राओं की पूर्ति करनी पडती थी। इसे **'मात्राच्युतक'** कहते थे। इसी भाँति के मनोविनोद को साहित्यजगत् मे **चित्रयोग** के नाम से पुकारते हैं[१]। इन्हीं विनोदों[२] के द्वारा कवि को दिन का तीसरा पहर बिताना चाहिए।

१—राजशेखर काव्यमीमांसा अध्याय १० पृ० ५२

२—इन चित्रयोगों के विशेष वर्णन के लिये देखिए—(क) दण्डी—काव्यादर्श (ख) रुद्रट—काव्यालंकार अध्याय ५ (ग) कामसूत्र की जयमंगला टीका १।३।१६

दिनचर्या

दिन के चौथे पहर मे कवि को चाहिए कि वह अकेले या अपने परिमित मित्रों के साथ बैठकर दिन के पूर्वार्द्ध में रचे हुए काव्य की परीक्षा करे। काव्य की अनुपरीक्षा या समीक्षा इसीलिये आवश्यक होती है कि रस के आवेश मे काव्य रचते समय कवि की विवेकिनी दृष्टि नहीं रहती है। भावावेश मे आकर कवि को जो कुछ मन मे आता है उसे लिखता चला जाता है। उस समय उसे विचार करने का अवसर ही नही मिलता। इसलिये सायंकाल में आवेश से रहित होकर अपनी कविता की समीक्षा करे। कविता मे जो अनावश्यक वस्तु हो उसका त्याग करे, जिस भाव या शब्द की कमी हो उसकी पूर्ति कर दे और भूली हुई बात का अनुसन्धान कर शब्दार्थ का उचित स्थान सन्निवेश करे।

सन्ध्याकाल होते ही सन्ध्या-वन्दन कर सरस्वती का पूजन करे। उसके अनन्तर दिन मे रचित तथा परीक्षित काव्य को किसी लेखक-द्वारा लिपिबद्ध कराए। यह लेखक सब भाषा में कुशल, शीघ्र लिखनेवाला, सुन्दर अक्षर-वाला तथा अनेक लिपियों को जानने वाला होना चाहिए। उसे वक्ता के संकेत को झट से समझ लेना चाहिए। इसके अनन्तर स्त्रियों के साथ मनो-विनोद के लिये बातचीत करनी चाहिये। संस्कृत के आलंकारिकों ने कवि के जीवन को बड़ा नैष्ठिक और सदाचारी होने के लिये आग्रह किया है। इसीलिये कवि के जीवन मे नैतिक अव्यवस्था को सह नहीं सकते हैं। रात्रि का दूसरा और तीसरा प्रहर सोने मे बिताना चाहिए। चौथे प्रहर या ब्राह्ममुहूर्त मे कवि को जगकर काव्यार्थ का चिन्तन करना चाहिए। वामन ने चित्त की एकाग्रता को काव्य की निष्पत्ति के लिये अत्यन्त आवश्यक माना है। इसे वह 'अवधान-शब्द' के नाम से पुकारते हैं[1]। अवधान होता है देश और काल से[2]। निर्जन स्थान और ब्राह्ममुहूर्त मे चित्र बाह्य विषयो से उपरत होकर प्रसन्न तथा एकाग्र हो जाता है[3]। इसीलिये महाकवि कालिदास तथा माघ ने भी ब्राह्ममुहूर्त को कविकर्म के लिये नितान्त उपर्युक्त बतलाया है। कालिदास का अनुभव है कि रात्रि के अन्तिम प्रहर से चेतना प्रसाद को ग्रहण करती है—

१—चित्तैकाग्र्यम् अवधानम्। वामन १।३।१७

२—तद्देशकालाभ्याम्। वही १।३।१८

३—विविक्तो देशः। रात्रियामस्तुरीयः कालः। वही १।३।१९-२०

पश्चिमाद् यामिनी-यामात् प्रसादमिव चेतना ।

—रघुवंश १७।१

माघ रात्रि के अन्तिम प्रहर को राजाओं तथा कवियों के अर्थचिन्तन के लिये सब से उपर्युक्त समय बतलाते हैं क्योंकि इसी समय बुद्धि प्रसन्न होकर गहन से गहन विषयों को समझने में समर्थ होती है ।

क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान् ।
उदधिमहति राज्ये काव्यवद्-दुर्विगाहे ॥
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥

—शिशुपालवध ११।६

७—कवि-सम्मेलन

आदर्श राजा सरस कवियो का केवल आश्रयदाता ही नहीं होता था प्रत्युत वह स्वयं कमनीय काव्यकला का उपासक होता था। यह निश्चित है कि राजा के कवि होनेपर उसकी प्रजा मे कविता के लिये विशेष आदर होता है और काव्यरचना की ओर सबका ध्यान आकृष्ट होता है। राजा को चाहिए कि कवियों के सम्मान के लिये कवि-समाज का आयोजन किया करे। इसके लिये आवश्यक है कि वह कवियों और गुणीजनों के लिए एक विशिष्ट सभा-भवन तैयार कराए जिसमें सोलह खम्भे, चार दरवाजे, आठ मत्तवारणी (बरामदा) हों। सभा-भवन के बीच में एक मणिवेदिका बनाई जानी चाहिए जो कि एक हाथ ऊँची हो और जो चार खम्भों से युक्त हो। इस मणिवेदिका के ऊपर राजा का सिंहासन होना चाहिए। राजा के चारो ओर भिन्न भिन्न भाषाओं के गुणी तथा कविजन बैठें। राजा के उत्तर ओर संस्कृत भाषा के कवियों के लिए स्थान होना चाहिए। उनके बाद उसी ओर वेदविद्या में निपुण, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिवेत्ता, वैद्य, ज्योतिषी, तथा इसी प्रकार के अन्य विद्वानों के लिए स्थान होना चाहिए। राजा के आसन के पूर्व ओर प्राकृतभाषा के कवि बैठे। इसके अनन्तर नट, नर्तक, गायक, वादक, कुशीलव तथा इसी प्रकार के अन्य गुणीजनों को स्थान देना चाहिए। राजा के पश्चिम ओर अपभ्रंश भाषा के कवियों को बैठाना चाहिये। उनके अनन्तर चित्रकार, मणिकार, स्वर्णकार तथा लौहकार एवं इसी

प्रकार के अन्य शिल्पों के वेत्ता व्यक्तियों का स्थान हो। राजा के दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के कवि का स्थान हो। इसके अनन्तर गणिका, इन्द्रजाल के पण्डित तथा शास्त्रोपजीवी, मल्लविद्या मे निपुण, पुरुष अपना आसन ग्रहण करे। ऐसी सजी हुई सभा में बैठकर राजा को काव्यगोष्ठी प्रवृत्त करनी चाहिए।

ऐसी गुणिगणमण्डित पण्डित मण्डली मे कविता-पाठ करना कोई हँसी खेल की बात नहीं थी। प्रतिस्पर्द्धी कवि अपने विपक्षी की कविता मे सदा जागरूक रहते थे। नये कवि को राजसभा के इस चाकचिक्य से ऐसा चकाचौंध हो जाता था कि उसके मुँह से बोली ही नहीं निकलती थी। राजसभा में प्रथम बार आए हुए कवि की वाणी की उपमा एक कवि ने नवविवाहिता वधू से दी है जो बुलाए जाने पर भी आगे पैर नहीं रखती। गले से उलझकर रह जाती है। पूछने पर भी नहीं बोलती है, काँपने लगती है, स्तम्भित हो जाती है। वह अचानक फीकी पड जाती है, गला रुँध जाता है, नेत्रों का प्रकाश फीका पड़ जाता है, मुख की शोभा मन्द हो जाती है। बडे कष्ट की यह बात है कि प्रतिभा सम्पन्न कवि की भी वाणी ऐसी राजसभा मे नवोढा वधू के समान आचरण करती है। कवि की वाणी और नवोढ़ा वधू मे कितनी आश्चर्यजनक समानता है:—

> नाहूतापि पुरः पदं रचयति प्राप्तोपकण्ठं हठात्,
> पृष्टा न प्रतिवक्ति कम्पमयते स्तम्भं समालम्भते।
> वैवर्ण्यं स्वरभंगमञ्चति बलान्मंदाक्षमन्दानना,
> कष्टं भो! प्रतिभावतोऽप्यभिसभं वाणी नवोढायते॥

राजसभा मे कवियों को परस्पर की प्रतिस्पर्द्धा के कारण कभी-कभी अपनी असाधारण मेधा शक्ति और असामान्य उदारता दिखलाने का अवसर मिलता था। मध्ययुग की यह कहानी प्रसिद्ध है कि नैषधकार श्रीहर्ष के वंशज हरिहर नामक कवि गुजरात के राजा वीरधवल की सभा मे आए। उस समय राजा के प्रधानमन्त्री थे विद्वानों के आश्रयदाता वस्तुपाल और राजकवि थे सोमेश्वर। कवि हरिहर ने इन तीनों की स्तुति मे एक पद्य बनाकर अपने एक शिष्य के हाथ राजसभा में भेजा। राजा और मन्त्री ने तो उसे सहर्ष ग्रहण कर लिया परन्तु राजकवि सोमेश्वर इस तिरस्कारपूर्ण बर्ताव से चिढ़ गए। दरबार में धीरे-धीरे हरिहर की ख्याति बढने लगी।

उधर सोमेश्वर का विरोध-भाव भी बढ़ता ही गया। किसी अवसर-पर जब राजा ने 'वीरनारायण' नामक महल बनवाया तब उसपर प्रशस्ति खुदवाने के लिए सोमेश्वर कवि ने १०८ श्लोकों की रचना की। राजा की आज्ञा से जब वे सभा मे अपने श्लोकों को सुना चुके तब राजा ने हरिहर पडित की सम्मति माँगी। हरिहर पडित ने इन श्लोकों की बड़ी प्रशसा की। उन्होंने कहा कि ये ! श्लोक बडे ही सुन्दर हैं ? ये ही श्लोक महाराज भोजराज के 'सरस्वती कण्ठाभरण' नामक प्रासाद के गर्भगृह में खुदे हुए हैं। मुझे भी ये याद हैं, सुन लीजिए। राजा के आदेश पर हरिहर पंडित ने सभी श्लोकों को अक्षरशः कह सुनाया जिसे सुनकर सारी सभा आश्चर्यित हो उठी। राजकवि सोमेश्वर का सारा रंग फीका पड़ गया। दूसरे दिन वस्तुपाल की सम्मति से सोमेश्वर हरिहर पण्डित की शरण मे गए और अपनी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण बनाए रखने की प्रार्थना की। हरिहर दयार्द्र होकर पिघल उठे और अगले दिन भरी सभा मे राजा से निवेदन किया कि राजन्! यह प्रशस्ति-श्लोक वस्तुतः सोमेश्वर की ही रचना है। सरस्वती की कृपा से मुझे यह वरदान प्राप्त है कि एक बार ही सुनकर मै १०८ श्लोकों को अक्षरशः सुना सकता हूँ। राजा को इस अलौकिक स्मरण-शक्ति पर बड़ा ही आश्चर्य हुआ और उन्होने दोनों कवियों मे मेल कराकर दोनों को पुरस्कृत किया।

इसी विषय मे एक दूसरी कथा इस प्रकार है। गुजरात के राजा वरधवल के प्रधान मन्त्री वस्तुपाल की सभा मे इन्हीं हरिहर पडित का बड़ा ही सम्मान था। उसी दरबार के एक दूसरे कवि का नाम मदन पंडित था। दोनों कवियों में इतनी प्रतिस्पर्धा थी कि वस्तुपाल दोनो को राजसभा मे झगडे के डर से एक साथ उपस्थित होने का अवसर ही न देते थे। परन्तु द्वारपाल की असावधानी से एक बार ऐसा दुर्योग जुट ही गया। हरिहर कवि दरबार मे अपना काव्य सुना रहे थे कि मदन पडित आ धमके। वे आते ही हरिहर पडित को डाँटने लगे और कहने लगे कि ए हरिहर! घमण्ड छोडो। कविराज रूपी मतवाले हाथियों का अंकुश मै मदन कवि स्वयं आ गया हूँ.—

"हरिहर! परिहर सर्वं कविराज-गजाङ्कुशो मदनः।"

इस पर हरिहर पण्डित ने तपाक से उत्तर दिया कि मदन! मुँह बन्द करो, हरिहर के अतीत चरित का स्मरण तो करो। जानते नहीं हो कि हरने मदन को भस्म कर डाला था:—

"मदन ! विमुद्रय वदतं हरिहरचरितं स्मरातीतम् ।"

इतने पर भी बात रुकी नहीं, बल्कि बढती ही गई। तब वस्तुपाल ने झगडे को दूर करने के लिये उन दोनों कवियों से निवेदन किया कि नारिकेल को लक्ष्य करके आप लोग सौ सौ श्लोक बनाइये। इसमे जो पहले श्लोक बनाएगा उसकी ही जीत होगी। दोनों श्लोक रचना मे जुट गये। मदन ने तो सौ श्लोकों को पूरा कर लिया परन्तु तब तक हरिहर पण्डित साठ ही श्लोक बना पाए थे। इस पर मन्त्री ने कहा कि हरिहर पण्डित तुम हार गए। हरिहर ने झट से कविता बना कर सुनाई—अरे गँवई का जुलाहा ! ग्रामीण स्त्रियों के पहनने के लिये सैकड़ों घटिया किस्म के कपडों को बुनकर अपने को परेशान क्यों कर रहा है ? भले आदमी, कोई सुन्दर तथा नयी एक ही ऐसी साडी क्यों नही बनाता जिसे राजाओं की प्यारी पटरानियाँ भी अपने वक्षःस्थल से एक क्षण के लिये भी न उतारेः—

"रे रे ग्राम—कुविन्द ! कन्दलयता वस्त्राण्यमूनि त्वया,
गोणीविभ्रमभाजनानि बहुश. स्वात्मा किमायास्यते ।
अप्येकं रुचिरं चिरादभिनवं वासस्त्वया सूत्र्यतां,
यन्नोज्झन्ति कुचस्थलात् क्षणमपि क्षोणीभृतां वल्लभाः ॥"

इस सुन्दर श्लोक से प्रसन्न होकर मन्त्री ने दोनों कवियों का सम्मान किया। इन दोनों उदाहरणों से यह ज्ञात होता है कि राजा की सभा मे रहने वाले पण्डित वाक्चातुरी मे कितने निपुण होते थे।

राजा के द्वारा काव्य-परीक्षा

राजा देश का स्वामी होता है। अतः वह जिस काव्य का आदर करता है वही काव्य लोगों मे भी मान्य और आदृत होता है। अतः उसे चाहिये कि लोकोत्तर काव्य के लेखक कवि को यथोचित पुरस्कार से पुरस्कृत करे। यह पुरस्कार केवल मुद्रा के ही रूप मे नहीं होना चाहिए बल्कि वह सहृदयता और गुणग्राहकता के रूप मे भी होना चाहिए। कवि के लिये गुणग्राहकता का प्रदर्शन ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट पुरस्कार है। इस प्रसंग मे कल्हण पण्डित ने काश्मीर-नरेश मातृगुप्ताचार्य की सहृदयता का जो वर्णन किया है वह यथार्थ होने पर भी कितना विलक्षण है।

कहते हैं कि महाकवि भर्तृमेण्ठ 'हयग्रीववध' नामक महाकाव्य की रचना कर किसी गुणग्राही राजा की खोज में इधर उधर घूमते-घूमते कश्मीर

पहुँचे। उस समय कश्मीर के राजा थे मातृगुप्ताचार्य जो स्वयं एक उच्चकोटि के कवि थे। भर्तृमेण्ठ उनके दरबार में पहुँचे और राजा की आज्ञा से अपनी कमनीय कविता सुनाने लगे। इधर काव्य की समाप्ति हो चली उधर काव्य के भले या बुरे होने के बारे मे राजा के मुँह से एक शब्द भी नहीं निकला। राजा के इस मौनावलम्बन से कवि मन ही मन बड़े दुःखित हुए और इसे अपनी कविता का निरादर समझा। ग्रन्थ के समाप्त हो जाने पर कवि जब उसे वेष्टन में बाँधने लगे तब राजा मातृगुप्त ने उस पुस्तक के नीचे सोने की थाली मगाकर इस विचार से रखवा दी कि कहीं उस ग्रन्थ का लावण्य पृथ्वी पर टपक कर नष्ट न हो जाय—काव्य-रस चूकर पृथ्वी पर गिर न पडे। राजा की इस सहृदयता तथा काव्यमर्मज्ञता से भर्तृमेण्ठ इतने आह्लादित हुए कि इसे ही उन्होंने अपना पूरा सत्कार समझा और राजा के द्वारा पुरस्कार में दी हुई अतुल सम्पत्ति को पुनरुक्त ही माना।[1] सच है महाकवि गुणग्राहता का अभिलाषी रहता है, वह वैभव का दास नहीं होता। भर्तृमेण्ठ ने राजा मातृगुप्ताचार्य के सामने 'हयग्रीववध' नामक जो अपना महाकाव्य सुनाया था और जिसकी सरसता और मधुरता पर मुग्ध होकर उन्होंने पुस्तक के नीचे सुवर्ण-थाल रखकर अपनी सहृदयता का परिचय दिया था, उस महाकाव्य के सरस दो पद्य नमूने के रूप मे यहाँ दिये जाते हैंः—

> ग्रासग्रासं गृहाण त्यज गजकलभ ! प्रेमबन्धं तरुण्याः,
> पाशग्रन्थिव्रणानामभिमतमधुना देहि पंकानुलेपम्।
> दूरीभूतास्तवैते शबरवरवधूविभ्रमोद्भ्रान्तरुथ्या
> रेवाकूलोपकण्ठद्रुमकुसुमरजोधूसरा विन्ध्यपादाः॥

ऐ हाथी के बच्चे! अब हथिनी का प्रेम छोड़ दे। वह तो बन्धन मे डालकर स्वयं भाग गई है। घास खाओ और अपने शरीर पर रस्सी बाँधने से

१—हयग्रीववधं मेण्ठस्तदग्रे दर्शयन् नवम्।
आसमाप्ति ततो नापत् साध्वसाध्विति वा वचः॥
अथ ग्रन्थयितुं तस्मिन् पुस्तके प्रस्तुते न्यधात्।
लावण्यनिर्माणभिया राजाऽधः स्वर्णभाजनम्॥
अन्तरज्ञतया तस्य तादृश्या कृतसत्कृतिः।
भर्तृमेण्ठः कविर्मेने पुनरुक्तं श्रियोऽर्पणम्॥

—राजतरंगिणी, तृतीय तरंग (२६४ ६६)

होने वाले घावों पर कीचड का सुखद लेप लगाओ। शबरसुन्दरियों के विलास से रमणीय और नर्मदा तट पर उगने वाले वृक्षों के पुष्पराग से धूसरित विन्ध्य की पहाडियों अब तुमसे बहुत दूर हो गई हैं। कामिनी के प्रेम के कारण ससार-जाल मे फँसे हुए पुरुषों को लक्ष्य कर यह कितनी सुन्दर अन्योक्ति कही गई है।

विनिर्गतं मानदमात्ममन्दिरात्,
भवत्युपश्रुत्य यदृच्छयापि यम्।
ससंभ्रमेन्द्रद्रुतपातितार्गला,
निमीलिताक्षीव भियाऽमरावती॥

कवि हयग्रीव के वर्णन मे कह रहा है कि जब वह अपनी इच्छा से ही टहलने घूमने के लिये भी इधर-उधर निकल जाया करता था तब इस समाचार को सुनकर अमरावती के दरवाजों को इन्द्र अत्यन्त डर से शीघ्र बन्द कर देता था। जान पड़ता था कि अमरावती भय से आँखों को बन्द करके बैठी हो। इस पद्य मे उत्प्रेक्षा का चमत्कार बडा ही मनोहर है।

कवि का समादर

राजा को चाहिए कि अपने राज्य के प्रधान नगर मे काव्य तथा शास्त्र की परीक्षा के लिये 'ब्रह्म सभा की' स्थापना करे। इनमे जो कवि या शास्त्रज्ञ परीक्षा मे उत्तीर्ण हों उसे ब्रह्मरथयान तथा पटबन्धन का सम्मान राजा अवश्य प्रदान करे। जब पण्डित राज-सभा मे विजयी होता था तब उसके रथ राजा स्वयं खीचते थे। इसे ब्रह्मरथयान कहते थे। और जब राजा स्वयं पण्डित के मस्तक पर सुवर्णपट्ट बाँध देते थे तब उसे पट्टबन्ध कहते थे। विजेता कवि का यहाँ तक सम्मान होता था कि कभी-कभी राजा स्वयं कवि की पालकी मे अपना कन्धा लगा देते थे। ऐसे ही सम्मान का वर्णन महाकवि भूषण के प्रसंग मे आता है। कहा जाता है कि शिवाजी के दरबार को छोडकर जब भूषण पन्ना के नरेश छत्रसाल के दरबार में आए तब राजा ने कवि का बडा ही समादर किया। महाकवि भूषण पालकी पर चढकर चले आ रहे थे। जब राजा ने यह समाचार सुना तब कवि की अगवानी (स्वागत) के लिये दौड पडे और उनकी पालकी मे स्वयं अपना कन्धा लगाकर भूषण को अपने महल मे ले आए। भूषण राजा के इस अलौकिक समादर से इतने प्रसन्न हुए कि निम्नांकित पद्य की रचना कर उन्होंने यह आशय प्रकट किया कि मुझे यह ज्ञात नहीं होता कि इस असाधारण सम्मान

के कारण अब मै छत्रपति साहू की प्रशंसा करूँ अथवा महाराज छत्रसाल की स्तुति करूँ।

"राजत अखण्ड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत मवन्त दिग्गजन हिय खालको।
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताप होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को।
साज सजि गज तुरी पैदरि कतार दीन्हें,
'भूषन' भरत ऐसे दीन प्रतिपाल को।
और रावराजा एक मन में न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कि सराहौ छत्रसाल को॥"

(छत्रसाल शतक, पद्य १०)

राजशेखर के उल्लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन भारत में उज्जैनी कवियों की परीक्षा का केन्द्र था और पाटलिपुत्र शास्त्रकारों की परीक्षा का मुख्य स्थान था। राजशेखर के अनुसार महाकवि कालिदास, भर्तृमेण्ठ, आर्यशूर, भारवि, हरिश्चन्द्र और चन्द्रगुप्त की परीक्षा विशाला नगरी (उज्जैनी) मे हुई थी।[1] पाटलिपुत्र मे आचार्य उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल, व्याडि, वररुचि और पतञ्जलि आदि आचार्यों की परीक्षा की गई थी।[2]

जिस प्रकार राजभवन मे विजय प्राप्त करना कवि के लिये गौरव का विषय था उसी प्रकार सभा मे पराजित होना भी अत्यन्त अनादर का सूचक था। कहा जाता है कि नैषधचरित के रचयिता महाकवि श्रीहर्ष के पिता हीर शास्त्रार्थ मे उदयनाचार्य से हार गये थे। इस पराजय से उनके हृदय को इतना धक्का लगा कि वे परलोक सिधार गए। उन्होंने अपने पुत्र से इस अपमान का बदला चुकाने को कहा था। अपने पिता के सुयोग्य पुत्र

१—इह कालिदासमेण्ठावत्रामररूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्॥
काव्यमीमांसा, अध्याय १० पृ० ५५।

२—श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा—
अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः।
वररुचिपतञ्जली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥
वही।

श्रीहर्ष ने शास्त्रार्थ के लिये उदयनाचार्य को चुनौती दी थी। परन्तु जब वे सामने न आए तो उनके ग्रन्थों का खण्डन अपने 'खण्डनखण्डखाद्य' नामक ग्रन्थ मे भलीभाँति किया और इस प्रकार अपने पिता के अपमान का बदला चुकाया।

८—काव्य-पाठ

काव्य-रचना के समान ही काव्य-पाठ भी एक मनोरम कला है। अनेक लेखक कविता के लिखने मे सफल हो सकते हैं परन्तु कविता के पढ़ने में उसे ही सफलता मिलती है जिसको सरस्वती सिद्ध होती है। जिस प्रकार काव्य की रचना में जन्मान्तरीय संस्कार कारण माना जाता है उसी प्रकार कण्ठ का माधुर्य भी जन्मान्तर के अभ्यास का ही फल होता है। हमारे आलोचकों का तो यहाँ तक कहना है कि काव्य-पाठ का सौन्दर्य एक जन्म का फल न होकर अनेक जन्मों के सस्कार का परिपक्व परिणाम है। इस विषय मे आलोचकों ने जिन नियमों का अपने ग्रन्थों मे उल्लेख किया है, वे आज भी उपादेय हैं तथा उनके अनुसरण करने से विदग्ध सभा मे भी कवि अपनी कविता-पाठ कर कीर्ति कमा सकता है।

कवि लोग उसी काव्य-पाठ की प्रशसा करते हैं जो ललित हो, काकु से युक्त हो, स्पष्ट हो, अर्थ के विचार से जिसमे शब्दों का परिच्छेद (पृथक्-करण) किया गया हो और जिसमे कान को सुख देने वाले अलग-अलग वर्णों का विन्यास हो।

> **ललितं काकुसमन्वितमुज्ज्वलमर्थवशकृतपरिच्छेदम् ।**
> **श्रुति-सुख-विविक्त-वर्णं कवयः पाठं प्रशंसन्ति ॥**
> **—काव्यमीमांसा, अध्याय ७, पृ० ३३**

महर्षि पाणिनि ने वर्णों के उच्चारण की विधि बतलाते हुए लिखा है कि जिस प्रकार व्याघ्री अपने पुत्रों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर अपने दाँतों से दबाकर ले जाती है और दाँतों से उन्हे किसी प्रकार की पीड़ा नहीं पहुँचाती क्योंकि वह डरती रहती है कि बच्चे कहीं गिर न जायँ और दाँत उनमे चुभ न जायँ, उसी प्रकार वर्णों के उच्चारण करनेवाले को भी सावधान होना चाहिए कि कहीं वर्ण उसके मुँह से गिर न जायँ और कहीं कोई वर्ण मुँह के भीतर ही रहकर अनुच्चारित न रह जाय:—

यथा व्याघ्री हरेत् पुत्रान् दंष्ट्राभ्यां न च पीडयेत्।
भीता पतनभेदाभ्यां तद्वत् वर्णान् प्रयोजयेत्॥
—पाणिनीयशिक्षा,

इसी का अनुसरण कर राजशेखर ने भी काव्य-पाठ के चार भेद बतलाए हैं जिनमें पहला गुण है (क) गंभीरता। काव्य के पढ़ते समय स्वरों में सान्द्रता होनी चाहिये। इस गुण के अभाव में शब्द का स्वर 'भौंय' 'भौंय' के समान कानों को कष्ट देता है। (ख) अनिष्ठुरता—अर्थात् स्वरों की कोमलता जिसके कारण काव्य कानों को कर्कश न प्रतीत होकर कोमल तथा सुखद जान पड़े। (ग) तार और मद्र स्वर का निर्वाह—अर्थात् प्रसन्न अर्थ होने पर वाणी का धीमे स्वर से उच्चारण करना चाहिए और इसके विरोधी काव्य-पाठ के अवसर पर उसे ऊँचे स्वर से पढ़ना चाहिये।[1] यह सामान्य नियम है। इस नियम के अनुसार किसी कविता के पढ़ने में पहले जिस स्वर को आरम्भ करे उसका निर्वाह अन्त तक करना चाहिए। दोनों स्वरों का मिश्रण कर अपने पाठ को कलुषित न बनाए। (घ) चौथा गुण संयुक्त-वर्ण-लावण्य है—अर्थात् सयुक्त वर्णों का सौन्दर्य। अनेक वर्णों के संयोग से जो संयुक्त वर्ण तैयार होते हैं; उनका पाठ साधारण रीति से कठिन होता है। अतः उनका ऐसा उच्चारण करे कि जिससे उनमे सुन्दरता का उन्मीलन होः—

गम्भीरत्वमनैष्ठुर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
सयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः॥
—का० मी० वही

काव्य पाठ की तभी प्रतिष्ठा होती है जब विभक्तियाँ स्फुट हों, समासों को अर्थाभिव्यक्ति की दृष्टि से स्पष्ट उच्चारण किया गया हो, पदों की सन्धि अलग-अलग जान पड़े। यह तभी सम्भव है जब अलग-अलग पदों का एक साथ उच्चारण न किया जाय और न समस्त (समास से युक्त) पदों को पृथक् किया जाय, न क्रिया-पदों का ऐसा उच्चारण करे जिससे वे मलिन प्रतीत

१—प्रसन्ने मन्द्रयेत् वाचं तारयेत् तद्विरोधिनि।
मन्द्रतारौ च रचयेन्निर्वाहिणि यथोत्तरम्॥
का० मी० अ० ७ पृ० ३३

हों। इन नियमों के आश्रय लेने पर ही काव्य की प्रतिष्ठा होती है तथा कवि यशस्वी बनता है—

विभक्तयः स्फुटा यत्र, समासाश्चाकदर्थिताः।
अम्लानः पदसन्धिश्च तत्र पाठः प्रतिष्ठितः॥
न व्यस्तपादयोरैक्यं न भिदा तु समस्तयोः।
न चाख्यातपदम्लानि विदधीत सुधी· पठन्॥

—काव्य-मीमांसा अ० ७

समस्त पदों को अलग-अलग करके पढने से जो अनर्थ होता है उनका पूर्ण आभास इस प्राचीन कथा मे मिलता है।

सुनते हैं कि कोई व्यासजी थे जो जन्म से तो अन्धे थे परन्तु रामायण की कथा बडी सुन्दर कहा करते थे। अन्धे होने के कारण उन्होंने रामायण के श्लोकों के पढने का भार किसी नवयुवक शिष्य पर छोड रखा था। शिष्य रामायण पढ़ता जाता था और व्यासजी उसकी सुन्दर व्याख्या कर जनता को रिझाते थे। कथा समाप्ति पर उन्हें प्रचुर दक्षिणा मिलती थी परन्तु वे इतने अर्थ-लोलुप थे कि अपने सहायक शिष्य को उस द्रव्य मे से बहुत थोड़ा धन दिया करते थे। चेला अपने गुरु के इस व्यवहार से बडा दुःखी था और अपने गुरु को छोडने का अवसर ढूँढ रहा था। आखिर वह अवसर आ ही गया। श्रोताओं का जमघट जुटा हुआ था। वृद्ध व्यासजी बडे अनुराग और लगन के साथ कथा कह रहे थे। कथा खूब जमी थी। इसी अवसर पर वह चतुर शिष्य जोरों से बोल उठा—'दशरा-मशरा:'। व्यासजी ने इस पद का अर्थ न लगते देखकर शिष्य से इसे फिर से पढ़ने का आग्रह किया। परन्तु सधे हुए शिष्य ने फिर दुहराया—"दशरा–मशरा:"। व्यासजी ने समझ लिया दाल में काला है। रामायणी कथा कहते हुए उम्र बीत चली, बाल सफेद हो गए, परन्तु कभी भी दशरा-मशराः उनके कानों में न पड़ा था। श्रोताओं को किसी प्रकार सन्तोष देकर उन्होंने उस दिन बिदा किया और कथा-समाप्ति के अनन्तर अपने शिष्य को एकान्त में कहा कि आज से कथा की दक्षिणा मे तुम्हारा भी हिस्सा रहेगा; आधा तुम्हारा आधा मेरा। चेलाराम चेत गये और दूसरे दिन उसने कथा के अवसर पर इन पदों का शुद्ध उच्चारण करते हुए पढा—दश-राम-शरा.। शुद्ध पाठ सुनते ही व्यासजी को श्लोक का ठीक अर्थ लग गया और उन्होंने श्लोक के यथार्थ अर्थ को समझा कर श्रोताओं का पर्याप्त मनोरजन किया।

कविता का पाठ रसानुकूल होना चाहिए। विप्रलम्भ शृंगार की कविता सदा मन्द स्वर मे पढी जानी चाहिए। इसके विपरीत उत्साहमयी वीर कविता के पाठ के लिये ऊँचे स्वर का प्रयोग करना उचित होता है। औचित्य के भेदों में एक प्रकार **पाठौचित्य** भी होता है जिसमें सन्दर्भ तथा रस के अनुकूल कविता का पाठ उचित ढग से किया जाता है। विरह-वेदना से पीड़ित कोई सुन्दरी अपनी सखियों से निवेदन करती है—

> **अपसारय घनसारं कुरु हारं दूर एव किं कमलैः।**
> **अलमलमालि मृणालैरिति वदति दिवानिशं बाला।**

विप्रलम्भ शृंगार से लबालब भरे हुए इस श्लोक का आनन्द मन्द्र स्वर से पढने मे ही आ सकता है। इसके ठीक विपरीत वीररसोत्पादक भट्ट नारायण का यह श्लोल देखिए—

> **मन्थायस्तार्णवाम्भः प्लुतिकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः,**
> **कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटाऽन्योन्यसङ्घट्टचण्डः।**
> **कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः,**
> **केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम् ॥**

इस पद्य को जबतक ऊँचे स्वर में नहीं पढ़ा जायगा तबतक श्लोक का चमत्कार स्फुट रूप से अभिव्यक्त नहीं होगा।

कहा जाता है हिन्दी के **महाकवि भूषण** के काव्य-पाठ का ढंग बड़ा ही निराला था। अपनी वीररसमयी, फड़कती कविता को जब वे जोश में आकर तारस्वर से पढने लगते थे तब जनता के ऊपर उसका प्रभाव बड़ा ही अधिक पडता था। ऐसी प्रसिद्धि है कि वे अपने घर से रुष्ट होकर शिवाजी के दरबार मे अपनी कविता सुनाने के लिए पूना पहुँचे। रात्रि हो गई थी, स्थान बिल्कुल अपरिचित था। अतः वे किसी धर्मशाला या मन्दिर में ठहर गए। थोड़ी देर मे शिवाजी महाराज वेष बदलकर अपनी प्रजा के दुःख तथा सुख का समाचार जानने के लिये उस धर्मशाले मे आ पहुँचे। उन्होंने इस नवागन्तुक अतिथि से पूछा कि तुम कौन हो और यहाँ क्यों आए हो? भूषण ने कहा कि मै एक साधारण कवि हूँ और कल गुणग्राही शिवाजी महाराज के दरबार मे अपनी कविता सुनाने के लिये आया हूँ। शिवाजी ने पूछा कि क्या मैं वह कविता सुन सकता हूँ? तब भूषण ने बड़े ऊँचे स्वरों में, बड़े उमंग तथा जोश के साथ अपनी ओजमयी निम्नाकित कविता पढ़ सुनायी।

इन्द्र जिमि जम्भपर, वाड़व सुअम्ब पर,
रावण सदम्भपर रघुकुल राज है।
पवन बारिबाह पर, सम्भु रतिनाहपर,
ज्यों सहस्रबाहुपर राम द्विजराज है।
दावा द्रुमदंडपर चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुण्डपर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंसपर, कान्ह जिमि कंसपर,
त्यौ म्लेच्छवंशपर शेर शिवराज है॥

शिवाजी इस वीर रस से ओतप्रोत तथा तारस्वर से जोश के साथ पढ़ी गई कविता को सुनकर फड़क उठे और कविजी से कहा कि इस कविता को एक बार और पढ़िए। इस प्रकार उन्होंने इस कविता को भूषण के मुँह से ५२ बार सुना और प्रसन्न होकर भूषण को ५२ गाँव, ५२ हाथी, ५२ लाख रुपए दिये।

आधुनिक हिन्दी के जन्मदाता, महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कोमल कविता के पाठ करने में बड़े निपुण थे। एक तो उनका वेश ही बड़ा सुन्दर था—कन्धे पर लटकते हुए घुंघराले बाल, शरीरपर सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, सुन्दर चमकता हुआ वदन। जब भारतेन्दुजी कविता-पाठ करने के लिये खड़े होते थे तो एक अजीब समां बँध जाता था। यों तो प्रत्येक छन्द मे निबद्ध कविता को वे सुन्दर रीति से पढ़ते थे परन्तु वे सरस सवैया के कवि ही न थे प्रत्युत मनोरम पाठ करने में दक्ष भी थे। उनके मधुर कण्ठ से पढ़ी गई सवैया सुनकर श्रोतागण लोटपोट हो जाते थे। घनानन्द की 'सवैया' उन्हें बड़ी प्रिय थी और उनका वे बड़े प्रेम से पाठ किया करते थे तथा विशेष कर इस सवैया का—

"अतिसूधो सनेह को मारग है, जँह नेकु सयानप बाँक नहीं।
तुम कौनसी पाटी पढ़े हो लला, मन लेत हो देत छटाँक नहीं॥"

प्रान्तीय कवियों का कविता-पाठ

राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में भारत के विभिन्न प्रान्तों के निवासी कविजनों के काव्य-पाठ का बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है। भारत एक महान् देश है जहाँ के विभिन्न प्रान्तों मे विभिन्न भाषाओं को भिन्न-भिन्न स्वरों में पढ़ने का ढंग प्रचलित था। ऐतिहासिक दृष्टि से राजशेखर के इस वर्णन का बड़ा ही

महत्त्व है। आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले काव्य-पाठ के विषय में कवि-परम्परा कैसी थी इसका परिचय हमे राजशेखर के इस विवरण से भली भाँति मिलता है।

काशी से पूरब के कवियों के विषय में उनका कहना है कि वे लोग सस्कृत कविता का पाठ बड़ा ही सुन्दर करते थे, परन्तु प्राकृत कविता का पाठ बड़ा ही कर्कश होता था[१]। गौड़देशीय सस्कृत-पाठ की प्रशस्त प्रशंसा करते हुए राजशेखर ने लिखा है कि गौड़देशीय ब्राह्मण का पाठ न तो अत्यन्त स्पष्ट होता है, न अत्यन्त आश्लिष्ट (मिला हुआ) होता है, न रूखा होता है और न अत्यन्त कोमल होता है, न मन्द होता है और न अत्यन्त ऊँचा ही होता है। अर्थात् वह मध्यम स्वर में काव्य का पाठ करता है[२]। इस विषय में राजशेखर ने एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना कर रही हैं कि ए भगवान्! मैं अपना अधिकार छोड़ने के लिये उद्यत हूँ। या तो गौड़-देशीय कवि प्राकृत का पढ़ना छोड़ दें अथवा उनके लिये दूसरी सरस्वती हो—

ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया।
गौडो त्यजतु वा गाथामन्या वाऽस्तु सरस्वती॥

भारत के पश्चिमी भाग अर्थात् गुजरात प्रान्त के कविजन संस्कृत के द्वेषी होते थे। वे प्राकृत कविता को बडे लटक के साथ पढते थे। ललित वचन के उच्चारण के कारण उनकी जीभ बड़ी मीठी मालूम पड़ती थी[३]। सुराष्ट्र (काठियावाड़) एवं त्रवण (पश्चिमी भारत का एक प्रान्त) के कविजन सस्कृत कविता को अपभ्रंश कविता के उच्चारण विधान के अनुसार

१—पठन्ति सस्कृतं सुष्ठु कुण्ठाः प्राकृतवाचि ते।
वाराणसीतः पूर्वेण ये केचिन्मगधादयः॥

का० मी०, अ० ७ पृ० ३३

२—नातिस्पष्टो न चाश्लिष्टो न रूक्षो नातिकोमलः।
न मन्द्रो नाति तारश्च पाठो गौडेषु वाडवः॥

का० मी० अ० ७ पृ० ३४

३—पठन्ति लटभं लाटाः, प्राकृतं संस्कृतद्विषः।
जिह्वया ललितोल्लापलब्धसौन्दर्यमुद्रया॥

वही—

पढते थे[१]। राजशेखर ने अपने बालरामायण मे लाट देश (गुजरात) को प्राकृत कविता का केन्द्र माना है। इस प्रसंग में वे लिखते हैं कि प्राकृत संस्कृत की योनि है। वह सुलोचनी स्त्रियों की जिह्वापर आनन्द देती है, जिसको सुनते ही संस्कृत भाषा के अक्षरों का रस भी कटु प्रतीत होता है। जो स्वयं कामदेव का निवासस्थान है, उस प्राकृत का पाठ करनेवाली लाट देश की सुन्दर स्त्रियाँ होती हैं।

यद्योनिः किल संस्कृतस्य सुदृशां जिह्वासु यन्मोदते,
यत्र श्रोत्रपथावतारिणि कटुर्भाषाक्षराणां रसः।
गद्यं चूर्णपदं पदं रतिपतेस्तत्प्राकृतं यद्वच—
स्ताँल्लाटाँल्ललिताङ्गि पश्य नुदती दृष्टेर्निमेषव्रतम्॥

राजशेखर—बालरामायण

गुर्जरदेशीय लोगों का प्राकृत-प्रेम इतना अधिक है कि आज भी वे संस्कृत-शब्दों का विशुद्ध उच्चारण नहीं कर सकते। तुलसी को वे तलसी कहते हैं, मुकुन्द को मकन्द और शिव का उच्चारण शव करते हैं। महाराष्ट्र पण्डितों का गुर्जरदेशीय पण्डितों के सस्कृत उच्चारण की यह आलोचना कितनी समीचीन है।

तुलसी तलसी जाता, मुकुन्दोऽपि मकुन्दताम्।
गुर्जराणां मुखं प्राप्य शिवोऽपि शवतां गतः॥

इस श्लोक से पता चलता है कि गुजराती लोग संस्कृत शब्दों के इकार और उकार के स्थान पर अकार का उच्चारण करते हैं। यह उच्चारण की प्रवृत्ति प्राकृत भाषा से आई है क्योंकि प्राकृत-भाषा के व्याकरण के अनुसार किन्हीं संस्कृत-शब्दों का इकार और उकार अकार हो जाता है।

भारत के उत्तरी प्रान्तों मे काश्मीर ही संस्कृत काव्यकला का केन्द्र था। शारदापीठ होने के कारण वहाँ के कवि संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते थे। महाकवि बिल्हण ने कविता के विलास को केसर-प्ररोह का सहोदर माना है। उनके मत से केसर और कविता कश्मीर में ही पैदा होती है। इन दोनों का अंकुर किसी दूसरे देश मे नहीं जमता। वे कहते हैं—

१—सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पितसौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृतवचांस्यपि॥

वही, पृ० ३४

सहोदराः कुंकुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविता विलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टः तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥
विक्रमाङ्कदेवचरित १।१०

बिल्हण की यह उक्ति वस्तुतः यथार्थ है। कश्मीर के कवियों ने सरस कविता का निर्माण कर सरस्वती के भण्डार की पूर्ति की है। परन्तु उनके संस्कृत श्लोकों का पाठ सुन्दर नहीं होता। वह इतना कडुआ होता है कि जान पडता है मानो कोई गुडुची का रस कानों मे उडेल रहा हो। राजशेखर कहते हैं:—

शारदायाः प्रसादेन काश्मीरः सुकविर्जनः।
कर्णे कडूची कण्डूषस्तेषां पाठक्रमः किमु ॥
काव्यमीमांसा, अ० ७ पृ० ३४

कश्मीर के उत्तर गिलगित प्रान्त मे जो संस्कृत भाषाभाषी व्यक्ति होते थे उनमे कितना ही संस्कार किया जाय परन्तु संस्कृत शब्दों का सर्वदा सानुनासिक ही पाठ करते थे[1]।

दक्षिण भारत के लोगों के उच्चारण के विषय में राजशेखर ने कर्णाट देश तथा द्रविड़ देश के कवियों का वर्णन किया है। वे कहते हैं कि चाहे कोई भी रस हो, कोई भी रीति हो, कोई भी गुण हो परन्तु कर्णाट देश का कवि गर्व के साथ जोशीले स्वरों मे टंकार के साथ बोलता है[2]। इससे विपरीत दशा है द्रविड देश के कवि की जो गद्य, पद्य अथवा चम्पू को संगीत के स्वर में पढ़ता है। काव्य के प्रकार पर बिना विचार किए हुए वह सबको गा-गाकर पढ़ता है[3]।

राजशेखर ने भारतवर्ष के मध्यदेश (वर्तमान 'उत्तर प्रदेश') के कवियों के काव्य-पाठ की बडी प्रशंसा की है। उनका कहना है कि इन कवियों का

१—ततः पुरस्तात् कवयो ये भवन्त्युत्तरापथे।
ते महत्यपि संस्कारे सानुनासिकपाठिनः ॥ का० मी० वही पृ० ३३

२—रसः कोऽप्यस्तु कोऽप्यस्तु, रीतिः कोऽप्यस्तु वा गुणः।
सगर्वसर्वकर्णाटाः टंकारोत्तरवादिनः ॥
अ० ७ पृ० ३४

३—गद्ये पद्येऽथवा मिश्रे काव्ये काव्यमना अपि।
गेयगर्भे स्थितः पाठे सर्वोऽपि द्रविडः कविः ॥ वही—पृ० ३४

संस्कृत काव्य-पाठ रीति का अनुगमन करता है, गुणों का निधान है, सम्पूर्ण वर्णों के उच्चारण की अभिव्यक्ति करता है, यतियों के द्वारा वह विभक्त रहता है। उनका काव्य-पाठ इतना मधुर होता है कि वह श्रोताओं के कान मे मधु की धारा उडेल देता है। राजशेखर कहते हैं—

मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां,
सम्पूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभगः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः॥

काव्यमीमांसा, अ० ७ पृ० ३४

महाकवि सुबन्धु ने कानों में मधुधारा बहानेवाली, सत्कवि की कविता का जो वर्णन किया है वह राजशेखर के द्वारा वर्णित मध्यदेशीय कवियों के काव्य में विशेष रूप से चरितार्थ होता है।

आजकल भी मध्यदेश की काशी नगरी में निवास करनेवाले पण्डितों का संस्कृत का उच्चारण शुद्ध, सुन्दर, मनोरम तथा आदर्श माना जाता है।

अनधिगतगुणापि हि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला॥

—वासवदत्ता

९—कवि-कोटियाँ

विषय-दृष्टि से कविभेद

राजशेखर ने कवियों का काव्य के विषय की दृष्टि से तीन भेद किया है—(१) शास्त्र-कवि (२) काव्य-कवि और (३) उभय-कवि। श्यामदेव नामक आचार्य की सम्मति मे इनमे क्रमशः एक दूसरे से बडा होता है। शास्त्र-कवि सबसे निम्नश्रेणी का होता है। उससे बढ़कर होता है काव्य-कवि और सबसे श्रेष्ठ है उभय-कवि। परन्तु राजशेखर इस मत के सर्वथा विरुद्ध हैं। उनका कथन है कि प्रत्येक कवि अपने विषय मे श्रेष्ठ होता है। यह विभाग विषय की दृष्टि से किया गया है। प्रत्येक विषय का कवि अपने विषय मे स्वतन्त्र है। न राजहंस चन्द्रकिरण के पान करने में कभी समर्थ होता है और न चकोर पानी से दूध को अलग कर सकता है। नीर-क्षीर

विवेक हंस का कार्य है और चन्द्रिका-पान चकोर का। दोनों अपने विषय मे कुशल हैं। इसी प्रकार विषय की दृष्टि से कवियों की भी व्यवस्था है।

शास्त्र-कवि काव्य मे रस सम्पत्ति का सम्पादन करता है और काव्य-कवि शास्त्र के तर्क-कर्कश अर्थ को भी उक्ति की विचित्रता से मनोरम बना देता है। परन्तु उभय कवि शास्त्र और काव्य, दोनों मे परम प्रवीण होता है। इसलिये शास्त्र-कवि और काव्य-कवि का प्रभाव एक समान हुआ करता है। दोनों मे परस्पर उपकार्योपकारक भाव भी हुआ करता है। अर्थात् शास्त्र कवि को काव्य की मधुरता तथा सरसता को ग्रहण कर उसे अपने काव्य मे लाने का उद्योग करना चाहिए। यदि वह शास्त्र में ही एकागी रूप से प्रवण होगा तो उसकी कविता माधुर्य से विहीन होने के कारण जनमन का अनुरंजन नहीं कर सकती। इसी प्रकार काव्य-कवि को भी शास्त्र का संस्कार होना चाहिये क्योंकि शास्त्र का संस्कार काव्य-रचना में महती सहायता करता है। काव्य में एकागी रूप से प्रवण होने से शास्त्र के गम्भीर तत्त्वों का विवेचन काव्य मे नहीं हो सकता। इस लिये काव्य और शास्त्र, दोनों का उपकार्योपकार्य भाव मानना नितान्त शोभन तथा युक्तियुक्त है।

शास्त्र-कवि

शास्त्रकवि वराहमिहिर की रसमयी कविता देखिये। कवि अग्निप्रदाह का शास्त्रीय वर्णन मनोरम शब्दों में कर रहा है—

> वातोद्धतश्चरति वह्निरतिप्रचण्डो,
> ग्रामान् वनानि नगराणि च संदिधक्षुः।
> हा हेति दस्युगणपातहता रटन्ति,
> निःस्वीकृता विपशवो भुवि मर्त्यसघाः॥
>
> —बृहत्संहिता

यदि काव्यकवि शास्त्र के तत्त्वों का विवेचन भी अपने काव्य में कोमल शब्दों में प्रसंगतः करता है तो उसका शास्त्रीय विवेचन भी इसी प्रकार रोचक तथा ज्ञानवर्धक होता है। महाकवि माघ और श्रीहर्ष में कवित्व तथा पांडित्य का अद्भुत विकास दृष्टिगोचर होता है। अतः इनके काव्य मे एतद्विषयक दृष्टान्तों की विशेष बहुलता है। माघ ने प्रातःकाल के वर्णन-प्रसग मे उपयुक्त राग के ग्रहण तथा अनुचित राग के निषेध की बात बडे मार्मिक ढंग से कही है—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम् ।
प्रणिजगदुरकाकु श्रावक—स्निग्धकण्ठाः
परिणतिमिति रात्रेर्मागधा माधवाय ॥

—शिशुपाल वध, ११।१

श्री हर्ष ने निम्नाकित श्लोक मे योगशास्त्र के तत्त्व का निर्देश कर कितनी मार्मिकता अभिव्यक्त की है :—

हंसं तनौ सन्निहितं चरन्तं मुनेर्मनोवृत्तिरिव स्विकायाम् ।
ग्रहीतुकामा दरिणा शयेन यत्नादसौ निश्चलतां जगाहे ॥

—नैषध-चरित ३।२

वैशेषिक मत की दूसरी संज्ञा है औलूक दर्शन । अन्धकार तत्त्व के विषय में वैशेषिक मत के आचार्यों ने बडा ही गम्भीर विचार किया है । इसी को लक्ष्य करते हुए श्री हर्ष ने वैशेषिक मतानुयायी विद्वानों पर बडी ही सुन्दर छीटाकशी की है । तमिस्रा में दर्शन की क्षमता रखता है उलूक तथा तमस्तत्त्व के निरूपण की क्षमता रखता है औलूक्य दर्शन ।

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां,
वैशेषिकं चारुमतं मतं मे ।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्,
क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय ।

—नैषध २२।३६

इन कवियों के अवान्तर प्रकार भी अनेक होते हैं ।

(१) शास्त्रकवि तीन प्रकार का होता है—

(क) जो विभिन्न छन्दों में शास्त्र का विधान करता है ।

(ख) जो शास्त्र में काव्य का संविधान करे अर्थात् शास्त्र लिखते समय काव्य की सुन्दर सामग्री का भी स्थान-स्थान पर निवेश करे; जैसे वराहमिहिर और भास्कराचार्य ने अपने ज्योतिष के ग्रन्थों में ऋतुवर्णन आदि कमनीय अवसरों पर बडी ही रोचक तथा रसपेशल कविता लिखी है ।

(ग) जो काव्य में शास्त्र के अर्थ को रखता है जैसे भट्टि ।

महाकवि भट्टि ने अपने विश्रुत काव्य मे व्याकरण शास्त्र के नियमों का उदाहरण इतनी सुन्दरता से प्रस्तुत किया है कि कोई भी व्यक्ति भट्टि काव्य की सहायता से व्याकरण का प्रवीण पण्डित बन सकता है ।

काव्यकवि

२—राजशेखर ने काव्यकवि के आठ प्रकार बताए हैं। काव्यगत वैशिष्ट्य या चमत्कार के कारण यह विभाजन स्वीकार किया गया है। ये भेद हैं—(१) रचनाकवि (२) शब्दकवि (३) अर्थकवि (४) अलंकारकवि (५) उक्तिकवि (६) रसकवि (७) मार्गकवि और (८) शास्त्रार्थकवि ।

(१) रचनाकवि—उसे कहते हैं जिसकी पदरचना अत्यन्त सुन्दर हो अर्थात् अनावश्यक, अधिक तथा अपुष्टार्थक पदों की भी योजना केवल अनुप्रास लाने के लिये की गई हो ।[1]

(२) शब्दकवि—जिस कवि के काव्य मे शब्दों की योजना अत्यन्त सुन्दर हो अर्थात् एक ही शब्द के विन्यास से काव्य मे सच्चा चमत्कार उत्पन्न हो जाय वह होता है शब्दकवि। संस्कृत के राजशेखर शब्द-कवि के प्रख्यात उदाहरण हैं। 'श्रुति-मर्मज्ञ' के लिये उनका 'श्रुत्यर्थवीथिगुरुः' ऐसा ही सुन्दर शब्द है। लैटिन भाषा के महनीय कवि वर्जिल तथा अंग्रेजी भाषा के महाकवि टेनिसन इस श्रेणी में रखे जा सकते हैं। टेनिसन के विषय में कहा जाता है कि इन्होंने अपने महाकाव्य 'इन मेमोरियम' के संस्कार करने में अनवरत बीस वर्ष लगाए, तब कहीं यह अनुपम काव्य निष्पन्न हुआ। वर्जिल तो इस सौशब्द्य के प्रधान आचार्य माने जाते हैं जिनके विषय मे इस कला के विशेषज्ञ टेनिसन की यह उक्ति नितान्त प्रसिद्ध है—

Landscape lover, lord of language
more than he that sang the Work and Days,
All the chosen coin of fancy
flashing out from many a golden phrase.
How that singest wheat and woodland, tilth
and vineyard, hive and horse and herd;

१—अधिकानामपुष्टार्थानामपि पदानामनुप्रासाय छन्दः पूरणाय च अर्थानुगुण्येन रचितत्वादियं पदरचना ॥

भोज, सरस्वती-कण्ठाभरण २।६९

All the charm of all the muses
often flowering in a lonely word.

(३) **अर्थकवि**—नवीन अर्थ, नूतन घटना तथा अभिनव स्थिति की कल्पना करने में प्रवीण कवि 'अर्थकवि' कहलाता है।

(४) **अलंकारकवि**—अलंकार की योजना मे निपुण कवि इस नाम से पुकारा जाता है।

(५) **उक्तिकवि**—'उक्ति' का अर्थ है कथन का विलक्षण प्रकार। इस विषय मे चतुर कवि 'उक्तिकवि' कहलाता है। जैसे किसी युवति की यौवन-दशा का वर्णनात्मक यह पद्य—

उदरमिदमनिन्द्यं मानिनीश्वासलाव्यं
स्तनतटपरिणाहो दोर्लतालेह्यसीमा।
स्फुरति च वदनेन्दुर्दृक्प्रणालीनिपेय—
स्तदिह सुदृशि कल्याः केलयो यौवनस्य॥

युवति का अभिनन्दनीय उदर मानिनी के श्वास से टूटने योग्य है। मानिनी की आहों की हवा से युवती का उदर टूट पड़ता है। स्तनतट की विशालता ऐसी है जैसे लतातुल्य भुजाएँ उसकी सीमा को चाट रही हैं। मुख-रूपी चन्द्रमा ऐसा चमकता है मानो नेत्रों के पनाले के द्वारा वह बिल्कुल पीने योग्य है—इस प्रकार उस सुनयनी के शरीर में यौवन कमनीय क्रीड़ा कर रहा है। इस पद्य में उक्ति की विचित्रता है।

(६) **रसकवि**—रस को काव्य में प्रधानता देनेवाला कवि।

(७) **मार्गकवि**—काव्य में विशिष्ट रीति को आदर देनेवाला कवि मार्ग कवि कहलाता है।

(८) **शास्त्रार्थकवि**—काव्य मे शास्त्र के विशिष्ट अर्थों को कोमल पदावली में प्रस्तुत करनेवाला कवि।

विचार करने से स्पष्ट होगा कि इन प्रकारों में अनेक प्रकार अलंकार शास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों की ओर लक्ष्य करके ही निर्दिष्ट किए गए हैं।

अवस्थागत कविकोटि

राजशेखर ने अवस्था को दृष्टि मे रख कर कवियों के दस भेद निर्धारित किये हैं—

(१) काव्यविद्यास्नातक, (२) हृदयकवि, (३) अन्यापदेशी, (४) सेविता, (५) घटमान, (६) महाकवि, (७) कविराज, (८) आवेशिक, (९) अविच्छेदी और (१०) सक्रामयिता ।

(१) काव्यविद्यास्नातक—जो व्यक्ति कवित्व की कामना से काव्य की विद्याओं (व्याकरण, छन्दःशास्त्र, अलंकार-शास्त्र आदि) तथा उपविद्याओं (चौसठकला) के ग्रहण करने के लिये गुरुकुल मे जाकर निवास करता है वही काव्यविद्यास्नातक कहलाता है ।

(२) हृदयकवि—वह है जो कविता तो बनाता है परन्तु संकोचवश उसे छिपा रखता है, न बाहर प्रकट करता है; न पत्र, पत्रिकाओं में छपने के लिये उसे भेजता है। उसकी कविता का प्रचार उसके हृदय तक ही सीमित है। अतः उसे हृदयकवि कहते हैं।

(३) अन्यापदेशी—वह कवि है जो स्वयं कविता तो करता है परन्तु दोष के भय से वह दूसरे की रचना कहकर लोगों मे उसका प्रचार करता है। अनेक कवि आरम्भिक दशा में दूसरों के ही नाम से अपनी कविता का प्रचार करते हैं।

(४) सेविता—वह कवि है जो प्राचीन कवियों की कविता की छाया लेकर कविता का अभ्यास करता है।

(५) घटमान—वह कवि है जो स्फुट कविता तो सुन्दर लिख लेता है परन्तु कोई प्रबन्धकाव्य नहीं लिख सकता। आजकल के हिन्दी के अधिकतर वर्तमान कविगण 'घटमान' कवि की श्रेणी मे रखे जा सकते हैं।

(६) महाकवि—वह है जो प्रबन्ध काव्य की रचना मे समर्थ होता है। मुक्तक काव्य की रचना करना तो सरल काम है परन्तु प्रबन्ध काव्य की रचना—जिसके अंग और उपाग परस्पर सम्बद्ध हों तथा रससंवलित हों—अतीव दुष्कर व्यापार है। ऐसे ही प्रबन्ध काव्य की रचना को लक्ष्य कर महाकवि माघ ने कहा है—

> **बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिभाषते ।**
> **अनुज्झितार्थसंबंधः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥**
>
> **—शिशुपालवध २।७३**

प्रकीर्ण कविता की रचना मे अधिकतर मनमानी कल्पना का ही राज्य रहता है, अतः बहुत से कवि स्फुट कविता बाँधते देखे जाते हैं, परन्तु अर्थ-

सम्बन्ध से संवलित पुष्ट प्रबन्ध की रचना किसी ही भाग्यशाली कवि के लिलार मे लिखी रहती है।

संस्कृत के कवियों ने प्रबन्ध-रचना को विशेष महत्त्व दिया है। इसीलिये संस्कृत मे महाकाव्यों की संख्या बहुत ही अधिक है। यह दुःख की बात है कि हिन्दी मे प्रबन्ध-काव्य की रचना आज भी बहुत ही कम हो रही है।

(७) **कविराज**—राजशेखर के अनुसार कवियों की सब से उन्नत कोटि कविराज की है। कविराज वही होता है जो कि सब प्रकार की भाषा में कविता लिखने मे समर्थ होता है। प्रत्येक प्रकार के प्रबन्ध में तथा प्रत्येक प्रकार के रस में जो स्वतन्त्रतया सिद्ध हो वही कविराज की महनीय पदवी से अलंकृत किया जाता है[1]। राजशेखर यह मानते है कि यह पद सर्वश्रेष्ठ है और इसके पाने के अधिकारी संसार मे इने-गिने दो-चार ही कवि होंगे। सरस्वती भी ऐसे वश्यवाक् कवि की दासी बनकर उसका अनुगमन किया करती है। ऐसे ही रससिद्ध कविराज तथा पारदसिद्ध वैद्यराज की प्रशंसा भर्तृहरि ने समभावेन इस प्रख्यात पद्य मे की है:—

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये, जरामरणजं भयम्॥

अब तक कवियों की वर्णित सातों अवस्थाएँ विकास तत्त्वानुयायी हैं—क्रम क्रम से विकास को प्राप्त होने वाली हैं अर्थात् काव्य विद्या स्नातक की दशा से आरम्भ कर जो व्यक्ति प्रतिभा तथा अभ्यास के बल पर आगे उन्नति करता जाता है वह कविराज की सबसे उन्नत कोटि प्राप्त करने में समर्थ होता है। ये सातों अवस्थाएँ बुद्धिमान् तथा आहार्य-बुद्धि नामक कवियों की हैं। औपदेशिक कवि की भी तीन अवस्थाएँ होती हैं जो नीचे दिखाई जाती हैं—

(८) **आवेशिक**—मन्त्र तथा तन्त्र आदि की उपासना से काव्यरचना में सिद्धि पाने वाला व्यक्ति तभी कविता करता है जब वह आवेश मे आता है। ऐसे कवियों को 'आवेशिक' कहते हैं।

(९) **अविच्छेदी**—जो जब चाहता है तभी बिना किसी प्रतिबन्ध के कविता करता है उसे अविच्छेदी कवि कहते हैं, क्योंकि उसकी इच्छा का कभी विच्छेद नहीं होता है।

१—यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु तेषु प्रबन्धेषु तस्मिन् तस्मिन् च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः। ते यदि जगत्यपि कतिपये।

काव्यमीमांसा अ० ५ पृ० १९।

(१०) संक्रामयिता—उसे कहते हैं जो स्वयं सिद्ध मन्त्र होकर मन्त्र के ही बल पर अबोध कन्या तथा कुमारों में, बालक तथा बालिकाओं में, सरस्वती का संक्रमण करता है अर्थात् उन्हें काव्यरचना की शक्ति तथा स्फूर्ति प्रदान करता है। सरस्वती के संक्रमण कराने के कारण वह 'संक्रामयिता' कहलाता है। ऐसा कवि उपासना मे लब्धप्रतिष्ठ सिद्ध पुरुष ही हो सकता है।

वामन के मतानुसार काव्य-शिक्षा के अधिकारी के भेद से कवि दो प्रकार के होते हैं—(१) अरोचकी (२) सतृणाभ्यवहारी। ये ५ नों शब्द वैद्यकशास्त्र से लिए गए हैं। अरोचकी वह व्यक्ति है जो स्वाद का विशेषज्ञ होता है और इसीलिए उसे साधारण स्वाद की वस्तु अच्छी नहीं लगती। सतृणाभ्यवहारी वह पुरुष होता है जो किसी वस्तु विशेष का बिना स्वाद लिये ही उसे खा डालता है। यदि किसी व्यक्ति को जलपान करने के लिये मिश्री दी गई और वह मिश्री के साथ ही मिश्री के खुज्जे को भी खा डालता है, तो उसे सतृणाभ्यवहारी कहेंगे। लक्षणा के द्वारा इनका क्रमशः अर्थ होता है विवेकी और अविवेकी। वामन का कहना है कि विवेकी पुरुष को काव्य-शिक्षा दी जा सकती है। वह काव्य का अधिकारी हो सकता है[1]। परन्तु अविवेकी को शास्त्र की शिक्षा कथमपि नहीं दी जा सकती[2]। पात्र को ही शास्त्र की शिक्षा दी जाती है, कुपात्र को नहीं। पानी मे यदि कतक डाला जायगा तो वह उसे शुद्ध कर सकता है परन्तु कीचड़ में कतक को डालने से वह पंक को कदापि शुद्ध नहीं कर सकता है।[3]

उपर्युक्त कथन का अभिप्राय केवल इतना ही है कि जो विवेकी पुरुष हैं शास्त्र उन्हीं का उपकार कर सकता है किन्तु जो स्वभाव से ही विवेकरहित हैं उनका उपकार शास्त्र के द्वारा कुछ भी नहीं हो सकता। जड़ व्यक्ति को शास्त्र का शिक्षण उसी प्रकार व्यर्थ होता है जिस प्रकार भस्म में हवन करना, मरुभूमि मे पानी का बरसना और बहिरे को गाना सुनानाः—

> अयं भस्मनि होमः स्यादियं वृष्टिर्मरुस्थले।
> उदमश्रवणे गानं यज्जडे शास्त्रशिक्षणम्॥
>
> वामन—का० लं० सू० की टीका १।२।४

१—पूर्वे शिष्या. विवेकित्वात्। का० लं० सू० १।२।२

२—नेतरे तद्विपर्ययात्। वही १।२।३

३—न शास्त्रमद्रव्येषु अर्थवत्। वही १।२।४

न कतकं पंकप्रसादनाय। वही १।२।५

काव्योपासनामूलक कविभेद

काव्यकला की उपासना की दृष्टि से राजशेखर ने कवियों के चार भेद किए हैं:—(१) असूर्यंपश्य, (२) निषण्ण, (३) दत्तावसर, (४) प्रयोजनिक।

(१) असूर्यंपश्य—कवि वह होता है जो गुहा के गर्भ में, भूमिगृह मे, प्रवेश करके नैष्ठिक वृत्ति से कविता करता है। 'असूर्यंपश्य' शब्द का अर्थ है सूर्य को न देखने वाला। इस नामकरण का तात्पर्य यह है कि यह कवि कविता की उपासना में इतना व्यस्त रहता है कि वह अपने एकान्त निवास को छोड़कर बाह्य जगत् के प्रपंचों में तनिक भी नहीं फँसता। ऐसे कवि के लिये क्या काव्यकाल का विधान किया जा सकता है ? उसके लिये तो सब समय काव्य-रचना के अनुकूल हैं।

(२) निषण्ण—निषण्ण कवि कहलाता है जो रसावेश के समय मे ही कविता करता है। वह नैष्ठिक वृत्ति से नहीं रहता। काव्य क्रिया मे अभिनिवेश होने पर ही वह काव्य की रचना करता है। ऐसे कवि के लिये अभिनिवेश का समय ही उसके लिये काव्य-रचना का समय है।

(३) दत्तावसर—इस श्रेणी मे उन कवियों की गणना है जो नौकरी-चाकरी के द्वारा अपनी जीविका के साथ ही साथ कविता का अभ्यास करते हैं। उनके जीविकोपार्जन से काव्य-रचना का कोई संघर्ष नहीं होता। ऐसे कवि के लिये काव्य-रचना का समय परिमित ही होता है। ब्राह्ममुहूर्त ऐसे कवि के लिये काव्यरचना की सिद्धि का बड़ा ही उपयुक्त समय है। प्रतिभा की स्फूर्ति होने के कारण यह अवसर 'सारस्वत' मुहूर्त भी कहा गया है। दूसरा अवसर भोजन के उपरान्त होता है जब भोजन से तृप्त होने पर विक्षेपों तथा बाधाओं को दूरकर चित्त स्वस्थ हो जाता है। पालकी के ऊपर यात्रा करते समय भी काव्य-रचना की जा सकती है क्योंकि इस अवसर पर चित्त के एकाग्र होने का संयोग प्राप्त होता है। ऐसे कवि के लिये काव्यरचना के निमित्त यही अवसर है। इस कवि को दत्तावसर इसीलिये कहते हैं कि यह अवसर या अवकाश मिलने पर ही काव्य की सेवा में प्रवृत्त होता है।

(४) प्रायोजनिक—किसी विशिष्ट प्रयोजन को लक्ष्य कर जो कवि कविता लिखता है वह प्रायोजनिक कहलाता है। जैसे किसी राजा के राज्याभिषेक के अवसर पर अथवा किसी महान् व्यक्ति के आगमन पर या विवाहादिक उत्सव-विशेष पर, या किसी के बिदाई के अवसर पर जो कवि कविता

लिखता है वह प्रयोजन विशेष को लक्ष्य कर काव्य-रचना करने के कारण 'प्रायोजनिक' नाम से पुकारा जाता है।

प्रतिभाजन्य भेद

इसी प्रतिभा-भेद के कारण राजशेखर के अनुसार कवि भी तीन प्रकार के होते हैं।—(१) सारस्वत, (२) आभ्यासिक और (३) औपदेशिक। सारस्वत कवि की सरस्वती पूर्वजन्म के संस्कार से काव्य-कला मे प्रवृत्त होती है। वह स्वतः बुद्धिमान् होता है। उसकी काव्यकला के विकास के लिये अभ्यास की आवश्यकता नहीं पड़ती। अभ्यासिक कवि का मूल रहस्य है—अभ्यास। इसी अभ्यास के बल पर वह काव्य-कर्म में कृतकृत्य होता है। उसकी सरस्वती इसी जन्म के अभ्यास से उद्भासित होती है। इसीलिये उसे 'आहार्य-बुद्धि' कहते हैं। औपदेशिक कवि उपदेश के बल पर ही अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन करता है। वह गुरु के उपदेश के कारण मन्त्र-तन्त्र का अभ्यास करता है और इसी के कारण उसकी काव्य-कर्म मे स्फूर्ति होती है।

इन तीन प्रकार के कवियों मे कौन श्रेष्ठ है और कौन हीन? यह भी विवाद का विषय है। श्यामदेव की सम्मति में इस विभाजन मे पूर्व निर्दिष्ट कवि ही दूसरे से श्रेष्ठ होता है। सारस्वत कवि को वे कवियों में मूर्धन्य मानते हैं क्योंकि वह अपने विषय मे स्वतन्त्र होता है और किसी का अंकुश नहीं मानता। आभ्यासिक कवि की कविता परिमित होती है परन्तु औपदेशिक कवि सबसे हीन श्रेणी का होता है और निरर्गल कविता करता है[1]। परन्तु राजशेखर इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका तो मत यह है कि उत्कर्ष ही श्रेयस्कर होता है और यह तभी संभव है जब अनेक गुणों का समुदाय एकत्र हो। यह दुर्लभ अवश्य है परन्तु असंभव नहीं। बुद्धिमत्ता, काव्य-कर्म में अभ्यास, मन्त्र का अनुष्ठान—ये तीनों गुण जिस व्यक्ति में एकत्र होते हैं वही कविराज की महनीय उपाधि से विभूषित किया जा सकता है। इस विवेचना से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि राजशेखर के अनुसार वही व्यक्ति

१—"तेषां पूर्वः पूर्वः श्रेयान्" इति श्यामदेवः। यतः—

सारस्वतः स्वतन्त्रः स्याद् भवेदाभ्यासिको मितः।
उपदेशकविस्त्वत्र वल्गु फल्गु च जल्पति॥

का० मी०, अ० ४, पृ० १३

सर्वश्रेष्ठ कवि या कविराज हो सकता है जो उपर्युक्त तीनों गुणों से युक्त हो[१]।

मौलिकतामूलक कविभेद

रचना की मौलिकता की दृष्टि से कवियों के चार भेद होते हैं:—

(१) उत्पादक कवि—वह होता है जो अपनी प्रतिभा के बलपर अपने काव्य में नवीन भाव की तथा नूतन अर्थ की रचना करता है। अपने निर्माण के निमित्त वह किसी भी कवि का ऋणी नहीं होता।

(२) परिवर्तक कवि—वह है जो प्राचीन कवि के भाव को फेर-फार कर अपना बना लेता है। अपनी निपुणता के सहारे अपनी रचनाओं मे आवश्यक परिवर्तन कर उसके ऊपर अपने व्यक्तित्व की छाप दे देता है।

(३) आच्छादक कवि—दूसरों की रचना को छिपाकर तत्सदृश अपनी रचना का प्रचार करनेवाला कवि इस नाम से पुकारा जाता है।

(४) संवर्गक कवि—यह कवि दूसरों के माल पर पूरी डकैती करनेवाला होता है। 'संवर्गक' का अर्थ होता है डाकू। अतः दूसरे के काव्य को खुल्लम-खुल्ला अपना कहकर प्रकट करनेवाला ढीठ कवि इस नाम से पुकारा जाता है। मौलिकता की दृष्टि से प्रथम प्रकार का कवि ही श्लाघनीय होता है। अन्य तीनों प्रकार के कवियों मे मौलिकता का टोटा रहता है। संवर्गक कवि तो होता है पूरा डकैत, जो दूसरे की कविता को बलपूर्वक निजी रचना बताकर दूसरे के धन पर गुलछर्रे उड़ाता है और लोक में अपनी काव्यकला की विपुल प्रख्याति का प्रचार करता है। कहना न होगा कि इन चारों मे उत्पादक कवि ही श्लाघनीय होता है, अन्य कवि न तो किसी श्लाघा के पात्र होते हैं, न आदर के भाजन।

इस विषय में पण्डितों में यह श्लोक प्रसिद्ध है—

१—"उत्कर्षः श्रेयान्" इति यायावरीयः। स चानेके गुणसन्निपाते भवति। किञ्च—

बुद्धिमत्त्वं च काव्याङ्गविद्यास्वभ्यासकर्म च।
कवेश्चोपनिषच्छक्तिस्त्रयमेकत्र दुर्लभम्॥

काव्यकाव्याङ्गविद्यासु कृताभ्यासस्य धीमतः।
मन्त्रानुष्ठाननिष्ठस्य नेदिष्ठा कविराजता॥

—वही पृ० १३

कविरनुहरति च्छायामर्थं कुकविः पदादिकं चौरः ।
सर्वप्रबन्धहर्त्रे साहसकर्त्रे नमस्तस्मै ॥

भावार्थ—जो दूसरों के काव्य के छायामात्र का अनुकरण करता है वह होता है 'कवि'। जो अर्थ या भाव का केवल अनुकरण करता है वह होता है 'कुकवि'। जो पद, वाक्य आदि का अनुकरण करता है वह होता है 'चोर', परन्तु जो समस्त प्रबन्ध, पद-वाक्य, अर्थ-भाव सब किसी का हरण कर लेता है, उस साहस करनेवाले डाकू कवि को नमस्कार है।

अर्थापहरणमूलक कवि-भेद

दूसरे के काव्यार्थ का अपहरण करनेवाले कवियों मे भी राजशेखरने पार्थक्य का विवेचन किया है। ये कवि अयस्कान्त या चुम्बक के समान होते हैं जो दूसरों का अर्थ ग्रहण करके भी उसमें अपने गुणों का समावेश कर देते हैं तथा उसमे सर्वथा नवीनता की भ्रान्ति उत्पन्न करने मे कृतकार्य होते हैं। ऐसे कवियों की पाँच कोटियाँ होती हैं—

(१) भ्रामक कवि—पुराने कवियों के द्वारा अदृष्ट भावों का वर्णन कर जो कवि पाठकों मे अपनी मौलिकता का भ्रम उत्पन्न कर देता है वह कहलाता है—भ्रामक कवि।

(२) चुम्बक कवि—जो दूसरे की उक्तियों को स्पर्श करनेवाली उक्तियों में नया रंग भरकर उन्हे चटकीला तथा मनोहारिणी बना डालता है वह कहलाता है—चुम्बक कवि।

(३) कर्षक कवि—जो दूसरे कवियों के शब्दों तथा अर्थों को खींचकर अपनी रचना मे निबद्ध कर देता है उसकी संज्ञा है—कर्षक कवि।

(४) द्रावक कवि—जो दूसरे की उक्तियों का सार लेकर अपने काव्यों में इस प्रकार रख देता है कि उनका प्राचीन रूप जाना नहीं जाता अर्थात् अनजाने ही उसकी उक्तियों में प्राचीन कवियों की उक्तियों का सादृश्य उपलब्ध होता है उसका नाम है—द्रावक कवि।

(५) चिन्तामणि कवि—पूर्वोक्त चारों कवियों को प्राचीन कवियों के भावापहरण करने के कारण 'लौकिक' कहते हैं, परन्तु यह अन्तिम प्रकार 'अलौकिक' कहलाता है। इसका अपर नाम है—अदृष्टचरार्थदर्शी अर्थात् किसी के भी द्वारा नहीं दृष्ट अर्थ का द्रष्टा कवि। राजशेखर का कथन बड़ा ही सारदर्शी है—

चिन्तासमं यस्य रसैकसूति—
रुदेति चित्राकृतिरर्थसार्थः।
अदृष्टपूर्वो निपुणैः पुराणैः
कविः स चिन्तामणिरद्वितीयः ॥
(का० मी०, १२ अ०, पृ० ६५)

जिसके चिन्तन के साथ ही साथ प्रधानतया रस को उत्पन्न करने तथा चित्ररूप वाले ऐसे अर्थों का समुदाय झटिति उत्पन्न हो जाता है जिसके दर्शन का सौभाग्य भी पुराने निपुण कवियों को नहीं होता वह अद्वितीय कवि 'चिन्तामणि' के नाम से विख्यात होता है।

इनमें से प्रथम चारों कवियों के अन्य आठ प्रकार होते हैं जिनका वर्णन अर्थसंवाद के प्रकरण में दिखाया जायगा।

१०—काव्य-संवाद

'संवाद' का अर्थ है अन्य-सादृश्य। भिन्नकर्तृक काव्यों में जो परस्पर सादृश्य दीख पड़ता है वही काव्यसंवाद के नाम से साहित्य ग्रन्थों में उल्लिखित किया गया है। काव्यमूल की समीक्षा करने पर काव्य तीन प्रकार का सिद्ध होता है—

(१) अन्ययोनि (निश्चित रूप से दूसरे कवि के काव्य का आधार मानकर निर्मित रचना);

(२) निह्नुतयोनि (प्राचीन कवि की रचना पर आश्रित होने पर भी इस काव्य का मूल एकदम छिपा रहा है),

(३) अयोनि (मौलिक रचना—कवि की प्रतिभा के बल पर निर्मित नूतन काव्य)।

इन तीनों प्रकार के काव्य में प्रथम दो भेद के दो-दो अवान्तर भेद भी स्वीकृत किए गए हैं। और इन अवान्तर भेदों के भी आठ अन्य प्रकार माने गए हैं। इस प्रकार की समीक्षा से काव्य के ३२ भेद सिद्ध होते हैं।

(क) अन्ययोनि

अन्ययोनि काव्य के दो भेद होते हैं:—

(१) प्रतिबिम्बकल्प तथा (२) आलेख्यप्रख्य।

(क) प्रतिबिम्बकल्प अर्थात् प्राचीन काव्य के सामने रखने पर नवीन काव्य उसका केवल प्रतिबिम्ब प्रतीत होता है—हूबहू एक समान, बिना किसी अन्तर तथा पार्थक्य के। आनन्दवर्धन ऐसे काव्य को 'अनन्यात्म' तथा 'तात्त्विक-शरीर-शून्य' मानते हैं। जो काव्य प्राचीन काव्य के समग्र अर्थ को ग्रहण कर रचित है वह सचमुच तात्त्विक शरीर से शून्य रहता है। राजशेखर की दृष्टि मे भी काव्यहरण का यह प्रकार अग्राह्य होता है—

> अर्थः स एव सर्वो वाक्यान्तरविरचनापरं यत्र।
> तदपरमार्थविभेदं काव्यं प्रतिबिम्बकल्पं स्यात्[१]॥

दोनों काव्यों मे शाब्दिक कथन का ही अन्तर होता है। अर्थ तो एकदम हूबहू वही होता है। अतः दोनों काव्यों मे परमार्थतः कोई भेद रहता ही नही। इसीलिए ऐसा अर्थहरण सर्वथा निन्दनीय तथा नितान्त अग्राह्य श्रेणी में आता है।

(ख) आलेख्यप्रख्य—(चित्र के समान)। नवीन काव्य प्राचीन काव्य का अनुकरण होने पर भी नूतन संस्कार के द्वारा परिष्कृत किए जाने के कारण चित्र के समान प्रतीत होता है। आनन्दवर्धन की दृष्टि में यह काव्य 'तुच्छात्म' है अर्थात् पृथक् शरीर होने पर भी वह शोभन नहीं है। अतः वे इसे सर्वथा अग्राह्य मानते हैं, परन्तु राजशेखर इसके ग्रहण के पक्ष मे हैं। उनका कहना है कि अनेक सामग्री से संस्कार युक्त होने से यह काव्य चित्र के समान चटकीला दीखने लगता है और प्राचीन काव्य से भिन्न न होने पर भिन्नवत् प्रतीत होता है। 'चित्रतुरगन्याय' के अनुसार यह काव्य चमत्कृत, पृथक्-शरीर-सम्पन्न तथा सर्वथा उपादेय होता है—

> कियतापि यत्र संस्कारकर्मणा वस्तु भिन्नवद् भाति।
> तत् कथितमर्थचतुरैरालेख्यप्रख्यमिति काव्यम्॥

भगवान् शंकर के कण्ठदेश मे भौरों के समान काले काले सॉंप विराजमान हैं। प्रतीत होता है कि चन्द्रमा की सुधा से सिक्त होने पर कालकूट के अंकुर निकल आये हैं। इस अर्थ को द्योतित करना यह प्राचीन पद्य है—

१—काव्यमीमांसा, अ० १२, पृ० ६३

ते पान्तु वः पशुपतेरलिनीलभासः
कण्ठप्रदेशघटिताः फणिनः स्फुरन्तः ।
चन्द्रामृताम्बुकणसेकसुखप्ररूढै-
र्यैरङ्कुरैरिव विराजति कालकूटः ।

इस अर्थ को प्रकट करने वाला नूतन पद्य है जिसमें केवल शाब्दिक पार्थक्य है, आर्थिक ऐक्य बिल्कुल वही है—

जयन्ति नीलकण्ठस्य नीलाः कण्ठे महाहयः ।
गलद्गङ्गाम्बुसंसिक्तकालकूटाङ्कुरा इव ॥

यह अर्थसंवाद प्रतिबिम्बकल्प कहलाता है। नवीन संस्कार करने पर यह श्लोक इस रूप में दृष्टिगोचर होता है—

जयन्ति धवलव्यालाः शम्भोर्जूटावलम्बिनः ।
गलद् गङ्गाम्बुसंसिक्तचन्द्रकन्दाङ्कुरा इव ॥

पूर्वपद्य में काले सर्पों की कल्पना कालकूट के अंकुर से की गई है। इस नवीन श्लोक मे सफेद सार्पों की तुलना गंगा जल से सिक्त चन्द्रमा के अंकुरों से की गई है। अतः श्याम सर्पों के स्थान पर धवल सर्पों का निवेश तथा तदनुसार कालकूट के अंकुर की जगह चन्द्रमा के अंकुर की नवीन कल्पना की गई है। इसी संस्कार के कारण यह पद्य 'आलेख्यप्रख्य' का सुन्दर उदाहरण है।

इन दोनों में प्रतिबिम्बकल्प के ८ प्रकार होते हैं—

(१) व्यस्तक—जहाँ पूर्व श्लोक के पूर्वा पर का परिवर्तन कर दिया जाता है वह 'व्यस्तक' कहलाता है।

(२) खण्ड—विस्तृत अर्थ का जहाँ एक अंश ही गृहीत किया जाय वह 'खण्ड' कहलाता है।

(३) तैलबिन्दु—संक्षिप्त मूल अर्थ का जहाँ विस्तार किया जाता है वह 'तैलबिन्दु' कहलाता है।

(४) नटनेपथ्य—जहाँ प्राचीन उक्ति की भाषा परिवर्तित कर दी जाय, संस्कृत से प्राकृत मे अथवा प्राकृत से सस्कृत मे उसी अर्थ के परिवर्तन होने पर यह भेद सम्पन्न होता है।

(५) छन्दोविनिमय—उक्ति-परिवर्तन छन्दों के पार्थक्य के कारण जहाँ सिद्ध होता है वह 'छन्दोविनिमय' कहलाता है।

(६) **हेतुव्यत्यय**—मूल अर्थ का कारण बदल कर नये कारण की कल्पना कर जो उक्ति लिखी जाती है वह कहलाती है 'हेतुव्यत्यय'।

(७) **सङ्क्रान्तक**—एक पदार्थ मे देखे गए धर्मों का दूसरे पदार्थों मे जहाँ संक्रमण किया जाय वह कहलाता है 'संक्रान्तक'।

(८) **सम्पुट**—दो पद्यों का अर्थ जहाँ मिश्रित कर एक ही पद्य का निर्माण किया जाय, वह 'सम्पुट' माना जाता है।

'आलेख्यप्रख्य' के भी इसी प्रकार ८ भेद होते हैं :—

(१) **समक्रम**—प्राचीन उक्ति के समान रचना करना।

(२) **विभूषणमोष**—प्राचीन उक्ति मे जो अलंकार समाविष्ट किए गए हों उसे अलंकार से रहित बनाकर कहना।

(३) **व्युत्क्रम**—प्राचीन उक्ति में बातें जिस क्रम से कही हैं उनको क्रम बदल कर कहना।

(४) **विशेषोक्ति**—प्राचीन उक्ति में जो बात सामान्य रूप से कही गई हो उसे विशेष रूप मे कहना।

(५) **उत्तंस**—जो बात गौण भाव से कही गई हो उसे प्रधान भाव से कहना।

(६) **नटनेपथ्य**—प्राचीन बात को थोड़ा बदलकर कहना।

(७) **एकपरिकार्य**—जो कारण-सामग्री प्राचीन उक्ति मे कही गई हो वही सामग्री किसी भिन्न कार्य के विषय में कहना।

(८) **प्रत्यापत्ति**—जो बात विकृत रूप से कही गई हो उसे प्रकृति रूपसे कहना।

यह मार्ग कवियों के लिए अनुग्राह्य तथा उपादेय है, क्योंकि अर्थ की समता होने पर भी उक्ति मे सर्वत्र वैचित्र्य का संचार विद्यमान रहता है।

(ख) निह्नुतयोनि

इस प्रकार के दो भेद हैं—

(१) **तुल्यदेहितुल्य** तथा (२) **परपुरप्रवेश**।

(१) **तुल्यदेहितुल्य**—वह प्रकार है जिसमें शरीर की पृथकता होने पर भी दोनों उक्तियों की आत्मा एक समान ही रहती है। आनन्दवर्धन इसे 'प्रसिद्धात्म' कहते हैं और इसके सर्वथा ग्रहण के पक्षपाती हैं। जैसे कामिनी का मुख चन्द्रमा की समता रखने पर भी नवीन तथा चमत्कारयुक्त प्रतीत

होता है उसी प्रकार प्राचीन पद्य की छाया रखने पर भी नवीन तत्त्व के प्रतिपादन के कारण उक्ति श्लाघनीय मानी जाती है:—

तत्त्वस्यान्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥

(ध्वन्या० ४।१४)

राजशेखर भी इसी मत के समर्थक हैं[1]।

(२) परपुरप्रवेश—वह अर्थहरण का प्रकार है जिसमें दोनों व्यक्तियों में मूल तत्त्व तो एक ही है, परन्तु सजावट की भिन्नता है, भिन्न भिन्न अंग-प्रत्यगों के द्वारा वस्तु का उपन्यास पृथक् रूप से किया गया है—

मूलैक्यं यत्र भवेत् परिकरबन्धस्तु दूरतोऽनेकः।
तत् पुरप्रवेशप्रतिमं काव्यं सुकविभाव्यम् ।।

इस नवीन भेद का वर्णन राजशेखर ने ही किया है, आनन्द वर्धन इस प्रभेद से परिचित नहीं हैं।

तुल्यदेहितुल्य के आठ अवान्तर भेद माने गए हैं—

(१) विषयपरिवर्तन—पहले कहे गए विषय मे विषयान्तर मिलाकर उसका स्वरूपान्तर कर देना।

(२) द्वन्द्वविच्छित्ति—जिस पदार्थ का वर्णन प्राचीन उक्ति में दो प्रकार से किया गया हो, उसके केवल एक रूपका ग्रहण करना।

(३) रत्नमाला—पूर्व अर्थों का अर्थान्तरों के द्वारा परिवर्तन।

(४) संख्योल्लेख—पूर्व उक्ति में उल्लिखित संख्या को बदल देना।

(५) चूलिका—पहिले जो सम कहा गया हो उसे विषम कहना अथवा पहिले जो विषम कहा गया हो उसे सम कहना।

(६) विधानापहार—निषेध को विधि रूप से कहना।

(७) माणिक्यपुञ्ज—बहुत अर्थों का एकत्र उपसंहार।

(८) कन्द—कन्द को कन्दल रूपों में परिवर्तन अर्थात् समष्टि रूप से निर्दिष्ट अर्थ का व्यष्टि रूप से वर्णन करना।

१—विषयस्य यत्र भेदेऽप्यभेदबुद्धिर्नितान्तसादृश्यात्।
तत् तुल्यदेहितुल्यं काव्यं बध्नन्ति सुधियोऽपि ॥

—का० मी०, पृ० ६३

परपुर-प्रवेश के भी आठ भेद होते हैं:—

(१) हुडयुद्ध—एक प्रकार से निबद्ध वस्तु को युक्ति पूर्वक बदल देना। कुमार सम्भव मे हिमालय का वर्णन करते हुए कालिदास की उक्ति—

अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य, हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम्।
एकोहि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥

हिमालय अनन्त रत्नों के उद्गम का स्थान है। इसलिये हिमरूप दोष के होते हुए भी उसके सौभाग्य का नाश नहीं हुआ। जिस प्रकार किरणों मे चन्द्रमा की कालिमा डूब जाती है उसी प्रकार गुणों के समुदाय में एक दोष दब जाता है।

अब इसी सिद्धान्त के विपरीत प्रदर्शन के निमित्त नवीन युक्ति का उपन्यास देखिए। कविका कहना है कि जो व्यक्ति गुण समुदाय मे एक दोष के छिप जाने की बात कहता है वह नहीं जानता कि एक ही दारिद्र्य-रूपी दोष हजारों गुणों को नष्ट कर देता है। युक्ति की नूतना देखिए—

एकोऽपि दोषो गुणसन्निपाते, निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे।
तेनेव नूनं कविता न दृष्टं, दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी॥

(२) **प्रतिकञ्चुक**—एक प्रकार से वस्तु को अन्य प्रकार की वर्णन करना।

(३) **वस्तुसञ्चार**—एक उपमान को दूसरे उपमान मे बदल देना।
(४) **जातुवाद**—शब्दालंकार को अर्थालंकार के रूप मे बदल देना।
(५) **सत्कार**—किसी वस्तु का उत्कर्ष के साथ परिवर्तन कर देना।
(६) **जीवञ्जीवक**—पहले जो सदृश था उसे असदृश कर देना।
(७) **भावमुद्रा**—प्राचीन उक्ति का आशय लेकर प्रबन्ध की रचना।
(८) **तद्विरोधी**—प्राचीन उक्ति के विरुद्ध नवीन उक्ति का निर्माण।

महाकवि क्षेमेन्द्र ने 'कविकण्ठाभरण' मे कवि प्रकारों का निदर्शन करते हुए काव्य-संवाद की भी बात लिखी है। उनकी दृष्टि में कवियों की ६ श्रेणियाँ होती हैं—

छायोपजीवी पदकोपजीवी पादोपजीवी सकलोपजीवी।
भवेदथ प्राप्तकवित्वजीवी स्वोन्मेषतो वा भुवनोपजीव्यः॥

अर्थात् (१) दूसरे की काव्य की केवल छाया लेकर कविता करनेवाला, (२) एक आध पद लेकर, (३) श्लोक का एक पाद लेकर, (४) समग्र श्लोक

को लेकर, (५) कवि-शिक्षा प्राप्त कर कविता करनेवाला, (६) अपनी स्वाभाविक प्रतिभा के बल पर काव्यनिर्माण करनेवाला। इनमे से प्रथम चार प्रकार के कवियों का काव्य 'काव्यसवाद' के भीतर आता है। इस विषय का सामान्य निर्देश वामन तथा आनन्दवर्धन (ध्वन्यालोक का चतुर्थ उद्योत ने) प्रथमतः किया था, परन्तु इसका विस्तृत तथा विशिष्ट अनुशीलन राजशेखर की काव्य-मीमासा मे उपलब्ध होता है (अध्याय ११ तथा १२)। राजशेखर के विवरण का सामान्य रूप ऊपर प्रदर्शित किया गया है। इस रोचक विषय की समीक्षा हमारे आलोचकों की अन्तर्दृष्टि की पर्याप्त परिचायिका है।

पश्चिमी साहित्य के आलोचकों ने भी इस 'अर्थापहरण' पर यत्र-तत्र विचार किया है। इसे वे 'प्लेजिअरीजम' के नाम से पुकारते हैं। परन्तु उनका विवरण प्रायः साधारण रूप का ही परिचायक है। भारतीय आलोचकों की दृष्टि इस विषय मे काफी पैनी है। उन लोगों ने इसका अध्ययन गम्भीरता के साथ किया है तथा विषय का विशेष विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया है। मौलिक गवेषणा तथा प्रतिभा का भी विलास इसमे पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। ऊपर के वर्णन से यह नितान्त स्पष्ट है।

तुलसीदास और जयदेव

अँगरेजी में कहावत है कि 'पोयट्स आर बार्न, नाट मेड' कवि पैदा होता है, बनाया नहीं जाता। समग्र प्रतिभाशाली कवियों का इतिहास इस सिद्धात की यथेष्ट पुष्टि करता है। कविता प्रतिभा की सुदृढ़ भित्ति पर ही अच्छी तरह खड़ी हो सकती है। जिस कवि मे इस प्रतिभा का—नवोन्मेषिणी प्रज्ञा का—अभाव है, जो कवि अपनी स्वाभाविक कल्पना के पंखों पर उड़कर स्वर्गीय भाव-सुधा को मर्त्यलोक मे लाना नही जानता, भला उसकी कविता-कामिनी के हाव भाव सहृदयों के रसीले हृदय को कभी खींच सकते हैं? उसके मधुर शब्दविन्यास कभी कर्णपुटों में सुधा की वर्षा कर सकते हैं? उसके मनोरम भाव क्या कभी रसिकजनों के चित्त मे चुभ सकते हैं? क्या उसके ललित अलंकारों की छटा कभी इन प्यासे नयनों को तृप्त कर सकती है? कदापि नहीं। रस से सरसाती, चित्त में घाव करनेवाली कविता के लिये प्रतिभा की परमावश्यकता है। संस्कृत साहित्य के आलंकारिक-शिरोमणि मम्मटाचार्य ने भी कविता के त्रिविध साधन बतलाते समय 'प्रतिभा' को ही सबसे पहला स्थान दिया है। इस प्रतिभा का विकास कवि के हृदय मे जन्म

से ही होता है—पूर्वकालीन संस्कार के बल से इस प्रतिभा की निर्मल धारा कवि के हृदय में प्रबल वेग से बहने लगती है। वाल्मीकि की जिह्वा से अकस्मात् ही कविता का प्रवाह निकलने लगा था। अंधे होमर को किसी विश्वविद्यालय की डिग्री नहीं मिली थी। उसकी क्रमबद्ध शिक्षा के विषय मे भी ग्रीक इतिहास मौनव्रत अवलंबन किए हुए है। वह अपनी प्रतिभा के अनुपम विमान पर चढ़कर ही सैकड़ों वर्ष पूर्व घटित होनेवाले ट्रोजन संग्राम की छोटी से छोटी घटनाओं को देखता था और अपने अमर महाकाव्य 'ईलियड' मे वर्णन करता था। महाकवि शेक्सपियर की वह अनुपम नाट्य-कला तथा अनमोल कविता उसकी प्रतिभा के बल से ही प्रसूत हुई थी। अतएव यदि आलोचकगण सच्चे कवि को खरादा गया न समझ कर जन्म से ही चमकने-वाला, अँधेरे को उजेला बनानेवाला हीरा समझे तो वह सिद्धान्त सत्यता से बहुत दूर न होगा।

काव्य सामग्री

उक्त सिद्धान्त की सत्यता को मानते हुए भी हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि कविगत प्रतिभा के अंकुर को उपजाने के लिये, उसे हरा-भरा बनाकर पल्लवित करने के लिये अनेक साधन-रूपी खाद की आवश्यकता होती है। इन सामग्री के बिना हृदय मे छिपी हुई शक्ति का—सर्वतोगामिनी प्रचंड प्रतिभा का—सम्यक् विकास वास्तव मे जैसा होना चाहिए, वैसा नहीं होता। यह सामग्री उसके उद्बोधन में, उसे जनता के नेत्रों के सामने प्रगट होने में अनेक सहायता प्रदान करती है। इस सामग्री को हम 'निपुणता' तथा 'अभ्यास' के नाम से पुकारना यथोचित समझते हैं। संसार के विभिन्न कार्यों का अवलोकन कर उसका समुचित अनुभव प्राप्त करना तथा प्रकृति देवी के मनोरम मंदिर को देख उसके वास्तविक रहस्यों के विषय मे ज्ञान प्राप्त करना 'निपुणता' के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है। देश और काल का असीम प्रभाव कवि के हृदय पर बिना हुए रह ही नहीं सकता। सांसारिक अनुभव से कवि की प्रतिभा और भी प्रौढ बनती है। जिस काल मे कवि का जन्म हुआ है, उस समय की विशिष्ट विचार-लहरी का छींटा उसकी कविता पर पड़े बिना नहीं रह सकता। उस समय की भावनाओं की तरंग उसके काव्य में जरूर दिखाई देगी। उसी भाँति देश का प्रभाव भी कविता के मनोहर वेश में बहुत कुछ वैचित्र्य पैदा कर सकता है। इन साधनों के समान ही प्राचीन कविता का अध्ययन तथा मनन भी कवि

को सुचारू-रूप में गढ़नेवाले पदार्थों मे उन्नत स्थान रखता है। नवीन कविता करने का अभ्यास तथा प्राचीन काव्य का आलोचनात्मक अध्ययन काव्य-साधनों मे एक विशिष्ट साधन है। प्रत्येक देश के कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के भाव अपनाने मे तनिक भी नही हिचकते, क्योंकि वे तो उनके अध्ययन के प्रधान अंग हैं। इन साधनों की सहायता से कवि की ईश्वरदत्त प्रतिभा का उद्बोधन हो सकता है तथा कतिपय अंशों मे नवीन प्रतिभा का जन्म भी हो सकता है। अनेक ऐसे कविवर हो गए हैं जिनमे स्वाभाविक प्रतिभा की न्यूनता की पूर्ति बहिर्जगत् के अनुभव से यथेष्ट की गई है। ऐसे बहुत से कवि मिलेंगे जिन्होंने इन्हीं साधनों के सहारे अत्युत्तम कविता की है। अतएव वास्तविक कवि वही है जिसमे प्रतिभा के बीज जन्म से ही निहित हों। तथापि यह मानना ही पडेगा कि उपर्युक्त साधनों के द्वारा कवि बनाया भी जा सकता है—उसे देश तथा कालरूपी साँचे मे ढाला भी जा सकता है।

भावसादृश्य

यही कारण है कि कवियों मे भाव-सादृश्य दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं तो दो भिन्न-देशीय कवियों के एक ही विषय पर मजमून बलात्कार लड़ जाते हैं। कवि-प्रतिभा की गति प्रायः संसार मे एक ही समान रहती है। इस प्रतिभा के बल पर जब एक ही विषय पर कविता लिखी जा रही हो, तब विचारों का लड़ जाना कोई असम्भव व्यापार नहीं। परन्तु कही-कहीं कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों के अनूठे भावों को—अनुपम सूझ को—जान बूझकर अपनाता है। जो भाव अनोखे होते हैं, जिनमें अलौकिकता की अधिक मात्रा रहती है, वे अध्ययनशाली कवि के स्वच्छ हृदय पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकते। ऐसे भाव उसके हृदय पर अपनी छाप बैठा देते हैं, वे कवि की निज की कमाई सम्पत्ति हो जाते हैं। अतएव जहाँ समुचित अवसर मिलता है, वहाँ कवि उन भावों को प्रकट किए बिना आगे नहीं बढ़ सकता। उन भावों के परकीय होने का विचार उसके हृदय से सदा के लिए पृथक् हो जाता है। कविता लिखते समय वे भाव स्वतः ही, बिना किसी ज्ञात परिश्रम के, उसके नेत्रों के सामने फिरने लगते हैं। कवि उन्हीं स्वर्गीय सूक्ष्म भावों का सुन्दर चित्र अपने शब्दों से सर्वसाधारण के सामने खींचता है। यह भावों का अपनाना 'अर्थापहरण' नामक दोष से सर्वथा मुक्त है। यदि कवि किसी दूसरे कवि के भाव को लेकर उसकी रमणीयता की रक्षा न कर

सके, उसके अनूठेपन को बनाए न रखे, तो वह वास्तव में 'कविर्वान्तं समश्नुते' का लक्ष्य बनाया जा सकता है परन्तु यदि वह उन भाव चित्रों के गाढ़े रंग मे कुछ भी कमी नहीं होने देता, यदि कवि के शब्दों में उतरकर वे भाव अपनी सरसता तथा अलौकिकता को नही खो बैठते, तो वह कवि वास्तव में सच्चे कवि का उच्च पद पाने का प्रधान अधिकारी है।

वही कवि सच्चा कवि है जो प्राचीन भावों पर भी अपनी अनुपम छाप डाल दे, अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा के बल से उनमे नई रंगत पैदा कर दे और उनमें कुछ दूसरा ही अनोखापन ला दे। आलोचकगण इसका ही 'मौलिकता' के नाम से सादर स्वागत करते हैं। कौन ऐसा भाव है जिसे प्राचीन कवियों ने नहीं अपनाया है? तथापि उन्हीं भावों को अपने साँचे मे ढाल, अपनी प्रतिभा की विमल छाप लगा, उनमे नई चमक पैदा करना ही तो मौलिकता है। संस्कृत साहित्य के प्रधान आलोचक आनन्दवर्धनाचार्य ने कवि की उपमा सरस वसन्त से दी है। वही रूखे-सूखे पेड़ हैं, वही पत्रों से रहित शाखाएँ हैं, वही फलों से विहीन टहनियाँ हैं, सब कुछ पुराना है, परन्तु वसन्त के आगमन से प्रकृति मे नवीन परिवर्तन उपस्थित हो जाता है। वृक्षों मे नूतन, रक्तवर्ण के पल्लव हमारे प्यासे नेत्रों को तृप्त करते हैं, शाखाएँ हरी-भरी सी दिखाई देती हैं, मंजरी का सौरभ अलिगण के रसिक मन को अपनी ओर बलात् खींच लेता है। यह नूतन चमत्कार किसने पैदा किया? सरस वसन्त ने। उसी भाँति कवि भी पुराने भावों मे नवीनता उपस्थित कर उन्हें चोटीले बना देता है। कहीं शब्द बदल देता है तो कहीं नवीन अर्थ का पुट दे देता है। बस भावचित्र में अनोखापन आ जाता है। अब भाव दूसरे से उधार ली हुई सम्पत्ति नहीं रह जाता, बल्कि अपना कमाया हुआ निज का धन हो जाता है।

> दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात्।
> सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः॥

कविकुल-शेखर राजशेखर ने आनदवर्धनाचार्य की ही उदार सम्मति को अपने शब्दों में दुहराया है:—

> शब्दार्थोक्तिषु यः पश्येदिह किञ्चन नूतनम्।
> उल्लिखेत् किञ्चन प्राच्यं मन्यतां स महाकविः॥

समग्र संस्कृत साहित्य हिन्दी कवियों के लिये पैतृक सम्पत्ति है। उन्हें उसका पूर्ण रूप से अपनी कविता मे उपयोग करने का अधिकार है। यही कारण है कि अनेक हिन्दी कवियों पर प्राचीन संस्कृत कवियों की छाया स्पष्टतः झलकती है परंतु हिंदी के महा-कवियों ने भावों को लेकर भी

उन्हें अत्यत रमणीय बना डाला है, जिससे वे भाव मौलिक से जान पडते हैं। कविता-कामिनी-कात तुलसीदास ने भी अनेक प्राचीन संस्कृत कवियों के भावों को अपनाकर अपने 'रामचरित मानस' को सुशोभित किया है। रामायण की भूमिका में महात्मा तुलसीदास ने स्पष्ट शब्दों मे स्वीकार किया है कि इस ग्रंथ मे वर्णित सिद्धान्त अनेक आगम, निगम, पुराण ग्रंथों से लिए गए हैं।

नाना पुराणनिगमागमसम्मतं यद्-
रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
स्वांतः सुखाय तुलसीरघुनाथगाथा-
भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति॥

तुलसीदास ने अनेक विमल दार्शनिक गीतादि धर्म-ग्रंथों से, राम का अधिकाश आख्यान अध्यात्म रामायण से तथा अनेक कथोपकथन हनुमन्नाटक से लिए हैं, यह बात तो सर्वप्रसिद्ध ही है; परंतु रामायणीय कथा-विषयक एक और अनुपम ग्रन्थ है जिसकी छाया रामायण के अधिकाश अनूठे भावो पर पड़ी है। यह ग्रंथ जयदेव प्रणीत 'प्रसन्नराघव' नामक संस्कृत नाटक है।

प्रसन्नराघव का रचना-काल

'प्रसन्नराघव' नाटक में जैसा कि इसका सार्थक नाम प्रकट कर रहा है, रामचन्द्र के जीवन-वृत्तात का अभिनयात्मक वर्णन है। नाटक में जितने आवश्यक गुण होने चाहिएँ, उनमे से अनेक गुणों की न्यूनता यद्यपि इस नाटक के पढनेवालों को खटकेगी, तथापि कविता की दृष्टि से, प्रसन्न-कारिणी शक्तियों की दृष्टि से, यह नाटक अधिक मूल्य रखता है। इस नाटक के कर्ता का नाम 'जयदेव' है। यह कविवर अमर गीती-काव्य गीतगोविन्द के कर्ता जयदेव से सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं। गीतगोविन्द के रचयिता के पिता का नाम भोजदेव तथा माता का रमादेवी था; परन्तु प्रसन्नराघव के कर्ता के पितृदेव का नाम महादेव तथा माता का सुमित्रादेवी था। इनका गोत्रकौंडिन्य था। प्रसन्नराघव की रचना रामचरितमानस से करीब डेढ सौ वर्ष पहले हो चुकी थी। साहित्यदर्पण के कर्ता विश्वनाथ कविराज ने ध्वनि-काव्य के उदाहरण में 'कदली कदली करभः करभः' वाला प्रसन्नराघव का पद्य उद्धृत किया है जिससे निश्चित है कि जयदेव अवश्य विश्वनाथ (चौदहवीं सदी का उत्तरार्द्ध) से प्राचीन थे। चन्द्रालोक में जयदेव ने मम्मटाचार्य के काव्य-लक्षण की हँसी उडाई है जिससे इनका समय मम्मटाचार्य (भोजन के समकालीन, १२ वीं

सदी) से पीछे तथा विश्वनाथ के पहले ठहरता है। अर्थात् यदि हम इन्हें तेरहवीं सदी का कवि कहें तो अनुचित न होगा। अतएव जयदेव ने इन समान भावों को रामचरित मानस से नहीं लिया; क्योंकि वे तो तुलसीदास से सैकड़ों वर्ष पहले हो चुके थे। भाव-समानता से यही सिद्धात निकलता है कि तुलसीदास ने ही जयदेव के अनूठे भावों को अपनाकर अपने 'मानस' को सुन्दर बनाया है।

विम्ब प्रति-विम्ब भाव

जयदेव ने नाटक की 'बालकाण्ड' वाली प्रस्तावना में रामचन्द्र के आदर्श-चरित्र की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। वास्तव में मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र समग्र विश्व के लिए अनुकरण की सामग्री है। आदर्श पितृभक्ति, पुत्र-स्नेह, भ्रातृ-प्रेम तथा पत्नी-प्रेम का अनुपम सम्मेलन जैसा यहाँ दिखायी देता है, वैसा संसार के किसी ऐतिहासिक व्यक्ति के जीवन मे नहीं मिलता। अतएव जयदेव की राम विषयक प्रशंसा वास्तव मे सत्य है। वे कहते हैं कि ज्योंही कोई मनुष्य अपने अन्तर्गत भावों को प्रकट करना चाहता है, त्योंही भगवती सरस्वती उसकी जिह्वा पर आ बैठती हैं—अपने पतिदेव की क्रीड़ा-भूमि को भी छोडकर करोड़ों कोसों से दौड़ती हुई आकर उसकी जीभ पर विराजमान हो जाती हैं। इस सुदूर मार्ग को पार करने का परिश्रम किसी तरह भी कम नहीं होता। इसके लिए केवल एक ही सुगम उपाय है। और वह है रामचन्द्र के गुणगरिमापूर्ण चरित्र का कीर्तन। रामचन्द्र के गुणानुवाद-रूपी सुधामयी वापी मे यदि वह गोता न मारे, तो उनका परिश्रम किसी भाँति दूर नहीं हो सकता। धन्य है राम के गुणों का कीर्तन जो भारती को भी सुख देने में समर्थ है।

> **झटिति जगतीमागच्छन्त्या पितामहविष्टपात्**
> **महति पथि यो देव्या वाचः श्रमः समजायत।**
> **अपि कथमसौ मुञ्चेदेनं न चेदवगाहते**
> **रघुपतिगुणग्रामश्लाघा सुधामय-दीर्घिकाम्॥**

(प्रसन्नराघव पृष्ठ ५)

तुलसीदास जी ने भी अपने आराध्य देव राम के गाथा-कीर्तन के विषय में अनेक प्रशंसाएँ बालकाण्ड में की हैं। वे भी यही कहते हैं—